Vaishali Institute Research Bulletin No. 8

347

PROCEEDINGS AND PAPERS OF THE NATIONAL SEMINAR ON JAINOLOGY

(6th and 7th November 1992)

Convener and Editor

DR. YUGAL KISHOR MISHRA

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

VAISHALI INSTITUTE RESEARCH

BULLETIN NO. 8

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Prakrit Jain Institute Series No. 35

VAISHALI INSTITUTE RESEARCH BULLETIN NO. 8

THE NATIONAL SEMINAR ON JAINOLOGY

(6th and 7th November 1992)

PROCEEDINGS AND PAPERS

Convener and Editor

DR. YUGAL KISHOR MISHRA

Director, Research institute of Prakrit, Jainology & Ahimsa

RESEARCH INSTITUTE OF PRAKRIT, JAINOLOGY & AHIMSA

VAISHALI

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राकृत जैन इंस्टीट्यूट सिरीज नं. ३५

वैशाली इंस्टीट्यूट रिसर्च बुलेटिन नं. ८

राष्ट्रीय जैनशास्त्र-संगोष्ठी

[*दि. ६ और ७ नवम्बर, १९९२ ई.*]

कार्यवाही और शोध-पत्र

संयोजक एवं सम्पादक

डॉ. युगल किशोर मिश्र

निदेशक, प्राकृत, जैनशास्त्र और अहिंसा शोध-संस्थान, वैशाली

प्राकृत, जैनशास्त्र और अहिंसा शोध-संस्थान
वैशाली

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

© Research Institute of Prakrit, Jainology & Ahimsa, Vaishali.

जं इच्छसि अप्पणतो, जं च ण इच्छसि अप्पणतो।
तं इच्छ परस्स वि या, एत्तियणं जिणसासणं।

जो तुम अपने लिए चाहते हो वही दूसरों के लिए
भी चाहो तथा जो तुम अपने लिए नहीं चाहते
वह दूसरों के लिए भी न चाहो। यही जिन
शासन है— तीर्थंकर का उपदेश है।

Price : **Rs. 105=00**

Published on behalf of the Research Institute of Prakrit, Jainology Ahimsa, Vaishali by Dr. Yugal Kishore Mishra, Director.

Printed in India at the Tara Printing Works, Varanasi

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

The Government of Bihar established the Research Institute of Prakrit, Jainology and Ahimsa at Vaishali in 1955 with the object interalia, to promote advanced studies and research in Prakrit and Jainlogy and to publish works of permanent value to scholars. This Institute is one of the six Research Institutes being run by the Government of Bihar. The five others are : (i) Mithila Institute of Post-Graduate Studies and Research in Sanskrit Learning at Darbhanga; (ii) Kashi Prasad Jayaswal Research Institute for Research in Ancient, Medieval and Modern Indian History at Patna; (iii) Bihar Rastrabhasha Parishad for Research and Advanced Studies in Hindi at Panta; (iv) Nava Nalanda Mahavihar for Research and Post Graduate Studies in Buddhist Learning and Pali at Nalanda and (v) Institute of Post-Graduate Studies and Research in Arabic and Persian Learning at Patna.

As part of this programme of rehabilitating and reorientating ancient learning and scholarship this is the Research Bulletin No. 8 incorporating the Proceedings of the two-day National Seminar on Jainology held at the Institute which contains papers read at the Seminar. The Govt. of Bihar hope to continue to sponsor such projects and trust that this humble service to the world of scholarship and learning would bear fruit in the fulness of time.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Foreword

The Research Institute of Prakrit, Jainology and Ahimsa was established by the Government of Bihar as early as 1955 with a view to revive and promote advanced research and studies in Prakrit and Jainology. The establishment of such an Institute of traditional learning in the remotest country-site was, however, also prompted by the pious wish of the sponsors to bring about a cultural renaissance for the masses inhabiting villages. As such, one of the significant objectives of this Institute was fixed to arrange seminars, conferences and discourses by inviting eminent scholars who could throw light on the different aspects of Jainology both in their academic as well as popular bearings and help in disseminating the message regulating of high ideals of life and humanism to all including the unlettered common village folk. In persuit of this objective, the Institute has been organizing annual seminars almost every year. It is gratifying to note that a national seminar on Jainology was held under the auspices of the Institute after a quite long time in November last in which a good number of eminent scholars in the field like Dr. Nathmal Tatia, Dr. Sagarmal Jain, Dr. Basant Kumar Lal, Dr. Ramjee Singh, Dr. Sriranjan Surideo, Dr. Gadadhar Singh and a host of others participated and presented their learned papers on different aspects of Jainology. The key-note address given by Professor Basant Kumar Lal, Emeritus Professor of Philosophy on the 'Contemporary Relevance of Jain Principles' set the main tone of the discussions at the Seminar. The deliberations at the different sessions besides stimulating great interest in the academic world, succeeded in tracing the course of the great teachings of Lord Mahavira and offered useful message to the common man to foster social and communal unity, brotherhood and goodwill among them. Organization of such academic and cultural activities by the Institute would certainly go a long way in fulfilling the vision of the sponsors of the Institute of making it a link between the highest scholarship and life as lived by the common man in the remote villages in India.

The Institute's decision to publish the Proceedings of the two-day National Seminar held on 6th and 7th November, 1992 and to present the multi-faceted research articles of the seminar throwing light on new vistas

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

of Jain Philosophy, Religion, Archaeology, Language and Literature is commendable.

It is hoped that this treatise would prove of much benefit to the research scholars of Jainology as well as to the inquisitive common people of the countryside.

A.K. BISWAS
Commissioner
Tirhut Division.

Muzaffarpur
December 25, 1992

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्पादकीय

प्राकृत-जैनशास्त्र और अहिंसा शोध-संस्थान के तत्त्वावधान में दिनांक ६ और ७ नवम्बर, १९९२ ई., को द्विदिवसीय राष्ट्रीय जैनशास्त्र संगोष्ठी का आयोजन किया गया। इस समारोह की सफलता का श्रेय संस्थान की कार्यकारिणी समिति के अध्यक्ष एवं तिरहुत प्रमण्डल के मनीषी आयुक्त उदारचेता श्री ए. के. विश्वास (भा. प्र. से.) को जाता है, जिन्होंने मूल्यवान् मार्गदर्शन के साथ-साथ उक्त संगोष्ठी की सफलता के प्रति अपनी उत्कण्ठा व्यक्त कर हमारे अन्तर्मन में अदम्य उत्साह एवं अपने नाम की अन्वर्थता के अनुरूप सुदृढ़ विश्वास का संचार किया। फलतः बहुविध कठिनाइयों के बावजूद पूरे देश से जैनविद्या के प्रतिनिधि विद्वानों ने अपनी गरिमामय उपस्थिति, वैदुष्यपूर्ण शोधपत्र-प्रस्तुति एवं शास्त्रसिक्त विषय-परिचर्चा में सक्रिय भागीदारी से समारोह को सार्थक बनाया।

संस्थान की कार्यकारिणी समिति ने उक्त संगोष्ठी की कार्यवाही को प्रकाशित करने का निर्णय किया था। प्रकाशन का मुख्य उद्देश्य दो दिनों तक प्राकृत-जैनशास्त्र विषय पर आयोजित परिचर्चा के सारभूत सन्देश का व्यापक प्रसार तथा उदात्त जनकल्याणकारी आर्हत विचारों को जनसामान्य तक पहुँचाना था। तदनुरूप यह प्रकाशन जैनविद्या के अनुरागियों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए अपार हर्ष हो रहा है।

उक्त संगोष्ठी में जिन विद्वानों ने अपने शोधगर्भ व्याख्यान दिये, उनके लिखित रूप किन्हीं कारणों से हमें समय पर प्राप्त नहीं हो सके। अतः इस शोध-संकलन में उनके शोधाक्षरों का समावेश अभीष्ट ही रह गया। फिर भी उन विद्वानों की सक्रिय भागीदारी हेतु मैं उनके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता निवेदित करता हूँ।

संगोष्ठी का समुद्घाटन माननीय पद्मश्री के. एन. प्रसाद (भा. आ. से.) असम सरकार के पूर्व वरीय परामर्शी ने किया। अपने उद्घाटन-भाषण में उन्होंने वर्तमान युग में वैशाली के शलाकापुरुष भगवान् महावीर एवं बुद्ध के उपदेशों की प्रासंगिकता पर बल दिया तथा उन्हें जीवन में उतारने का आह्वान किया। मगध विश्वविद्यालय के दर्शनशास्त्र के सेवानिवृत्त आचार्य एवं अध्यक्ष डा. बसन्त कुमार लाल ने अपने विषय-प्रवर्त्तक शोधपत्र में भारतीय दर्शनों में निहित विचारों एवं सिद्धान्तों को नये परिवेश में व्याख्यायित करने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर जोर दिया तथा जैनशास्त्र के विद्वानों को जैनसिद्धान्तों में प्रतिपादित सम्भावनाओं को साकार करने का आह्वान किया। जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं के कुलपति एवं प्रसिद्ध गाँधीवादी विचारक डा. रामजी सिंह ने अपने अध्यक्षीय अभिभाषण में जीवन की वास्तविक समस्याओं के समाधान ढूँढ़ने में दार्शनिक सिद्धान्तों के पुनर्मूल्यांकन की महत्ता पर प्रकाश डाला।

उद्घाटन-सत्र का प्रारम्भ संस्थान के निदेशक के स्वागत-अभिभाषण तथा समापन मानव संसाधन विकास विभाग, बिहार सरकार के उपनिदेशक (प्रशासन) श्री गोरख प्रसाद के धन्यवाद-ज्ञापन से हुआ। स्वागत-अभिभाषण में संस्थान के निदेशक ने इस संस्थान के मूल उद्देश्यों पर प्रकाश डाला। धन्यवाद-अभिभाषण में श्री प्रसाद ने अत्याधुनिक विश्व में तेजी से फैलते धार्मिक उन्माद एवं कट्टरपन को दृष्टि में रखते हुए वैशाली-भूमि में आयोजित इस संगोष्ठी के सन्देश का अनुसरण एवं प्रसार करने का आह्वान किया। इन सभी सम्मान्य महानुभावों एवं विद्वानों के अभिभाषण प्रस्तुत अंक में अक्षरित हैं। तिरहुत प्रमण्डल के शास्त्रज्ञ आयुक्त एवं संस्थान की कार्यकारिणी एवं प्रकाशन समिति के अध्यक्ष श्री ए. के. विश्वास ने इस शोध-संकलन में अपना महार्घ प्राक्कथन लिखकर इसकी गरिमा बढ़ाई है।

संगोष्ठी में परिचर्चाएँ तीन सत्रों में सम्पन्न हुईं। विभिन्न सत्रों में प्रस्तुत शोधपत्रों के विवेच्य विषय संक्षेप में इस प्रकार हैं :

जैन इतिहास एवं पुरातत्त्व सत्र की अध्यक्षता भारतीय पुरातात्त्विक सर्वेक्षण के पूर्व निदेशक डा. भगवती शरण वर्मा ने की।

इस सत्र में प्रस्तुत शोधपत्रों में डॉ. पीयूष गुप्ता ने जैनकला में नवग्रह पूजा-पद्धति का रोचक विश्लेषण प्रस्तुत किया। डॉ. विजयकुमार ठाकुर ने प्राकृत के कालजयी कथाग्रन्थ 'समराइच्चकहा' के आधार पर मध्य भारत के सामन्ती युग की संस्कृति को चित्रित किया। श्री उमेशचन्द्र द्विवेदी ने बिहार के छोटानागपुर क्षेत्र में जैन कला के विकास को रेखांकित किया।

डा. प्रफुल्ल कुमार सिंह 'मौन' ने जैन पुरातत्त्व की दृष्टि से विदेह तथा मिथिला की महत्ता पर प्रकाश डाला। श्री विन्ध्येश्वर प्रसाद हिमांशु ने जैनधर्म के तीर्थंकरों, आचार्यों एवं जैन वाङ्मय का विवेचन प्रस्तुत किया। डॉ. शुभा पाठक ने अपने शोध-निबन्ध में तिरेसठ शलाकापुरुषों के जीवन से सम्बद्ध महत्त्वपूर्ण घटनाओं एवं तत्कालीन सांस्कृतिक एवं पुरातात्त्विक महत्त्व को उजागर किया। डॉ. अरविन्द महाजन ने श्रीलंका में जैनधर्म के प्रभाव को संक्षिप्त रूप में वर्णित किया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संगोष्ठी का द्वितीय सत्र प्रकृत जैनशास्त्र : भाषा और साहित्य पर आयोजित था, जिसकी अध्यक्षता पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोधसंस्थान, वाराणसी के निदेशक एवं प्रख्यात जैनविद्वान् प्रो. सागरमल जैन ने की। प्रो. जैन ने अपने शोधपत्रों में वरांगचरित एवं उसके कर्त्ता जटासिंहनन्दी को यापनीय परम्परा को सिद्ध किया।

डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव ने अपने शोधपत्र में वसुदेवहिण्डी की खण्ड-कथाओं की प्रकृतिगत भेदों का विशद विवेचन प्रस्तुत करते हुए उनमें निहित कथाकार के विशिष्ट अभिप्रायों को लक्षित किया। डॉ. सुरेन्द्रनाथ दीक्षित ने भगवान् महावीर एवं बुद्ध के जीवन एवं चिन्तन-दृष्टि के साम्य एवं वैषम्यमूलक बिन्दुओं पर प्रकाश-निक्षेप किया। डॉ. गदाधर सिंह ने प्रकृत-अपभ्रंश में निहित छन्द-सम्बन्धी तत्त्वों को भारतीय संस्कृति एवं साहित्य की अमूल्य निधि बताया। श्री अनिल कुमार शर्मा ने अपने शोधपत्र में आध्यात्मिक रूपकों के निर्माण-क्षेत्र में हिन्दी के जैन रचनाकारों का अप्रतिम योगदान का मूल्यांकन किया।

संगोष्ठी के तृतीय एवं अंतिम सत्र का विषय जैनधर्म और दर्शन था, जिसकी अध्यक्षता जैन विश्वभारती, लाडनूं के निदेशक एवं बौद्ध एवं जैनदर्शन के मर्मज्ञ विद्वान् डॉ. नथमल टाटिया ने की। डॉ. टाटिया ने अपने शोध-निबन्ध में पालि सक्काय एवं प्राकृत अत्थिकाय के व्युत्पत्तिकारक सादृश्य को समाहित करते हुए उनके तात्त्विक भेद का विचार किया। डॉ. रामजी सिंह ने जैनदर्शन का वैशिष्ट्य अनेकान्तवाद के तर्कबद्ध विकास को माना। प्रो. सागरमल जैन ने जैनदर्शन के गुणस्थान जैसे सुव्यवस्थित अवधारणा को ४-५वीं शती में उद्भूत सिद्ध किया।

डॉ. योगेन्द्र प्रसाद सिंह के निबन्ध में भारतीय दर्शन के सन्दर्भ में जैनदर्शन के विशिष्ट योगदान की शास्त्रीय विवेचना सुलभ हुई है। डॉ. अवधेश्वर अरुण ने जैनदर्शन को आत्मविजय के दर्शन के रूप में निरूपित किया। डॉ. अजित शुकदेव शर्मा ने जैन आचार को जैनदर्शन एवं धर्म की पूर्व मान्यताओं पर आधारित सिद्ध किया। डॉ. प्रेमसुमन जैन ने हिन्दू एवं जैन धर्मों में परमतत्त्व की अवधारणा एवं उसकी प्राप्ति-विषयक विचारों की निकटता का संकेत किया।

डॉ. युगल किशोर मिश्र ने 'उत्तराध्ययनसूत्र' में प्रतिपादित संन्यास-धर्म की विवेचना प्रस्तुक की। डॉ. अवधेश उपाध्याय ने वर्धमान महावीर द्वारा प्रतिपादित पंचसूत्री आचार-संहिता तथा बृहदारण्यक के तीन-सूत्री 'द' का रोचक विश्लेषण कर उनका मानवमात्र के लिए कल्याणकारी सूत्र के रूप में मूल्यांकन किया। डॉ. शैलेन्द्र कुमार राय ने जैनदर्शन के आत्मतत्त्व का विवेचनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत किया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस शोध-संकलन के प्रकाशन में सहयोग के लिए हम डा. श्रीरंजन सूरिदेवजी का विशेष रूप से आभारी हैं, जिन्होंने अपनी सारस्वत व्यस्तताओं के बावजूद शोधपत्रों के सम्पादन करने और उन्हें मुद्रण के उपयुक्त बनाने का मूल्यवान् कार्य कर इस अनुष्ठान में तत्परतापूर्ण सहयोग किया। यह उनके विद्वत्सुलभ विनय एवं सदाशयता को प्रतीकित करता है।

अन्त में हम तारा प्रिंटिंग प्रेस, वाराणसी के व्यवस्थापक श्री रवि प्रकाश पण्ड्या को भी धन्यवाद देना चाहेंगे, जिन्होंने तत्परता के साथ यह कलावरेण्य प्रकाशन संस्थान के लिए सुलभ किया।

३१ दिसम्बर १९९२ **युगल किशोर मिश्र**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्थान के निदेशक

डा. युगलकिशोर मिश्र का

स्वागत-अभिभाषण

सम्माननीय पद्मश्री के. एन. प्रसाद जी, डा. रामजी सिंह जी, प्रोफेसर लाल, गोरख बाबू तथा अभ्यागत महानुभाव एवं विद्वद्वृन्द !

आज इस राष्ट्रीय संगोष्ठी में आप सबका स्वागत करते मुझे अपार हर्ष एवं गौरव का अनुभव हो रहा है। तिरहुत-प्रमंडलायुक्त श्री ए. के. विश्वास, जो संस्थान की कार्यकारिणी समिति के अध्यक्ष के नाते स्वागत-भाषण करनेवाले थे, अस्वस्थता के कारण समारोह में नहीं पधार सके। अतएव मैं उनकी ओर से तथा अपनी ओर से भी आप सबका हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ तथा हृदय से बधाई देना चाहता हूँ कि आप सबने व्यक्तिगत एवं परिस्थितिगत कठिनाइयों को झेलते हुए दूरस्थ स्थानों से इस घोर ग्रामीण क्षेत्र में अवस्थित इस संस्थान के समारोह में पधारकर मेरा उत्साह बढ़ाया है।

अभी कुछ ही क्षणों में आप प्रो. बसन्तकुमार लाल का वैदुष्यपूर्ण मुख्य अभिभाषण सुन सकेंगे। मैं उनके तथा आपके बीच और व्यवधान नहीं बनना चाहता।

प्रो. लाल दर्शन-जगत् के एक प्रतिष्ठित विद्वान् हैं। आपको लगभग ४० वर्षों का कई विश्वविद्यालयों में दर्शनशास्त्र के अध्यापन का अनुभव है तथा अपनी तार्किक अध्यापन-शैली के लिए विद्यार्थियों में आप काफी प्रिय तथा समादृत रहे हैं। आपके समान दार्शनिक विषय के प्रति पूर्ण समर्पण का भाव बिरलों में ही दृष्टिगोचर होता है। आप अपने विषय के उपस्थितशास्त्र एवं लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् हैं तथा आपके निर्देशन में कई शोधप्रज्ञों ने सफलतापूर्वक डॉक्टर की उपाधि अर्जित की है। आपकी शैक्षणिक प्रकृति प्रारम्भ से ही शोधोन्मुख रही है तथा आपके शोध एवं लेखन का क्षेत्र काफी व्यापक रहा है। तुलनात्मक धर्म-दर्शन के अतिरिक्त आपकी विशेष अभिरुचि अत्याधुनिक भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शनों में रही है। इन विषयों पर आपके कई प्रामाणिक ग्रन्थ प्रकाशित हैं। आपके लगभग १२५ शोध-पत्र भी अबतक प्रकाशित हो चुके हैं।

आपने कई महत्त्वपूर्ण दार्शनिक ग्रन्थों तथा शोध-पत्रिकाओं का सम्पादन भी किया है। आपके कुशल निर्देशन में कई शोध-योजनाएँ सम्पन्न हुई हैं तथा आपकी अध्यक्षता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में कई संगोष्ठियों का आयोजन हुआ है। निकट अतीत में आपने उद्योग-विद्या, मानवीय मूल्य तथा भावी सामाजिक दशा पर गहन चिन्तन किया है। इसी विषय पर शोध करने हेतु हवाई विश्वविद्यालय (यू. एस. ए.) ने आपको अतिथि-अध्येता के रूप में आमन्त्रित किया था तथा तत्सम्बन्धी आपका महनीय शोधकार्य पुस्तक के रूप में प्रकाशनाधीन है। फिलाडेलफिया, न्यूयार्क, न्यूजीलैण्ड, युनाइटेड किंगडम, वेलिंगटन तथा होनोलूलू के विश्वविद्यालयों में आपके वैदुष्यपूर्ण व्याख्यान काफी चर्चित तथा प्रशंसित हुए हैं।

आप अखिलभारतीय दर्शन-परिषद् के मुख्य अध्यक्ष भी रहे हैं। मगध विश्वविद्यालय के स्नातकोत्तर दर्शनशास्त्र-विभाग के आचार्य एवं अध्यक्ष के पद से सेवानिवृत्त होने के पश्चात् आप सम्प्रति पटना विश्वविद्यालय में अतिथि प्राध्यापक के रूप में सेवारत हैं।

अपनी सारस्वत व्यस्तताओं तथा स्वास्थ्य-दौर्बल्यजनित विवशताओं के बावजूद प्रस्तुत राष्ट्रीय संगोष्ठी में विषय-प्रवर्त्तक अभिभाषण की स्वीकृति देकर आपने हमपर विशेष स्नेह एवं कृपा प्रदर्शित की है।

प्रो. लाल के मुख्य अभिभाषण का विषय है—'जैन विचारों की आधुनिक प्रासंगिकता'। यहाँ मैं विशेष रूप से यह उल्लेख कर देना समीचीन समझता हूँ कि संस्थापकों की दृष्टि में इस संस्थान की स्थापना का प्रमुख लक्ष्य केवल प्राकृत और जैनशास्त्र के क्षेत्र में शोध, अध्ययन, अध्यापन आदि को ही विकसित एवं प्रोत्साहित करना नहीं था, बल्कि उच्चतम विचारों से सामान्य ग्रामीण जनजीवन को जोड़ना तथा उनमें रचनात्मक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास की चेतना का उद्बोधन करना भी था। तदनुरूप पुण्यश्लोक जगदीशचन्द्र माथुर ने संस्थान द्वारा लोकबोध व्याख्यानमाला के संचालन की योजना बनाई थी तथा कल्पना की थी कि इसके सफल कार्यान्वयन से प्राकृत और जैनशास्त्र के लोकप्रिय आयाम सामान्य जनता तक पहुँच सकेंगे तथा इससे उनके व्यावहारिक जीवन में प्रगतिपरक प्रवृत्ति का अभ्युदय होगा। प्रोफेसर लाल का प्रस्तावित अभिभाषण, मुझे पूर्ण विश्वास है, इस चिराकांक्षित सारस्वत योजना के कार्यान्वयन का मूलाधार प्रस्तुत करेगा।

■

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Inaugural Address of Padmashri K. N. Prasad

You have done me a great honour by inviting me to inaugurate this National Seminar on 'Jainism – Its Contemporary Relevance'.

When I was first approached to perform this task, I felt extremely diffident and apologetic – diffident because of my inadequacy to address an audience of intellectuals and scholars; and apologetic because of my inept knowledge of the religions of the world. Being born and brought up in a traditional Hindu family, my religious education has been limited to stories and folklores passed on to us by our elders; discourses and recitations of professional priests at religious festivals; and compulsive reading of some Vedic Scriptures, the two epics and Bhagvatgita, not in my quest for knowledge but in pursuance of a routine chalked out for our vacations and impossed on us by an unsparing grandfather.

Now, when I reflect on my religious faith and beliefs, I find myself unable to accept a dogmatic approach to any religion and also, to some commonly accepted beliefs about the existence of a kingdom of God; His dispensation of justice after one's death; and fears and hopes of a life in Heaven or Hell according to His dispensation. In fact, I have yet to feel fully convinced about the cycle of rebirth till one attains Nirvana, However, I am a staunch believer in the universality of what distinguishes 'good' from 'evil', 'virtue' from 'vice' and finally, in the role of recognized moral values for the instruction and improvement of man. I also believe that the degree of stability, peace and harmony in any society, community, country and even the world is directly related to the moral development or degenration of man.

I am happy to be in your midst this morning for reasons more than one. This invitation has given me an opportunity, for the first time, to visit this historical land of the Lichchhavis hallowed and sanctified by the meeting of the two great minds – Lord Mahavira and Gautama Buddha. The principles and philosophy enunciated by them have a significant commonality in their basic thrust towards an all round development of man through gentleness, generosity, purity, calmness, introspection, spirituality and finally, renunciation of the material desires.

Religion and their founders have exercised tremendous influence in shaping the birth and development of human civilizations. The story of our

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

world is a story that is still very imperfectly known. It is, however, universally recognized that the universe in which we live has existed for an enormous period of time. To begin with, we sheltered in caves, wandered and hunted in forests and dressed in skins. Our reflexes and reactions were governed by our imagination, emotions. and passions. Systematic thinking is a comparatively later development in human experience. When we started living in small family groups, the need arose for the exercise of certain restraint upon our primitive passions and emotions. With agriculture came the worship of gods, without which crops would not ripen. Villages essential to agriculture, became towns and towns became cities. And it was in some of the ancient cities that we found the earliest traces of the role of the religions.

It was near about 3000 B.C. that some primitive civilizations appeared in different parts of what the historians have called the 'Old World'. The priests exercised great influence on the man. A rule of law and omen prevailed. In all these ancient civilizations – Mayan, Sumerian, Egyptian, Mesopotaian cities had sprung up with temples, gods and priests, religious festivals and human sacrifices. In Egypt, the ruler became the living incarnation of the Chief God of the land and was known as the Pharaoh, the God King, However, the process of refinement of those primitive religions had also commenced during the period of the 'Old World' itself. Human sacrifice, for instance, had long since disappeared.

Another major contribution to religion has been of the Hebrews of Jerusalem. Their Old Testament came out with powerful ideas. Its foremost idea was that their God was invisible and remote. It was a Lord of Righteousness. All other religions had gods embodied in images that lived in temples. If the image was smashed and the temple razed, that God died out. The Jews gave a new concept of God, high above priests and sacrifices.

In India, the earliest civilization with traces of religion was in the Indus Valley (3000-2500 B.C.). Though, the concept of religion during this period is not yet clearly known, there is evidence of the people having developed cities and worshipped mother–earth and nature. Human sacrifice as also animal sacrifice was in practice. The next great religion to be founded was Hinduism, based on the Vedas and Upanishads. Its initial basis was the worship of nature in its various forms as all of their gods represented one or another phenomenon of nature. The religion was pre–eminently ritualistic. Significant changes followed in the later vedic period. The rituals become more elaborate and complicated. Performance

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

of Yajnas and sacrifices became a dominant feature. New deities arose and the number of gods increased. While Hinduism has made significant contribution to the development of Indo-Aryan thought and culture, there did arise a wave of discontent against the stranglehold of rituals, superstitions, myths and beliefs and finally, of priesthood.

The next important land mark in the history of religions was witnessed in the 6th Century B.C. From Athens to Pacific, the human mind was astir. A number of great thinkers, founders of religion in different countries from China and India to Persia and Greece emerged on the scene. They did not live at exactly the same time but, they were near enough in point of time to make this period before Christ, a period of great religious movement and reformation. Taking note of the wave of discontent with the existing conditions and hopes and aspirations for something better, these great religious thinkers sought to give to their people something better, these great religious thinkers sought to give to their people something better to lessen their misery. They were, in fact, revolutionaries, who were not afraid of attacking the existing evils. Thus, men's minds were displaying a new boldness and launching a disciplined and critical attack upon the primitive traditions of kingship, priesthood and blood sacrifice. In India, we had Mahavira and Buddha; in China, Confucious and Lao-Tse; in Persia, Zoroaster; in Greece, Pythogoras. All of them laid down a system of moral and social behaviour—what one should do and what one should not do.

It is in this context that Jainism, one of the earliest religions of the world, has a role as a religion of one who has conquered his inner passions like desire and hatred. It prescribes a hard and austere life for its monks and nuns after renunciation. Its five great vows—not to kill, not to lie, not to steal, to observe celibacy and to acquire non-attachment to wordly things—are to be observed in words, thought and deed. The lay followers are not required to renounce the world; but it is expected of them to live by honest means and to lead a pure life. The rules of conduct are intended to make them generous, placid, upright, kind, impartial, appreciative of good qualities of others, humble, greatful and do good to others. The essence of Jainism-restraint, renunciation, control of senses and purity in conduct, has the potential to contribute to the maintenance and preservation of a just and equitable social order with peace and harmony. If its philosophy is restored in its pristine purity in the life of the individual, the society and the polity, social equilibrium can be established by driving out destruction and blood thirstness as also social and economic inequalities.

To evaluate the relevance of Jainism in the contemporary world, we must take a good look at the prevailing global situation. In the last two centuries, powerful ideas and movements have engulfed different parts of

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

the world. In the wake of the industrial and technological revolution, feudalism yielded ground to capitalism; imperialism raised its banner with its mission of economic and political colonialism; and to challenge these forces, a strong communist movement sprung up. But, all these conflicting ideas and thoughts lacked the basic moral capacity to endure. The two world wars destroyed imperialism and made capitalism acquire a more benevolent approach towards the deprived ones. The once powerful communist movement, which held out hopes of a just and equitable social order to satisfy the material needs of man, has also been found to be disintegrating.

The one major fallout of all ideas and movements has been the upsurge of all pervasive materialism, which, in its turn, has led to the steady and gradual degeneration of human values. The overall picture today is one of strife and stress; conflict and tension; an unbriddled race for material acquisition through fair or foul means; a total disregard of human values; and a thickening climate of violence. The causes for all these malignant symptoms lie deeper in our mind and thought. Even religion has also been found to be failing to raise us and make us better and noble. In fact, it is meant to enable us to achieve the larger good—the good of society, of our country, and of humanity. But, their disciples and the people have often used religion to promote bigotry, narrowness, intolerence and fundamentalism. In the name of religion thousands and millions have been killed and every possible crime has been committed. We have forgotten our great teachers like Lord Mahavira and Buddha, Christ and Muhammad and even Mahatma Gandhi.

Therefore, Jainism does have its relevance as a religion which emits powerful ideas as a perenial source of nourishment and development of human mind, Even though not widely spread out, one cannot ignore its contribution to the enrichment of our culture, particularly in the field of literature, architecture and sculpture. In another area, where its contribution can be significant is the preservation of environment. We are today greatly concerned about the threats to the very survival of the world because of our ruthless exploitation of nature. Jainism stands for the protection and preservation of all living beings, even insects, fruits and flowers. Any effort in this direction will strengthen our efforts to protect and preserve our fragile eco-system.

Today, Jainism has a mission, a purpose and a message, not only for India but for the entire world. I do hope that the deliberations of the seminar will result in a positive and sustained endeavour towards this goal. On this note, I inaugurate this Conference, wish it all success, and thank its organisers.

■

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रो. रामजी सिंह

कुलपति, जैन विश्वभारती संस्थान,

लाडनूँ (राजस्थान) का

अध्यक्षीय अभिभाषण

प्राचीन भारतीय संस्कृति की तीन धाराएँ हैं—वैदिक, श्रमण एवं लोकायत। वैदिक संस्कृति का व्यापक विस्तार स्वाभाविक है। श्रमण संस्कृति का बौद्ध एवं जैन दो धाराओं में प्रसार हुआ। ऐतिहासिक कारणों से भारत में इसे एक तरफ आदर भी मिला है तो दूसरी तरफ उनके साथ असहिष्णुतापूर्ण अन्याय हुआ है। एक तरफ भगवान् बुद्ध को 'अवतार' भी माना गया है, महावीर की पूजा हुई है, दूसरी और बौद्ध धर्म को भारत से निर्वासित कर दिया गया है और जैन धर्म को एक प्रकार से संकीर्ण से संकीर्ण सीमाओं में आबद्ध कर दिया गया है। लोकायत-दर्शन के भौतिकवादी-भोगवादी तत्त्वों को महाभारत-काल से आगे तक भारतीय जीवन-वृत्ति में अपनाया तो गया, किन्तु उस विचारधारा की जितनी निन्दा हुई, उसे जितनी गालियाँ दी गईं, उसे कलंकित किया गया, उतना समझा नहीं गया। यह भारतीय दर्शन के अनुदारवाद की पराकाष्ठा का प्रमाण है।

जहाँतक समकालीन जैन चिन्तन का प्रश्न है, हमें स्वीकार करना होगा कि पिछली पाँच शताब्दियों में चर्चित-चर्वण एवं खण्डन-मण्डन के कुछ तेजस्वी प्रयत्नों के अलावा कोई सृजनात्मक विचार का प्रवर्तन नहीं हो सका। आगम-युग का वाङ्मय अर्हतों-सिद्धों, साधु-सन्तों की अपरोक्षानुभूति का अमृत है। वह तो जन-चिन्तन का बीज है, जिसकी सृजनात्मकता का अंकुरण अनेकान्त की स्थापना के युग में हुआ। तर्कयुग में तो खण्डन-मण्डन ही हुआ, कुछ सृजन नहीं। नवीन युग में भी कोई सृजनात्मक काम नहीं हुआ। मेरी दृष्टि में आगम-युग यदि जैन विचार की गंगोत्री है, तो अनेकान्त-युग ही उसकी स्वर्ण-गंगा है। यह ठीक है कि अनेकान्त-व्यवस्था के युग में भी बौद्धों और जैनों आदि के परस्पर वैचारिक संघर्ष हुए। अनेकान्त ही जैनधर्म का प्राण है और अहिंसा का भी यही वैचारिक आधार है। यह ठीक है कि आगम-युग में भी अनेकान्त-भावना के दर्शन होते हैं। भगवान् महावीर को केवल ज्ञान होने के बाद जिन १० महास्वप्नों के दर्शन हुए थे, उनमें तीन स्वप्न अनेकान्त का संकेत करते हैं। भगवान् बुद्ध ने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विभज्यवाद का प्रतिपादन किया और महावीर ने अनेकान्त का। अनेकान्त के मूल दो तत्त्व हैं—पूर्णता और यथार्थता। जो पूर्ण है और पूर्ण होकर यथार्थ रूप से पारित हुआ है, वही सत्य कहलाता है। वस्तु का पूर्ण रूप त्रिकाल-बाधित है, इसलिए यथार्थ का दर्शन कठिन है और उसे शब्दों में ठीक-ठीक अंकित करना तत्त्व-दृष्टि के लिए कठिन है। फिर हमारे पास राग और द्वेषजन्य संस्कार भी होते हैं। किसी विशेष को ही सत्य मान लेना और बाकी सब को मिथ्या समझना एक प्रकार का आग्रह ही नहीं, दुराग्रह भी है। इसलिए, व्यवहार में अनेकान्त का पालन अनन्त कलहों के अनिष्ट का निवारण करता है।

आज के युग में अहिंसा परमार्थ और मोक्ष के लिए नहीं, बल्कि जीवन और मानव-अस्तित्व की रक्षा के लिए अनिवार्य है। हिंसा-शक्ति का चरमोत्कर्ष आणविक शक्ति में हो चुका है और आणविक युद्ध का अर्थ है सृष्टि का सत्यानाश! इसलिए या तो हम अहिंसा को स्वीकार करें या फिर हिंसा से नष्ट हो जाने के लिए तैयार रहें। दुःख की बात तो यह है कि हम आकांक्षा तो शान्ति की रखते हैं और आयोजन युद्ध का करते हैं। लेकिन बाह्य जगत् में जो युद्ध होते हैं, उसका तो प्रारम्भ हमारे मानस में ही होता है। इसलिए बाह्य जगत् की हिंसा को रोकने के पूर्व हमें मानस हिंसा के निवारण का कोई उपाय करना चाहिए। इस दृष्टि से हमें मन में किसी प्रकार का बौद्धिक आग्रह नहीं रखना चाहिए। बौद्धिक आग्रह से ही हिंसा की अग्नि प्रज्वलित होती है। २१वीं शताब्दी में यदि हम एक अहिंसक विश्व की सृष्टि करना चाहते हैं तो हमें अनेकान्त के जीवन-दर्शन का आचरण करना होगा। अनेकान्त कोई शब्दाडम्बर नहीं है, कोई धार्मिक कर्मकाण्ड नहीं है, यह तो स्वतन्त्र समाज की संरचना का जीवन-दर्शन है। अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में इसी अनेकान्तवाद को हम सह-अस्तित्व या तटस्थता के सिद्धान्त के रूप में देख सकते हैं। जिसे हम 'जियो और जीने दो' का सिद्धान्त कहते हैं, वही अन्तरराष्ट्रीय राजनीति में सह-अस्तित्व कहलाता है। सामाजिक जीवन में उसे ही हम सहजीवन कहते हैं। धर्म के क्षेत्र में वही सर्वधर्म-समभाव कहलाता है। इसलिए जैन धर्म २१वीं शताब्दी का विश्वधर्म है। अनेकान्त-आधारित अहिंसा भगवान् महावीर के समय में जितनी प्रासंगिक थी, उससे आज कहीं अधिक प्रासंगिक है।

■

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रीगोरखप्रसाद

उपनिदेशक (प्रशासन) ,

मानव संसाधन विकास विभाग , बिहार का

धन्यवाद-अभिभाषण

आदरणीय अध्यक्ष महोदय, पद्मश्री श्री के. एन. प्रसाद साहब, डा. बी. के. लाल साहब, इस संस्थान के निदेशक मिश्रजी तथा उपस्थित सज्जनो एवं मित्रो !

प्राकृत जैनशास्त्र और अहिंसा शोध-संस्थान, वैशाली के तत्त्वावधान में आयोजित इस राष्ट्रीय संगोष्ठी में, जिसमें देश के चोटी के विद्वान् भाग ले रहे हैं, मेरे जैसे एक सामान्य सरकारी सेवक (सिविल सर्वेण्ट) की क्या भूमिका हो सकती है, यह मुझे स्वयं स्पष्ट नहीं हो पा रहा है। फिर भी इस संस्थान के निदेशक डा. मिश्रजी ने मुझे धन्यवाद-ज्ञापन का काम सौंपा है, मैं अपना कर्तव्य-पालन के लिए आपके समक्ष खड़ा हूँ। आज का संसार धार्मिक उन्माद और कट्टरपन के रास्ते पर तेजी से अग्रसर हो रहा है। चाहे अपना देश हो, चाहे एशिया के अन्य देश या यूरोप, सभी जगह इस धर्मिक उन्माद और कट्टरपन का बोलबाला है। धर्म के नाम पर दुनिया में जैसा रक्तपात और नरसंहार हुआ है, उसकी याद करके ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं। ऐसी परिस्थिति में हमारा ध्यान उन चिन्तकों एवं महापुरुषों की ओर जाता है, जिन्होंने मानव को करुणा, दया, सहिष्णुता, सत्य तथा अहिंसा का सन्देश दिया है। इस क्रम में हमारा ध्यान भगवान् बुद्ध, भगवान् महावीर, गाँधी, हेनरी डेविड थौरो, इमरसन तथा टॉल्सटॉय जैसे महापुरुषों की ओर जाता है।

आज इस संस्थान के तत्त्वावधान में 'जैनधर्म की प्रासंगिकता' पर इस राष्ट्रीय स्तर की संगोष्ठी का जो आयोजन किया गया है, वह हमारी उक्त अभीष्ट की सिद्धि की दिशा में किया गया एक महनीय सारस्वत प्रयास है। यह गर्व की बात है कि इस संगोष्ठी में देश के जाने-माने विद्वान् भाग ले रहे हैं। इस संगोष्ठी का उद्घाटन पद्मश्री श्री के. एन. प्रसाद साहब ने किया; डा. बी. के. लाल साहब ने 'जैनधर्म की प्रासंगिकता' पर अपना विद्वत्तापूर्ण लेख आपके सामने पढ़ा। डा. रामजी सिंहजी ने अपना सारगर्भ अध्यक्षीय भाषण किया। मैं सबसे पहले अपनी ओर से तथा इस संस्थान की ओर से डा. रामजी सिंह के प्रति आभार प्रकट करना चाहता हूँ, जिन्होंने अपना बहुमूल्य समय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देकर इस संगोष्ठी की अध्यक्षता करने की कृपा की है। उनको हम दर्शनशास्त्र के एक स्तम्भ के रूप में जानते हैं। सम्पूर्ण क्रान्ति की विचारधारा को मण्डित करने में भी उनका जो योगदान रहा है, उससे भी हम परिचित हैं। अपने चिन्तनपूर्ण और विचारोत्तेजक (Thought-Provoking) अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने जैनधर्म की जिन विशिष्टताओं का जिक्र किया है, उससे हम लाभान्वित हुए हैं। अपने भाषण में उन्होंने सादगी पर जोर दिया है। आप सभी जानते हैं कि वे सादगी के स्वयं प्रतीक हैं। संस्थान की संगठनात्मक एवं प्रबन्धात्मक खामियों को दूर करने के लिए उन्होंने जो अनुरोध मुझसे किया है, उसे हम उनका आदेश मानकर पूरा करने का प्रयास करेंगे। इस संगोष्ठी में आने के लिए मैंने जब शिक्षा-सचिव से अनुमति माँगी थी, तब उन्होंने सहर्ष यहाँ आने की अनुमति प्रदान की। इस संगोष्ठी में जो परिचर्चाएँ (Deliberations) हुई हैं; उनके सम्बन्ध में मैं निश्चित रूप से उन्हें अवगत कराऊँगा। मैं डा. रामजी सिंह के प्रति पुन: आभार व्यक्त करना चाहूँगा।

मैं पद्मश्री श्री के. एन. प्रसाद के प्रति भी आभार प्रकट करता हूँ, जिन्होंने इस संगोष्ठी के उद्घाटन की कृपा की है। अपने विद्वत्तापूर्ण उद्घाटन-भाषण में उन्होंने अनादिकाल से मनुष्य की सभ्यता के विकास का जो इतिहास आपके सामने रखा और वर्त्तमान परिप्रेक्ष्य में धर्म की भूमिका पर जो प्रकाश डाला, साथ ही गलत अवधारणाओं और मान्यताओं पर जो कठोर प्रहार किया, उसका गहरा असर निश्चित रूप से आप पर हुआ होगा। हम उनके प्रति अपना हार्दिक आभार प्रकट करते हैं।

डा. बी. के. लाल साहब दर्शनशास्त्र के सुविख्यात विद्वान् हैं। उन्होंने जैनधर्म के गूढ़ तत्त्वों को जिस प्रकार अपने ज्ञानवर्द्धक अभिभाषण (Illuminating Address) में हमारे सामने रखा है, हम सभी उससे गम्भीर रूप से प्रभावित हुए हैं। जिस रूप में जैनधर्म की मान्यताओं को उन्होंने सामने रखा, उससे तो यही लगता है कि आज के अनेक आधुनिक विचार जैसे जनतन्त्र, धार्मिक सहिष्णुता दूसरे अर्थ में धर्मनिरपेक्षता, मानवता आदि जैसे सिद्धान्त जैनधर्म से ही निकलते हैं। हम उनके प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं।

मैं इस संस्थान के कर्मचेता निदेशक डा. युगलकिशोर मिश्र को भी धन्यवाद देना चाहूँगा। यद्यपि आज का आयोजन तो उन्हीं का आयोजन है, परन्तु इस संगोष्ठी के आयोजन का उन्होंने जो बृहत्तर प्रयत्न किया है, हम उसे भूल नहीं सकते। उनके प्रति भी हम हार्दिक आभार प्रकट करते हैं।

इस संगोष्ठी में देश के मूर्धन्य चिन्तक और विचारक, जो जैनधर्म और जैनशास्त्र में अपनी विशेषज्ञता रखते हैं, भाग ले रहे हैं। मैं आप सभी लोगा को हृदय से धन्यवाद

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देना चाहता हूँ कि आपने इस संगोष्ठी में शामिल होकर इसे सफल बनाया है। मैं आशा करता हूँ कि आपकी जो परिचर्चाएँ (Deliberations) हुई हैं, उनसे समाज में एक नई चेतना का प्रादुर्भाव होगा। मिश्रजी ने अपने स्वागत-भाषण में बतलाया था कि इस संस्थान का उद्देश्य केवल प्राकृत-भाषा, जैनशास्त्र एवं अहिंसा में शोध एवं अध्ययन-अध्यापन-कार्य करना ही नहीं, वरन् उससे समाज के जन-जीवन में एक नया जागरण पैदा करना तथा सर्वसामान्य जनमानस को प्रभावित करना भी है। आज यह संगोष्ठी उस जगह हो रही है, जहाँ भगवान् महावीर का जन्म हुआ था। किसी जमाने में भगवान् बुद्ध ने भी यहाँ सत्य एवं अहिंसा के सिद्धान्तों का प्रचार किया था। मैं चाहूँगा कि इस संगोष्ठी के बाद देशवासियों को, विशेषकर नवयुवकों को एक सन्देश मिले, जिसे मैं वैशाली का सन्देश (Message of Vaishali) कहना चाहूँगा। मुझे पूरा विश्वास है कि वैशाली से प्राप्त होनेवाले इस सन्देश पर अमल करके ही हम धरती पर स्वर्ग का राज्य (Kingdom of Heaven on earth) ला सकेंगे। इन्हीं शब्दों के साथ एक बार फिर मैं आप सभी को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ और अन्तःकरण से कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

■

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषय-क्रम

Foreword

Shri A.K. Biswas, I.A.S. vii

सम्पादकीय

डॉ. युगल किशोर मिश्र ix

स्वागत-अभिभाषण

डॉ. युगल किशोर मिश्र xiii

Inaugural Address

Padmashri K.N. Prasad xv

अध्यक्षीय अभिभाषण

डॉ. रामजी सिंह xix

धन्यवाद-अभिभाषण

श्री गोरख प्रसाद xxi

विषय-प्रवर्त्तक शोधपत्र

जैन विचारों की आधुनिक प्रासंगिकता

डॉ. बसन्तकुमार लाल ३

SECTIONAL DELIBERATIONS

खण्ड : १

जैन इतिहास एवं पुरातत्त्व

(Jain History & Archaeology)

१. Jainism in Bihar During Gupta Pala Periods
Dr. B.S. Verma १९

२. Some Observations on Navagrah Cult in Jain Art
Dr. Piyus Gupta २३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. Trade in the Samaraiccakaha: Text & Context
Dr. Vijay Kumar Thakur २९

४. जैन पुरातत्त्व में सन्दर्भित विदेह और मिथिला
डॉ. प्रफुल्ल कुमार सिंह 'मौन' ३९

५. जैनधर्म एवं छोटानागपुर
उमेशचन्द्र द्विवेदी ४५

६. जैनधर्म के तीर्थंकर, आचार्य और वाङ्मय
विन्ध्येश्वर शर्मा हिमांशु ५३

७. मूर्त्त अंकनों में जिनेतर शलाकापुरुषों के जीवनदृश्य
डॉ. शुभा पाठक ५८

८. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित में वर्णित तीर्थंकर
डॉ शुभा पाठक ७२

९. श्रीलंका में जैनधर्म
डॉ. अरविन्द महाजन ८५

खण्ड : २
प्राकृत-साहित्य भाषा एवं साहित्य
(Prakrit Language & Literature)

१०. जटासिंहनन्दी का 'वरांगचरित' और उसकी परम्परा
प्रो. सागरमल जैन ९१

११. वसुदेवहिण्डी की खण्ड-कथाएँ
डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव १०६

१२. महावीर और बुद्ध के जीवन और उनकी चिन्तन-दृष्टि में साम्य और वैषम्य
डॉ. सुरेन्द्रनाथ दीक्षित ११२

१३. प्राकृत-अपभ्रंश छन्द : परम्परा और विकास
डॉ. गदाधर सिंह १३४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१४. आध्यात्मिक रूपक-काव्य और हिन्दी के जैन कवि
अनिल कुमार शर्मा १४९

खण्ड : ३
जैनधर्म एवं दर्शन
(Jain Religion & Philosophy)

१५. Pali Sakkāya & Prakrit Atthikāya: A comparative Study
Dr. Nathmal Tatia १५९
१६. जैन दर्शन का वैशिष्ट्य
डॉ. रामजी सिंह १६३
१७. गुणस्थान-सिद्धान्त का उद्भव एवं विकास
प्रो. सागरमल जैन १६९
१८. अनेकान्त और अहिंसा : एक शास्त्रीय परिशीलन
डॉ. योगेन्द्र प्रसाद सिंह १८६
१९. जैनधर्म के पंच महाव्रत : आज के सन्दर्भ में
डॉ. अवधेश्वर अरुण २०७
२०. जैनाचार : एक मूल्यांकन
डॉ. अजित शुकदेव २११
२१. जैन एवं हिन्दू धर्म में परमतत्त्व की अवधारणा
डॉ. प्रेम सुमन जैन २१८
२२. उत्तराध्ययन सूत्र में वर्णित संन्यास-धर्म
डॉ. युगल किशोर मिश्र २३०
२३. महावीर का पंचसूत्री महाव्रत और बृहदारण्यक के तीन 'द'
डॉ. अवधेश उपाध्याय २३६
२४. जैनदर्शन में आत्मतत्त्व : एक विश्लेषण
डॉ. शैलेन्द्रकुमार राय २४१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषय-प्रवर्त्तक शोधपत्र

Key-note Address

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन विचारों की आधुनिक प्रासंगिकता

डॉ. बसन्त कुमार लाल

मुझे यह स्पष्ट चेतना है कि जैन विचारों पर आयोजित ऐसी संगोष्ठियों में मुख्य अभिभाषण देने का मैं अधिकारी नहीं। फिर भी, मैंने प्रियवर डा. युगल किशोर मिश्र जी का आमन्त्रण स्वीकार कर लिया। एक तो इस कारण कि उनके आग्रह को टालना मेरे लिए सरल नहीं था, और दूसरे इस कारण कि उनका आग्रह यह नहीं था कि मैं इसके शास्त्रीय विवेचन के किसी पक्ष को उभारूँ, बल्कि यह था कि जैन विचारों की आधुनिक प्रासंगिकता पर कुछ विचार करूँ।

विचारों की शास्त्रीयता जब नये परिवेश में मात्र अपने विचारों की अनुरूपता या उसके किसी अंश का सादृश्य पहचान कर सन्तुष्ट होने लगती है, तब विचार की वास्तविक प्रगति अवरुद्ध होने लगती है, और विचार कुछ विद्वानों की चर्चा में बँध कर रुका-सा रहता है। भारतीय दर्शनों के साथ ऐसा ही हुआ है। परिवर्तन की तीव्र गति के साथ हम चल नहीं पाये, और आत्मसन्तुष्टि के लिए हर नई समस्या को मात्र यह कह टालते रहे कि इसमें कुछ नया नहीं है तथा यह कि ऐसे विचार हमारी परम्परा में हैं। परिणाम यह हुआ कि हमारे विचार 'स्थिर' हो गये, एक स्थान पर रुके रहे और कुछ विद्वानों की थाती बन कर बँधे रहे। विचारों को पीछे खींचते रहने से विचार कुण्ठित होते रहते हैं; विचारों की प्रगति का अर्थ है उन्हें आगे बढ़ाना, उन्हें नये परिवेश में प्रतिष्ठित करना।

और यह कार्य दर्शन के लिए उपयुक्त है; क्योंकि दार्शनिक विचार मरते नहीं, उनमें शाश्वतता होती है। दर्शन 'दृष्टि' है, 'वाद' नहीं। 'वाद' खण्डित होते हैं, असिद्ध हो जाते हैं, गलत सिद्ध होते हैं; दृष्टि अयथेष्ट हो सकती है, अपूर्ण हो सकती है, आंशिक हो सकती है—किन्तु, खण्डित नहीं होती, गलत सिद्ध नहीं होती। यह तो एक झरोखा खोलती है, एक दृश्य प्रस्तुत करती है, वह भी इस प्रकार कि जब भी कोई उस झरोखे से झाँके, तब उसे वही दृश्य दिखाई देगा। इस प्रकार की दृष्टि सदा जीवित रहती है और इस अर्थ में हर दर्शन सदा वर्तमान का दर्शन होता है, उसकी हर काल के लिए अपनी प्रासंगिकता है। आवश्यकता है उसकी इस समकालीन प्रासंगिकता को उभार कर प्रकाश में लाने की। दर्शनशास्त्री इसमें विकृति की सम्भावना देखते हैं, किन्तु यह तो उस विचार की सम्पुष्टि है—उसका नये परिवेश में मुखरित होना है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तुत भाषण भी इसी दिशा में एक प्रयास है। स्पष्टतः यह प्रयास बड़ा ही संक्षिप्त एवं आंशिक है, किन्तु इसका मूल उद्देश्य है जैनशास्त्र के विद्वानों को एक आह्वान देना कि वे अपनी शास्त्रीयता को त्यागें नहीं, किन्तु उनमें निहित सम्भावनाओं को भी उभारें और उन्हें नये परिवेश में प्रतिष्ठित करें।

II

यह 'नया परिवेश' क्या है? इस नये परिवेश की प्रासंगिकता जैनमुनियों जैसे विशिष्ट व्यक्तियों के लिए नहीं; क्योंकि वे तो एक चरम आदर्श के प्रति पूर्ण समर्पण कर अपने अनुशासन एवं अपनी साधना में रत हैं। इस 'नये परिवेश' का सम्बन्ध तो साधारण-सामान्य मानव के लिए है, जिसे इस नये परिवेश में जीना है।

आज का मानव एक विचित्र मोड़ पर खड़ा है। आदर्श-सम्बन्धी-चित्रण एवं निर्देश, धर्म एवं मुक्ति के गूढ़ रहस्य उसे प्रभावित अवश्य करते हैं, किन्तु, आधुनिकता के जीवन में जीने को वह इस प्रकार बाध्य है कि इससे सरलता से विमुख भी नहीं हो सकता। उसके समक्ष समस्या है कि कैसे वह इन गूढ़ विचारों को अपने आज के जीवन में उतारे। वह उन विचारों का वैसा व्यावहारिक पक्ष ढूँढ़ता है, जिसे वह आज की माँगों के साथ आत्मसात् कर सके। आदर्श की परम्परा से प्राप्त चित्र उसे प्रभावित करते हैं, किन्तु उद्वेलित नहीं कर पाते, मात्र उनकी आवृत्ति से उसे अपने जीवन में आमूल परिवर्तन करने की प्रेरणा नहीं मिलती। उसकी समस्या है कि वह किस प्रकार इन सत्यों को निकट से देखे-समझे कि उसमें इन्हें आत्मसात् करने की आतुरता भी जागे। इसके लिए आवश्यक है कि इन सत्यों को बिना विकृत किये इस रूप में प्रस्तुत किया जाय कि वह आज की मानसिकता को सहज रूप में ग्राह्य हो।

जैन दर्शन में तो इस प्रकार के अर्थ-निरूपण की सम्भावना स्पष्टतया निहित है। इसी उद्देश्य से अकलंक तथा आचार्य हेमचन्द्र जैसे चिन्तकों ने अपने काल के अनुरूप अर्थ-निरूपण करते हुए 'जैन न्याय' तथा 'प्रमाण-मीमांसा' को व्यवस्थित किया था। किन्तु, अभी मैं इस दर्शन के उस पक्ष में प्रवेश नहीं कर रहा, अभी मैं जैन दर्शन के कुछ मूल एवं केन्द्रीय विचारों के समसामयिक अर्थ-निरूपण का प्रयत्न कर रहा हूँ।

वैसे सामान्यतः माना जाता है कि जैन दर्शन की समस्त चर्चाएँ 'सात तत्त्वों' पर ही केन्द्रित हैं—जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा तथा मोक्ष। वैसे इन सभी तत्त्वों पर किये गये जैन विचारों की आधुनिक प्रासंगिकता का निर्देश स्पष्ट रूप में किया जा सकता है, किन्तु, वह अपने में एक बृहत् योजना है। अतः आज मैं सामान्य रूप में इनपर विचार करूँगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

III

जैन विचार की विशिष्टता एवं मौलिकता का एक आधार है उनका '*अनेकान्तवाद*'। तात्त्विक दृष्टि से अनेकान्तवाद सत्ता की अनेकरूपता एवं सापेक्षता का पोषक है। विश्वास किया जाता है कि सत्ता में—द्रव्य में—अनेक गुण या धर्म होते हैं, कुछ स्थायी, कुछ अस्थायी, कुछ भावात्मक, कुछ अभावात्मक। अनेकान्तवाद के इस तात्त्विक रूप के आधार पर उसके अन्य पक्ष भी प्रकाश में आते हैं, तथा उसी आधार पर उनका *'स्याद्वाद'* एवं *'नया विचार'* भी रूप लेता है। इसी बल पर विद्वानों ने यह भी दिखाया है कि कैसे अनेकान्तवाद में 'सत्तावाद' और बौद्धों के 'क्षणिकवाद'—दोनों का समन्वय हुआ है।

इस सिद्धान्त का व्यावहारिक पक्ष इसे आज के सन्दर्भ में भी प्रासंगिक बना देता है। यदि सत्ता का अनेक पक्ष है, यदि हर निर्णय या वस्तु पर किसी गुण का आरोपण किसी विशेष दृष्टि से ही सत्य है, तो इसका अर्थ है कि हर स्थापना एक दृष्टि से सत्य अवश्य है, किन्तु साथ-साथ अन्य स्थापनाएँ भी दूसरी दृष्टि से सत्य हैं। तो अनेकान्तवाद में निहित यह विचार स्पष्ट होता है कि किसी मत की स्थापना का अर्थ अन्य वैकल्पिक मतों को नकारना नहीं है। एक ही तत्त्व के सम्बन्ध में अनेक स्थापनाएँ एक साथ दी जा सकती हैं। इस प्रकार अनेकान्तवाद का व्यावहारिक पक्ष प्रकाश में आता है—अपने मतों के सम्बन्ध में दृढ़वादिता का त्याग, एक ऐसी उदारता, जिसमें वैकल्पिक मतों के लिए भी यथोचित सम्मान निहित हो।

आज की मानसिकता तो इस मूल तथ्य की उपेक्षा किये बैठी है। आज का मनुष्य विरोध सहन नहीं कर पाता, वह सदा अपनी बातों की सत्यता एवं श्रेष्ठता स्थापित करने को इस रूप में तत्पर रहता है, जैसे उसके अतिरिक्त अन्य सम्भावनाएँ ही नहीं। जातीय दंगे, आतंकवादी गतिविधियाँ, राजनैतिक दाँवपेंच, शक्ति-संघर्ष—इन सबके पीछे तो यही भ्रान्त भावना है कि जो अपनी बात है, वही एकमात्र सत्य है। इस साधारणसी वास्तविकता की हम उपेक्षा किये बैठे हैं कि अन्य बातों की भी सार्थकता सम्भव है। धर्म-गुरुओं ने सहिष्णुता, पारस्परिक आदर-भाव, अन्य के प्रति सम्मान आदि पर बल दिया है, किन्तु वे सदा आग्रह करते हैं कि इन बातों को धर्माचरण एवं सद्गुणों के रूप में स्वीकार किया जाय। जैन दर्शन में इन बातों का सैद्धान्तिक आधार स्थापित किया गया है। यहाँ व्यक्ति के स्वीकारने के पीछे सिद्धान्त की पकड़ है—यहाँ इस तथ्य को नहीं स्वीकारना एक स्वतःस्पष्ट सत्य के विरुद्ध जाना है। इस प्रकार अनेकान्तवाद जीवन को सहज, सरल एवं प्रेममय बनाने का एक सैद्धान्तिक आधार प्रस्तुत करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

IV

जैन धर्म में बताये गये सभी अनुशासन एवं सभी निर्देश उसके जीव, बन्धन एवं मोक्ष-विचार पर केन्द्रित हैं, अतः अब हम उन्हीं पर सामान्य रूप में विचार करेंगे।

कहा गया है कि हर द्रव्य में कुछ अनिवार्य गुण होते हैं, और कुछ पर्याय। *'जीव'* का आवश्यक गुण है *'चेतना'*। चेतना की परिधि स्वरूपतः असीमित है। चेतना की किरणें प्रकाश-रूप हैं, जो अपने मूल रूप में असीम हैं। किन्तु यदि हम प्रकाश को किसी घेरे में बाँध देते हैं, तो प्रकाश की किरणें वहीं तक सिमट जाती हैं। 'जीव' के साथ भी ऐसा ही है; वह चेतना को घेरे में बाँध लेता है। वह शरीर के माध्यम से ही चेतन होता है, अतः उसकी असीम चेतना शरीर एवं इन्द्रियों तक ही सिमटी रहती है। यह सिमटना ही तो जीव का बन्धन है, जो जीव के अपने कर्मों तथा संस्कारों के कारण होता है। जैन तत्त्व-दर्शन में इसका विशद विवरण है—किस प्रकार जीव के कर्मों के फलस्वरूप 'पुद्गल-कणों' का 'आश्रव' होता है, और जीव शरीर के घेरे में बँधकर बद्ध जीव हो जाता है। अब वह शरीर के साथ एकरूप हो जाता है, और यह एकरूपता जितनी सघन होती है, उसकी चेतना भी उतनी ही सीमित हो जाती है।

इस तात्त्विक विवरण में एक बड़ा ही मानवीय तथ्य छिपा है, जिसे प्रकाश में लाने पर जैन विचार की आधुनिक प्रासंगिकता भी स्पष्ट होती है। इस तात्त्विक पृष्ठभूमि में कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण विचार निहित हैं, जिन्हें आधुनिक *मानवतावाद* का हर रूप उभारने की चेष्टा करता रहता है। इसमें एक ओर तो 'जीव' की—मनुष्य की—आन्तरिक शक्ति पर प्रकाश पड़ता है, और दूसरी ओर इस तथ्य पर कि वह स्वयं अपना भाग्यनिर्माता भी है। यदि वह 'घेरे' में पड़ता है तो अपने कर्मों के कारण ही और यदि वह मुक्त भी होता है तो अपने ही प्रयत्नों से। जैन विचारों में तो विभिन्न प्रकार के कर्मों का उल्लेख हुआ है, और यह भी बताया गया है कि किस प्रकार के कर्म का क्या प्रभाव पड़ता है। उन तात्त्विक विवेचनों में उलझे बिना यह निर्विवाद रूप में कहा जा सकता है कि जैन विचार की यह मान्यता है कि 'जीव' की विसंगतियाँ उसके अपने 'किये' के परिणाम हैं। इसमें यह विचार भी निहित है कि यह भी 'जीव' पर ही निर्भर है कि वह अपने जीवन को सार्थक एवं सशक्त मार्ग पर अग्रसर करा सके। इस प्रकार जैन दर्शन में मानव की उनींद मानवता को जाग्रत करने का एक स्पष्ट आह्वान है।

V

जीव शरीर के घेरे में बँधकर, सीमित चेतना के अज्ञानवश, कुछ ऐसी प्रवृत्तियों (कषाय) का दास हो जाता है कि उसके जीवन में अनेक प्रकार के क्लेश एवं विसंगतियाँ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्पन्न हो जाती हैं। इन प्रवृत्तियों के अन्तर्गत जीव की 'तृष्णाओं' का उल्लेख हुआ है—क्रोध, मोह, लोभ, अहंकार जैसी प्रवृत्तियों का उल्लेख हुआ है। यों तो सभी भारतीय दर्शनों में इन प्रवृत्तियों का उल्लेख हुआ है, किन्तु, वह उस रूप में नहीं, जिस रूप में जैन दर्शन में होता है। यहाँ तो इन प्रवृत्तियों को शरीर में घिरी चेतना से—शरीर एवं इन्द्रियों की सीमितता से संचालित होने की बात की गई है और यही तो आज के आधुनिक युग में स्पष्ट रूप से परिलक्षित है। हम अपने समाज को ही देखें, अभी इस पर आधुनिकता पूर्ण रूप से छाई नहीं है, किन्तु, फिर भी आज हमारे सभी कार्यों का मूल प्रेरक क्रोध, अहंकार, मोह तथा लोभ जैसी प्रवृत्तियाँ ही बनती जा रही हैं। आज का मानव स्वभावत: असहनशील हो चला है, अपनी मानसिक चंचलता में वह अतिशीघ्र उत्तेजित हो जाता है, उसके कार्य मोह एवं लोभ से ही प्रेरित रहते हैं। भौतिकवादी आकर्षण, स्पर्धा, भौतिक उपलब्धियों को शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त कर लेने का लोभ ही हमारे आज के जीवन का आधार बनता जा रहा है। जैन तीर्थंकरों ने बन्धन के जिस ढंग एवं रूप को समझा था—वह आज के जीवन में स्पष्ट एवं प्रबल रूप में व्याप्त होता जा रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि जैन दर्शन का यह विवरण आज के ही युग का यथार्थ चित्रण है।

इसकी यथार्थता इस बात से भी सिद्ध होती है कि यह जैन दर्शन के 'द्रव्य-बन्धन' एवं 'भाव-बन्धन' के विचार के भी अनुरूप है। शरीर में घिरकर चेतना का सीमित होना बन्धन का यथार्थ रूप है—यह 'द्रव्य-बन्धन' है। किन्तु जैन मनीषियों ने यह समझा है कि इस स्थूल बन्धन के पीछे हमारी मानसिकता का बन्धन है। 'कषाय' मानसिक प्रवृत्तियाँ हैं, और इन्हीं प्रवृत्तियाँ के कारण हम स्थूल बन्धन में भी बँध जाते हैं। हमारी 'तृष्णाएँ' ही 'भाव-बन्धन' के उपकरण हैं। यह 'भाव-बन्धन' आज के मानव के जीवन में स्पष्ट रूप से परिलक्षित है। उदाहरणत:, आधुनिकता के प्रभाव में भौतिक उपलब्धियों के पीछे दौड़ने के लिए हमें एक आन्तरिक विवशता की अनुभूति होती है। साधारण उदाहरणों में यह स्पष्ट रूप में दिखाई देता है। एक सामान्य व्यक्ति को एक VCR प्राप्त करने की इच्छा जागती है। अब यह इच्छा इतनी प्रबल हो जाती है कि वह 'तृष्णा' का रूप ले लेती है, हम तबतक मानसिक रूप से चंचल एवं अशान्त रहते हैं, जबतक इसे प्राप्त नहीं कर लेते। सम्भवत: उसे प्राप्त करने के बाद उसका उपयोग भी कम ही करें, किन्तु यह तृष्णात्मक मानसिकता हमें पूर्णतया अपने वश में किये रहती है। भाव-बन्धन का इतना स्पष्ट रूप सम्भवत: तीर्थंकरों के काल में उजागर नहीं हुआ हो। आज के मानव का आत्मनियन्त्रण पूर्णतया शिथिल हो गया है, वह अपनी मानसिकता के इस भाव-बन्धन में पूर्णतया बँधा हुआ है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

VI

इस बन्धन से निकलना ही मोक्ष है। सीमित चेतना का शरीर के घेरे से मुक्त होना ही मोक्ष है। जैन दर्शन में कहा गया है कि इसके लिए पुद्गल-कणों का जीव में आस्रव रोकना अनिवार्य है— यह भी दो स्तरों पर। एक तो यह कि नये पुद्गलों का आस्रव न हो, जिसे *'संवर'* कहा गया है, और दूसरा जिनका आस्रव हो गया है, वे शिथिल हो जायँ—इसे *निर्जरा* कहा गया है। 'संवर' और 'निर्जरा' की बृहत् शास्त्रीय चर्चा होती रही है। किन्तु, उन सभी विचार-विमर्श के पीछे एक साधारण-सामान्य विचार है। मनुष्य को अपने ढीले 'आत्मनियन्त्रण' को सबल बनाने का प्रयत्न करना है। बन्ध से मुक्त होने की कठोर माँगें हैं—नये पुद्गलों के आस्रव पर रोक तथा पुराने पुद्गलों का ह्रास। यह आस्रव क्रोध, मोह, लोभ जैसी प्रवृत्तियों के कारण होता है, और वह तभी सम्भव होता है, जब प्रवृत्तियाँ हम पर 'हावी' हो जाती हैं, 'जीव' से अधिक बलवान् हो जाती हैं। प्रवृत्तियाँ हमारी मूल चेतन-रूप प्रवृत्तियाँ नहीं हैं, वे शारीरिक चेतना की— सीमित चेतना की प्रवृत्तियाँ हैं। तो आवश्यकता है कि जीव पुनः अपने नियन्त्रण को स्थापित करने का प्रयत्न करे, जिससे उसकी मूल चेतना सहज रूप में प्रवाहित हो सके।

यह सरल कार्य नहीं, इसके लिए सतत प्रयत्न, कठोर अनुशासन, मन-कर्म-वचन से उस दिशा में संलग्नता अनिवार्य है। सामान्य रूप में जैन दर्शन में 'त्रिरत्न' की अनुशंसा की गई है। सर्वप्रथम तो इन बातों पर एक प्रारम्भिक आस्था अनिवार्य है, पुनः मूल तत्त्वों के सम्बन्ध में भ्रान्त धारणाओं का त्याग आवश्यक है, तथा सबसे महत्त्वपूर्ण है चरित्र को सशक्त बनाने का कठोर अनुशासन। 'सम्यक् दर्शन', 'सम्यक् ज्ञान' तथा 'सम्यक् चरित्र' के सम्बन्ध में दी गई इन अनुशंसाओं को हम आज के परिवेश में भी सहज रूप में प्रतिष्ठित कर सकते हैं। पहले हम प्रथम *दो* अनुशंसाओं की चर्चा करें।

प्राथमिक प्रश्न है कि हम किस प्रकार इस मार्ग पर अग्रसर होने के लिए तत्पर हों। जैन दर्शन में तीर्थंकरों और उनके उपदेशों में विश्वास उत्पन्न करने की बात की गई है। किन्तु, प्रश्न है कि यह प्रारम्भिक विश्वास भी कैसे उत्पन्न हो ! इस प्रकार के विश्वास के उत्पन्न होने की प्रेरणा क्या हो सकती है ? हम अपनी परिस्थितियों के अनुरूप इस पर विचार करें।

हमारे जीवन में अब भी अनेक अवसर ऐसे आते हैं, जब हमें किसी योग्य परामर्शदाता की आवश्यकता हो जाती है। ऐसे अवसर किसी भी क्षेत्र में हो सकते हैं—व्यापार, शिक्षा, राजनीति या अन्य कुछ। किन्तु, हर कोई हर कार्य के लिए उचित परामर्श भी नहीं दे सकता, इसके लिए 'आप्त पुरुष' या 'गुरु' की आवश्यकता होती है। 'आप्तता' अथवा 'योग्य गुरु' की पहचान क्या है ? बताया गया है कि इस पहचान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की तीन प्रमुख शर्तें हैं। एक तो यह कि उस व्यक्ति को *ज्ञान* हो—उस क्षेत्र का विशद ज्ञान हो, जिसमें हमें परामर्श की आवश्यकता है। कोरा ज्ञान मात्र सैद्धान्तिक भी हो सकता है, अतः यह भी आवश्यक है कि उस व्यक्ति को पर्याप्त *अनुभव* हो। ज्ञान एवं अनुभव के बाद भी परामर्श निर्रथक हो जा सकता है, यदि उस व्यक्ति में एक तीसरा गुण न हो। उसमें यह भी शक्ति होनी चाहिए कि वह अपने ज्ञान और अनुभव को हमारे स्तर पर ला उसे हमारे लिए बोधगम्य बना सके, अन्यथा हमें उन बातों की पकड़ ही नहीं हो पायेगी। यदि ऐसा आप्त पुरुष मिल जाय तो उसकी बातों पर प्रारम्भिक आस्था उत्पन्न हो सकती है। ऐसा हम जीवन में प्रायः प्रतिदिन देखते हैं। हमारी सम्पूर्ण प्रणाली इसी प्रकार के परामर्श के बल पर ही चल रही है। हमारी सभी व्यवस्थाएँ— राजनैतिक, आर्थिक, शैक्षणिक, अपराध-सम्बन्धी, युद्ध-सम्बन्धी आदि—इसी ढंग से चल रही हैं, जिन्हें आज की भाषा में *'विशेषज्ञ'* कहा जाता है, और उनकी बातों में विश्वास कर, हम उसी के अनुरूप कार्य करते हैं। तब यह है कि इसके दोनों छोर पर विसंगति की सम्भावना है। यदि हमने आप्तता की पहचान उचित रूप से नहीं की, अथवा 'आप्तता' की पहचान के बाद भी हम संशयात्मक ही रहे, तो दोनों अवस्थाओं में विसंगतियाँ ही उत्पन्न होंगी।

इन विसंगतियों की सम्भावना को ध्यान में रखते हुए जैन परम्परा में चौबीस तीर्थंकरों तथा जैन मनीषियों के प्रति सद्-आस्था की बात की गयी है। तीर्थंकरों को ज्ञान भी है और अनुभव भी है, उन्होंने उन्हीं सत्यों को दिया है, जिन्हें उन्होंने स्वयं झेला है, देखा है, पाया है। जैन मनीषियों ने सदियों से उन सत्यों को हमारे लिए बोधगम्य बनाने का प्रयत्न किया है। इसीलिए उनमें आस्था की बात की गई है। *यह अन्धविश्वास नहीं,* यह उसी विश्वास का सघन तथा *अधिक प्रामाणिक* रूप है जैसा विश्वास हम अब भी अपने 'विशेषज्ञों' में करते हैं। यह अधिक प्रामाणिक इस अर्थ में भी है कि यह मात्र 'व्यक्ति' पर विश्वास नहीं, एक आदर्श पर विश्वास है। फलतः सामान्य विश्वासों के समान यह भी कार्य करने को तत्पर करा देता है, और साथ-साथ एक शुद्ध संकल्प का जनक भी बन जाता है। इसी कारण यह मात्र विश्वास नहीं—*आस्था* है।

आस्था में शक्ति है, वह हमारे जीवन को सूक्ष्म एवं व्यापक रूप में प्रभावित कर सकती है। यह मन को शुद्ध करने तथा उसे सन्मार्ग पर लगाने का एक अनिवार्य उपकरण है। और आस्था जागती है द्रष्टाओं, आप्त मनीषियों के विचारों से परिचय बढ़ाने की चेष्टा में, उन्हें देखने के प्रयत्न में। उनके सम्पर्क से ही आस्था जागती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किन्तु, आज हम ऐसा नहीं कर पाते; क्योंकि आज हम अपना जीवन जीते ही नहीं। आज हमारा जीवन दूसरों का अनुकरण-मात्र है, हम माँगी हुई जिन्दगी जीने लगे हैं। धरातली तौर पर तो हम बड़े व्यस्त हो गये हैं, किन्तु अपने अन्तर में हम आलसी और अकर्मण्य हो गये हैं। फलतः हम किसी बात को जानने के लिए 'पहल' भी नहीं करते, ज्ञान भी 'उधार' ले लेते हैं। फलतः हमारी जानकारी—हमारा ज्ञान सभी 'कामचलाऊ' हो गये हैं। परिणाम यह होता है कि 'सत्यों' के प्रति हममें श्रद्धा नहीं जागती, हम शंकालु हो गये हैं, हर बात पर प्रारम्भ से ही संशय करते हैं।

'सम्यक् दर्शन' की सार्थकता इसी सन्दर्भ में है जबतक हम 'स्व' एवं 'स्व-आश्रित' चंचल प्रवृत्तियों को अपने पर हावी होने देंगे, तबतक हमारी आन्तरिकता भी चंचल ही रहेगी और हमारे सभी कर्म तदर्थता एवं दिशाहीनता से ग्रस्त रहेंगे। ऐसी मानसिकता में आस्था पनप नहीं पाती; क्योंकि आस्था में *ठहराव* है, चंचलता नहीं। आप्त मनीषियों के सम्पर्क से यदि ऐसी प्रारम्भिक आस्था जाग पायी, तो इसके फलस्वरूप 'चंचलता' एवं 'स्थिरता' के भेद की अनुभूति पनपेगी, और वही 'ज्ञान' का मार्ग होगा। वैसी आस्था से उत्सुकता जागेगी, कौतूहल बढ़ेगा, जिज्ञासा बढ़ेगी तथा हम ज्ञान के इच्छुक बन जायेंगे।

इसका यह अर्थ नहीं कि हम जैन विचारों या किसी धार्मिक विचार में एकाएक आस्था जगा लें। वैसा निर्देश अव्यावहारिक ही नहीं, असम्भव है। प्रथमतः तो *'आस्था की शक्ति में आस्था'* आवश्यक है। यही तो हमारा आज का शंकालु मन खो चुका है। इसी सन्दर्भ में तीर्थंकरों के जीवन की समझ उपयोगी है। इसी आस्था से सम्यक् ज्ञान का मार्ग प्रशस्त होगा; क्योंकि तभी बातों को स्वयं परखने, अनुभूत करने की उत्सुकता जागेगी। जैसे जैसे यह उत्सुकता बढ़ेगी, 'अनुकरणात्मक जीवन' और वास्तविक जीवन, तथा 'चंचलता' एवं वास्तविक चेतना का भेद स्पष्टतर होता जायेगा और यह दिखाई देने लगेगा कि मात्र स्व-आश्रित प्रवृत्तियों की तृप्ति में वास्तविक तृप्ति नहीं।

VII

किन्तु, सबसे आवश्यक है 'आस्था' तथा 'ज्ञान' के अनुरूप जीवन। जैन मनीषियों ने इसी पर सर्वाधिक बल दिया है। जैन दर्शन में सम्यक् आचरण के विभिन्न पक्षों का इतना विशद एवं सूक्ष्म विवरण है कि जीवन का कोई पक्ष अछूता नहीं है। *समितियाँ* हैं, जिसमें चलने, बोलने, भिक्षा माँगने के ढंगों की चर्चा हुई है। मन, वचन और कर्म पर नियन्त्रण के लिए विभिन्न प्रकार की गुत्थियों का निर्देश हुआ है। दस प्रकार के धर्मों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर विवेचन हुआ है। जैन मुनियों ने इन्हें जीवन में कठोरता से उतारने का प्रयत्न किया है, वे तो *अनुप्रेक्षा* एवं *परिषह* के विभिन्न रूपों को भी अपने जीवन में अंगीकार कर लेते हैं। व्यावहारिक दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व *'पंचमहाव्रत'* को दिया गया है— जिनमें *'अहिंसा'* प्रमुख है। यहाँ, जैन विचारों की आधुनिक प्रासंगिकता के निर्देश के प्रयत्न में मैं *'अहिंसा'* का ही प्रतिमान 'उदाहरण' के रूप में उपयोग कर रहा हूँ। इन दिनों 'अहिंसा' के सिद्धान्त की आधुनिक प्रासंगिकता, एवं अनिवार्यता की अत्यधिक चर्चा भी होने लगी है। मैं उस प्रकार की सामान्य चर्चा में नहीं उलझ रहा, हमारा यह विवेचन जैन विचारों तक ही केन्द्रित है।

जैन मतानुसार 'हिंसा एवं अहिंसा' के विवाद को स्पष्ट करने के लिये हिंसात्मक कर्मों की विभीषिकाओं के उदाहरणों के विश्लेषण की आवश्यकता नहीं, आवश्यकता है उस *मानसिकता* को समझने की, जो हमे हिंसा की ओर प्रवृत्त करती है। यह 'समझ' ही अहिंसा के महत्त्व को उजागर कर देती है। हम इन दिनों युद्ध की विभीषिकाओं, अणुकणों में निहित विध्वंसकारी शक्तियों का भयपूर्ण चित्रण करते हैं, हम आतंकवादी गतिविधियों से त्रस्त हैं, धार्मिक दंगों से हम क्षुब्ध हैं, किन्तु, हम यह सोचने का प्रयत्न नहीं करते कि यह कैसी मानसिकता है, जो इन सबको जन्म देती है।

जैन मनीषियों ने इसे पूर्णरूपेण समझकर अपने अहिंसा-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। हिंसा-अहिंसा की सार्थकता अजीवतत्त्वों के लिए नहीं। हम बारूद लगाकर पत्थर तोड़ते हैं, किन्तु इसे हिंसा नहीं कहा जाता। तो हिंसा-अहिंसा का सन्दर्भ—उसकी सार्थकता जीव-जगत् में है। यदि 'जीव' का हनन होता है—जीव को चोट पहुँचती है, तो यह हिंसा है। किन्तु, इसे समझना इतना सरल नहीं—'जीव-हनन' तथा जीव को चोट पहुँचाने का बड़ा ही व्यापक अर्थ है। बात यह है कि 'जीव' के 'जीवत्व' के साथ—उसके 'जीव' होने में ही— उसके कुछ मूलाधिकार निहित हैं। प्रथमतः, तो यदि वह जीव है—चाहे वह पौधा हो, या कीड़ा या चींटी या मक्खी या फिर मनुष्य—उसे यह अधिकार है कि वह *'जीये'*। पुनः, जगत् के प्रायः समस्त जीव बद्ध हैं, अर्थात् उन्हें एक 'शरीर' है, तो इस स्थिति में उन्हें 'कायाधिकार' भी है—यह अधिकार भी है कि उनके शरीर को कोई क्षति न पहुँचाये। हर जीव एक दृष्टि से कुछ कार्यों के लिए स्वतन्त्र है, अतः उसे एक मौलिक स्वतन्त्रता का अधिकार है। पुनः, हर 'जीव' एक विशेष 'स्थिति' में है, जैसे मनुष्य को अपने 'आत्मसम्मान'— 'व्यक्तित्व की गरिमा' का भी अधिकार है। यह भी उसे अधिकार है, कि वह जो करता है उसका फल उसे मिले। जैन मतानुसार जीव की वर्तमान स्थिति उसके कर्मों के फलस्वरूप है, तो उसे यह भी अधिकार है कि जो वह करे, उसका फल भी उसे मिले। सामान्य दैनिक जीवन में भी यदि कोई उसे उसके श्रम के फल से वंचित करता है, तो यह उसके अधिकार का हनन है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यदि इनमें से किसी अधिकार को क्षति पहुँचती है तो यह हिंसा है। किन्तु यह सब तो हिंसा का प्रकट रूप है—व्यक्त रूप में हिंसा है। इनके अतिरिक्त, हम प्रकट रूप में हिंसा न करते हुए भी किसी पर मनोवैज्ञानिक दबाव डालते हैं (जैसे पिस्तौल दिखाकर बैंक लूटना), या स्वार्थसाधन के लिए किसी का शोषण या दोहन करते हैं, तो यह भी हिंसा है।

जैन विचार में अहिंसा का अर्थ इतना व्यापक है कि वह इन सभी आयामों को ध्यान में रखता है। अहिंसा के पालन का अर्थ है इन सभी स्तरों में अहिंसा का पालन—जीव के जीवत्व में निहित इनमें से किसी अधिकार को किसी रूप में क्षति न पहुँचाना। रोचक तथ्य यह है कि इस निषेधात्मक विवरण में 'अहिंसा' का *भावात्मक* रूप निखर आता है। हाँ, जैन दर्शन में, शाब्दिक रूप में निषेधात्मक आकार रखते हुए भी अहिंसा एक भावात्मक वृत्ति है— जिसका मूल अर्थ है *'हर जीव के प्रति, उसके जीवत्व के प्रति पूर्ण सम्मान'*।

'पूर्ण सम्मान' का अर्थ है कि यह सम्मान केवल वास्तविक कर्मों में ही नहीं, वचन तथा मन से भी हो। जैन दार्शनिकों ने, हिंसा-अहिंसा के पीछे जो मानसिकता बनती है, उसे समझने का प्रयत्न किया है, अतः उन्हें यह समझ है कि 'अहिंसा' का पालन हर स्तर पर हो, तभी वह अहिंसात्मक मानसिकता का सूचक हो सकता है। इसी कारण उन लोगों ने सभी महाव्रतों के अनुशीलन में नौ ढंगों का उल्लेख किया है। अर्थात्, अहिंसा का पालन हमें कर्म, वचन तथा मन तीनों स्तरों पर करना है। हम किसी को शारीरिक क्षति नहीं पहुँचाते, किन्तु उसके लिए अपशब्द या गाली का प्रयोग करते हैं—तो यह भी हिंसा है। हम यह भी नहीं करते, किन्तु, उसके प्रति बुरी भावना रखते हैं—तो यह भी मानसिक स्तर की हिंसा है। पुनः, कहा गया है कि इन तीनों स्तरों में अहिंसा का अनुशीलन तीन—तीन रूपों में करना है— जिन्हें *कृत, कारित, अनुमित* कहा गया है। हिंसा न हम करें, न करायें, और न उसकी स्पष्ट या मौन अनुमति ही दें। स्पष्ट है, जैन दर्शन में अहिंसा-अनुशीलन का अंश व्यापक भी है और कठिन भी।

अहिंसा-विचार की इसी व्यापकता एवं कठोरता में तो इस विचार की आधुनिक प्रासंगिकता निहित है। स्पष्ट है, आज हम किसी भी स्तर पर— चाहे वह वैयक्तिक हो, या सामाजिक या राजनैतिक या — हिंसा को रोकने में सफल नहीं हैं, क्योंकि हिंसात्मक अन्तरराष्ट्रीय मानसिकता को हम प्रभावित नहीं कर पाते। मूल आवश्यकता उसी की है।

इस स्थिति में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य ध्यान देने योग्य है। हिरोशिमा, नागासाकी के बाद फिर अणुबम नहीं गिरा— जबकि उनसे अत्यधिक शक्तिशाली बम अनेक राष्ट्रों के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पास उपलब्ध है। इसका एक स्पष्ट कारण बताया जाता है— 'प्रतिरोध का भय'। हर शक्तिशाली राष्ट्र को यह समझ है कि यदि उसने अणुशक्ति का उपयोग किया, तो उसके विरुद्ध भी उस शक्ति का उपयोग किया जा सकता है। आतंकवादी गतिविधियों में प्रायः देखा जाता है कि जब विरोधी सशक्त हो जाते हैं तो आतंकवादी भूमिग्रस्त हो जाते हैं। तो, इससे एक निष्कर्ष तो स्थापित हो जाता है कि हिंसात्मक मानसिकता पर भी नियन्त्रण सम्भव है। यह ठीक है कि ऊपर के उदाहरणों में ऐसा नियन्त्रण प्रतिरोध की सम्भावना तथा उससे जनित 'भय' पर आश्रित है। किन्तु, इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि हिंसात्मक मानसिकता में भी बदलाव सम्भव है। पुनः, सामान्य अनुभव यह भी है कि यदि इस प्रकार के नियन्त्रण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है, तो शनैः-शनैः मानसिकता में बदलाव आने लगता है। बड़े राष्ट्रों ने स्वेच्छा से निःशस्त्रीकरण प्रारम्भ कर दिया है, कुछ आतंकवादी स्वेच्छा से आतंक के मार्ग का त्याग कर देते हैं। तो अब भी हिंसात्मक मानसिकता की यथार्थता की पहचान भी जीवित है, और उसमें बदलाव की सम्भावना भी स्वतः स्पष्ट है।

इसी सन्दर्भ में जैन अहिंसा-विचार की प्रासंगिकता है; क्योंकि जीवन में हिंसात्मक वृत्ति की वास्तविकता एवं उसमें बदलाव की सम्भावना—इन्हीं तथ्यों की स्पष्ट अनुभूति में जैन विचारकों ने अहिंसा-विचार को इतना व्यापक बना दिया। यह ठीक है कि अहिंसा-अनुशीलन का जो चरम रूप है, उस रूप में अहिंसा का पालन साधारण व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं। किन्तु, वह रूप तो अहिंसा-अनुशीलन का आदर्श है। उद्देश्य है मानसिकता में बदलाव उत्पन्न करने की—और आदर्श की व्यापकता और गहनता की अनुभूति इस बदलाव का एक उपकरण बन सकती है।

'प्रतिरोधात्मक तर्क' से भी इस बात की पुष्टि होती है। यदि प्रतिरोध की सम्भावना हिंसात्मक वृत्ति को नियन्त्रित कर सकती है, तो यह बात भी जैन विचार को समर्थन ही दे रही है। 'अहिंसा' का मूलार्थ है 'जीव का हर रूप में पूर्ण सम्मान'। प्रतिरोधात्मक तर्क इस मूल विचार का समर्थक है। हमें जब यह सम्भावना दिखाई देने लगती है कि अन्य भी हमारे 'जीवत्व' का सम्मान नहीं कर सकते, जब हमें यह समझ आ जाती है कि यदि हमारे लिए अन्य का जीवन तुच्छ है, तो उनके लिए हमारा जीवन भी तुच्छ है, तब हम अन्य के 'जीवत्व' का भी सम्मान प्रारम्भ कर देते हैं। जैन दर्शन में अहिंसा के पक्ष में ऐसा ही एक तर्क दिया भी गया है। कहा गया है कि हमें अन्य जीवों के प्रति वैसा ही व्यवहार करना चाहिए, जैसा कि हम उनसे अपने लिए अपेक्षा रखते हैं। इस प्रकार के विचार से हिंसात्मक वृत्ति पर रोक लगती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और, 'अहिंसा' के अर्थ की व्यापकता तथा उसके विभिन्न आयामों की परख ही अहिंसात्मक वृत्ति के उत्पन्न होने का एक उपकरण बन जा सकती है। जिस रूप में जैन विचार में अहिंसा की व्यापकता का चित्र खींचा गया है, उसे समझने की चेष्टा में ही हमारी हिंसात्मक वृत्ति शिथिल पड़ने लग जायेगी। वस्तुतः, हिंसात्मक वृत्ति की निर्ममता मात्र एक बात पर आधृत है—संवेदनशीलता के सोये रहने पर। यदि हिंसा करनेवाला व्यक्ति सोचने-विचारने लगे, संवेदनशील हो जाय तो वह हिंसात्मक कार्य कर ही नहीं पायेगा। हिंसात्मक मानसिकता उन्हीं में पनपती है, जो हिंसा-अहिंसा के विभिन्न पक्षों पर कभी विचार ही नहीं करते। उनमें हिंसा की 'सनक' होती है, जो हर प्रकार की संवेदनशीलता को दबाकर ही कार्यरत होती है। इस विचारशून्यता के कारण वे यह भी नहीं देख पाते कि हिंसात्मक वृत्ति का आघात अन्ततः उन्हीं पर होता है। अहिंसा पर सामान्य विचार करनेवाले हिंसात्मक कर्मों के—जैसे युद्ध, आतंकवाद आदि के दुष्परिणामों का विश्लेषण करते हैं, किन्तु, यह विश्लेषण भी तभी उपयोगी हो सकता है जब हमारी चेतना—हमारी संवेदनशीलता जाग्रत रहे। जैन विचार की विशिष्टता यही है कि वह अहिंसा के विभिन्न आयाम, उसकी गहराई और जीवन के हर पक्ष में उनके व्यापक प्रभाव को चेतना एवं विचार के स्तर पर ला खड़ा करता है। यही वैचारिकता की कमी—यही अचेतन जीवन—तो आज की सबसे बड़ी दुर्बलता है। जैन दर्शन की प्रासंगिकता इसमें है कि वह एक स्पष्ट आह्वान है कि चेतनता की इस दुर्बलता के प्रति हम सजग हों।

■

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संगोष्ठी में प्रस्तुत शोधपत्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खण्ड : १

जैन इतिहास एवं पुरातत्त्व

(Jain History & Archaeology)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jainism in Bihar During Gupta Pala Periods

Dr. B.S. Verma

It is very difficult to determine the antiquity of Jainism. 'The Yajurveda mentions the name of three Tirthankaras, Rishabha, Ajitanatha and Arishtnemi. According to the Bhagawata Purana, Rishabha was the founder of Jainism. Even the Jain believe that their system had previously been proclaimed through countless ages by each one of a succession of great teachers'[1]. In the beginning of the historical period Jain had their stronghold in Bihar. Parsvanatha the twenty-third Tirthankara preached and got Nirvana at Parasnatha Hill (in Hazaribagh District) as is traditionally known. The last prophet of Jainism was Mahavira who was born in Vaishali and died in village Pawa in Patna District (now Nalanda District).

Mahavira first entered the order of Parsvanatha, but left it after a year perhaps because of differences on the question of renunciation and possession of personal articles. Mahavira stressed asceticism and complete abandonment of all possessions, including clothings, whereas Parsvanatha had stressed that some coverings was a necessity and he never was in favour of extreme renunciation. These differences widened at the time of Bhadrabahu and resulted in two broad divisions in Jainism known as Svetambara (white-clothed) and Digambara (atmosphere-clad, i.e., nude)[2].

Digambaras had their hold in Bihar. The Chinese pilgrim, Yuan Chwang, has mentioned in his 'Records' that the Digambaras were flourishing when he visited the State. The Siddhas also refer to the naked Jain monks. This fact is attested to by the few images of Tirthankaras which have been found at different places in Bihar. However, excepting a few images, there is a great paucity of Jain records in Bihar belonging to this period. Judged from these scanty records, it appeared that Jainism did not enjoy the same extent of popularity as the contemporary religions, such as Buddhism, Saivism, Vaishnavism etc. Nevertheless, with the help of the few records available, we get an idea of the state of Jainism, as it existed during the period under review.

First, it is necessary to examine why there are so few records of the religion available here. Jainism in the beginning might have obtained the support of some of the early kings of Magadha and Kalinga such as Nanda,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Chandragupta Maurya and Kharavela, but it did not receive direct royal patronage from the beginning of the Christian era down to the period under review. The royal patronage to a religion certainly helps its propogation to a great deal. In Bihar the Gupta rulers were generally followers of Vaishnavism, whereas the Pala rulers were Buddhist and Sasanka was a Saiva. We know of no king in Bihar during this period who subscribed to the faith of Jainism. Thus, Jainism lacked the great advantage of royal patronage. Majumdar rightly points our that 'with the dominance of Buddhism, Jainism lost its stronghold in Eastern India'[3].

Mahavira had stressed much on asceticism and only through it, according to him, one could attain salvation. His great message to mankind was that 'Family and caste are nothing, Karma is everything, and the future happiness depends on it'. He further said that on practising asceticism, Karma could be burnt up, and then one could become a Tirthankara[4]. This stress on austerity and penances could not be easily followed and appreciated by the common people, especially when there existed a more liberal religion like Buddhism. Jainism stuck to its old principles and did not march with the time. This may be another powerful reason for the comparatively lesser prevalence of Jainism in the State of Bihar.

During this period, the centre of Jainism continued to move gradually west towards Gujrat, owing to the conversion and patronage of the Western Kings. Consequently the Great Council of Jainism was convened not in the historical land of its birth, Bihar, but in the western country at Valabhi. All these instances go to show that Jainism during this period had lost its importance and appeal in Bihar. The scanty records of Jainism found here during the Gupta period also confirm this conclusion.

The installation of Jain images during this period, under the patronage of the reigning kings prove that image worship was prevalent among the Jains. It was an ancient practice in Jainism. Epigraphic evidence also seems to prove that this practice of image worship was current among the Jains in Eastern India even in the pre-Mauryan times. There is a positive evidence in the Hathigumpha Inscription of the removal of a Jain image from Kalinga to Pataliputra by the Magadha king, Nanda, at the time of the invasion of Kalinga and its subsequent recovery by the Chedi King, Kharavela, who invaded Magadha in the 1st century B.C. From Jain philosophy we learn that there is no place for god in their religion. The objects of their worship are neither gods nor goddesses, but man,...the venerable (ARHAT), the conquerer (Jaina), the founder of the four orders (Tirthankara)[5].

The Jain laity who had been drawn away from Hinduism by Mahavira, found themselves left without any object of worship. Therefore, gradually reverence for their masters and other teachers (historical and mythical)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

passed into adoration and took the form of a regular cult. Finally, images of these personage were set up for worship and idolatry became one of the chief institutions of orthodox Jainism. Among the images which have been found in Bihar, the most common are those of Rishabhadeva, Parsvanatha, Mahavira and Santinatha who are identified by their symbolic marks. For example, Rishabhadeva is always associated with bull whereas Parsvanatha is shown sitting under the canopy of a snake-hood and Mahavira's symbol of identification is a lion and a wheel.

Practically no Jain inscription has been found in Bihar during the Gupta period. The Kahaum Stone Pillar Inscription of Skanda Gupta, though a Jain one, is found in Uttar Pradesh. Of the Pala period, we have found very few Jain inscription in this State. Only one has been found at Nalanda and assigned to the reign of Rajyapala[6]. This inscription is incised on a pillar of a ruined Jain temple. The object of the inscription is to record the visit of one Vaidanath, son of Manoratha of the merchant family, to the temple in the reign of the illustrious Rajyapala. The inscription does not throw any light on the condition of Jainism in the State of Bihar except that Bihar was still a place of pilgrimage for outsiders. The fact is further corroborated by the existence of another temple at Rajgir, where some of the images of the Tirthankaras were installed by some teachers called Vasantnandi and Thiroka[7]. From the inscriptions engraved on the pedastal of some images, the temple can be assigned to the 8th century A. D.

Thus it is found that, though Jainism was not patronised by any king or by any ruling dynasty, it was not altogether dead in its place of origin, viz., Bihar. People had respect for this religion. Jain images discovered in the district of Singhbhum, Manbhum, Patna, Gaya and Shahabad point out that Jainism continued to have adherents in different parts of Bihar. Even today, unlike Buddhism, Jainism is not extinct in the land of its birth. Perhaps, there are specific reasons, as pointed out by Mrs. Stevenson[8], which saved it from extinction in Bihar. She writes, 'It has never cut itself off from the faith that surrounded it. Jains always employed Brahamanas as their domestic chaplains, who presided at birth rites and often acted as officials at death and marriage ceremonies and temple worship. So when the storm of persecution by the Muslims or Mohamdans swept over Bihar, Jainism simply took refuge in Hinduism, which opened its capacious bosom to receive it.'[9] Jainism compromised with Hindu caste practices and winked at the worship of some Hindu deities like Ganesh. Vasudeva and Baladeva are two of the sixty-three Salaka-purushas, who are believed to be director of the course of the world[10]. Rishabhadeva the first Tirthankara is regarded as an Avatara of Vishnu[11].

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Notes

1. Radhakrishnan, *Indian Philosophy*, vol. I, p. 287
2. Majumdar, R. C., *History of Bengal*, vol. I, p. 109
3. *The Cultural Heritage of India*, vol. IV, p. 44.
4. Stevenson, *The Heart of Jainism*, p. 39
5. Stevenson, *The Heart of Jainism*, p. xiv
6. I. A. vol. xlvii, p. 11
7. Ghosh, A., *Guide to Nalanda*, p. 11
8. Stevenson, *The Heart of Jainism*, p. 18
9. *Ibid.*
10. *The Cultural Heritage of India*, vol. iv, p. 129
11. *Ibid.*, vol iv, p. 134

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Some Observations on Navagraha Cult in Jaina Art

Dr. Piyus Gupta[*]

The cult of nine planets or Navagrahas and its depiction in the Indian Sculpture is basically an astrological concept. Since astrology has near universal grip over the Indian society, planetary postulates find place in all the three major pantheons and their corresponding art, including Jainism.

Along with the cult of twenty four Tirthankaras as the main conceptual axis around which the Jaina iconography revolves, the pantheon of this particular cult also presents a system of subsidiary divinities like Buddhist and Brahmanical religions. During the evolution of various pantheons, these types of deities keep on emerging at every nodal point of Indian history; but the luxuriant growth takes place following the impact of Tantra, particularly during the early medieval period. The impact is however not uniform and the Jaina pantheon is less proliferous in comparison to other two.

Scant attention has been paid by the scholars to the dynamics of the evolutionary process of various pantheons of the Indian religions. In this communication, it is not possible to deal with the subject. But one can construe without the fear of being contradicted that the proliferation of deities is due to assimilation of various myths following the interaction or acculturation of the dominant religions with the cultic ethos of the folk milieu. To this, one can add the process of inter-sectarian exchange leading to the emergence of polysectarian cults like the cult of Navagrahas receiving the sustenance from all major religions of India like Buddhism, Jainism and Brahamanism.

In view of the prevalence of large number of deities in each pantheon, the custom of classifying them into various groups is prevalent right from the Vedic days. The Jaina preceptors have likewise classified the subsidiary divinities to several groups. According to Uttarādhyayana, a Jaina text, these gods are of four[1] kinds:

1. Bhaumeyakas or Bhavanavasins	:	=	10 in number
2. Vyantara	:	=	8 in number
3. Vaimanikas	:	=	2 in number
4. Jyotiṣkas	:	=	5 in number

* Physician, Naya Tola, Patna.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

For our discussion, we shall refer to the dwellings of Jyotiṣkas which includes planets[2], the subject of our discussion :

(1)The Suns (2) The Naksatras (3) The Planets (4) The host of Stars

Being a polysectarian cult, individual icon of the Navagrahas is polymorphon particularly in relation to weapon and vehicle as per the canonical dogmas of each sect and inter-sect divisions. In our case, we are concerned with the great divide of the Jainism into Svetambara and Digambara.

Basing himself on the following texts, Bhattacharya[3] has brought out the salient features of the Navagrahas from the point of Jaina Iconography:

(1) Ācāradinakara — Śvetambara texts

(2) Nirvaṅa Kalikā

(3) Pratiṣṭha Sāraddhara — Digambara text.

Let us briefly discuss these features in relation to each icon :

(A) Sūrya

(1) According to Ācāradinakara, Sūrya with lotuses in both hands rides on a chariot driven by seven horses:

(2) Pratiṣṭha Sāraddhara's description is somewhat simpler but the symbol is lotus in both hands.

(B) Candra

(1) Nirvaṅa Kalikā describes Candra as driving a chariot driven by 10 white horses (dasaśvetāśva), and Ācāradinakara assigns an urn of nectar (sudhākumbha) to be held by Candra.

(2) Pratiṣṭha Sāraddhara does not assign any weapon.

(C) Mangala

(1) Ācāradinakara = Weapon shovel in hands (Kuddālahasta)
= Vehicle : Meṣa

(2) Nirvaṅa Kalikā : Deity is four-armed :
Rt. lower : Varadamudrā
Rt. upper : Spear(Śakti)
Lt. hands : Śūla (Trident)
Gadā (club)

(3) Pratiṣṭha Sāraddhara : Weapon : Trident (Sūlabhrit)

(D) Budha:

(1) Acara : Symbol : Book in hands (Pustaka)
Vehicle : Sw āna (Kaln hanisavahana)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(2) Nirvaṅa : Symbols : (i) Sword (Khaḍga)
(ii) Shield (Khataka)
(iii) Club(Gadā)
(iv) Varadamudrā

(3) Pratiṣṭha Sāraddhara : Book (Pustaka)

(E) Bṛhaspati

(1) Acara : Book (Pustaka hastaya)
Vehicle : Swan (hanisavahana)

(2) Nirvaṅa : 4 armed : Symbols
(i) Rosary (aksasutra)
(ii) Staff : (daṇḍa)
(iii) Kamaṇḍalu
(iv) Varadamudrā

(3) Pratiṣṭha : (i) Books
(ii) Rosary
(iii) Kamaṇḍalu
(iv) Vāhana : Lotus

(F) Śukra

(i) Acara : Symbol : Urn (Kumbha)
Vehicle : Snakes (Uruga Vahana)

(ii) Pratiṣṭha : Symbols : (a) Three-fold thread
(b) Snake
(c) Noose
(d) Rosary

(G) Śani

(1) Acara : Symbol : Axe (Parsuhastya)
Vehicle : Tortoise

(2) Pratiṣṭha : Symbol : Three-fold thread

(H) Rāhu

(1) Acara : Symbol : Axe (Paksu)
Vehicle : Lion (Singhavahana)

(2) Pratiṣṭha : Symbol : Flag (Dhvaja)

(I) Ketu

Svetāmbara : Vehicle symbol = Snake

If we add the canonical injunctions of other religions like Buddhism and Brahmanism along with the regional variations to the aforementioned Jaina dogmas, Navagraha is bound to present a bewildering spectacle of

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

innumerable varieties. It is not possible to deal with all iconomorphic varieties, fashioned as per various iconographic texts in this brief communication. Nevertheless we propose to depict at least one graha say, Śani to have a comparative idea of the state of affairs prevalent in this regard:

Serial	Text	Symbol	Vehicle
(1)	Acara (Svetambara)	Axe	Tortoise
(2)	Pratistha (Digambara)	3 fold thread Rod	
(3)	Nispanna Yogavati (Buddhist)	Danda	Tortoise
(4)	Agni Purara (Brahmanical)	Girdle of Bells	Black Chariot
(5)	Visnudharmottara (Brahamanical)	Staff and Rosary	Chariotic Shorso
(6)	Silpa (Brahamanical)	Staff and Varadamudrā	Lotus

Tiwary[4] points out that the basic structure of the Jaina Pantheon is supposed to have developed by the end of 5th Century AD. But we shall presently see that the Navagraha panels find a place only in the developed pantheon in early medieval period. In fact, the detailed description of the iconographic features sarted in the Jaina texts from the 8th to the 12th century AD.

Quite a good number of planetary panels (either in 8th or 9th seriatum) are depicted in relation to Jaina icons of temples in different parts of Gujrat (Kathiawar peninsula), Rajputana, Central India, UttarPradesh, Bihar, Bengal, Orissa. From that reckoning the Navagraha Jaina art possesses a pan-Indian dimension. For example, on the throne of the Lilvadeva temple, Panch Mahal, Gujrat, we find the panel along with Ambika Yaksi. It belongs to the 10th century AD. In Khajuraho Digambara temple of Parsvanath, in Devagadh Digambara temple of Santinātha and in Khanerao Svetambara temple of Mahavira, we come across Navagraha panels belonging to the 10th century. In Mathura museum we find a panel of Aṣṭagrahas by the side of the main deity i.e. Vṛsabha. This panel belongs to the 11th century AD. In Aluara (Bankura, Bengal), 5 icons of Mahavira have been recovered. In one of them, one can notice Navagraha panel. All these images belong to 10th-11th century AD. In this connection, one refers to dancing Navagrahas fastened in the lower-most pedestal of a Śantinātha image preserved in Fyzabad Museum.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

From the foregoing, one can notice that the Jaina planetary panels emerged during the early medieval period. Banerjee contends that Navagraha reliefs were a medieval convention practised as a prophylact measure for the safety of the temples. In this connection, he refers[5] to the earliest extant Navagraha Sculpture of a late Gupta fragmentary Sandstone relief from Sarnath.

Shastri refers to Varahamihir's injunctions for the preformance of grahaśānti or grahayajña before launching on a military campaign. As pointed out at the outset that the planetary concepts practised by the sculpture is born out of astrological concept. Indian astrological texts i.e., Jyotiṣāstra made significant progress paticularly in relation to planetary dogmas and started taking shape in the form of siddhantas in 5-6th century AD. This period is synchronized with the advent of a number of scholars like Aryabhatta (476 AD), Varahamihira (500 AD), Bramhagupta (575 AD). This period closed with Bhaskaracarya who flourished before the advent of the Turko-Afgan rule in India. It is interesting to point out that King Ballala Sen of Sen Dynasty—a contemporary of Bhaskara wrote Adbhuta Sagara, an astrological treatise. Similarly, another King of early medieval period, King Bhoja of Dhara was a great scholar of Jyotiṣa and compiled an astrological text known as Bhoja Saṃhitā.

But in India, astrology was a despised profession earlier. Buddhist text Brahmajālasutta, Jaina Scripture Uttarādhyayana Sūtra and Brahmanical code Manusmṛti-all castigated astrology in unequivocal terms. Farrington describes the similar position in relation to early Greek civilization and astrology. He even mentions about the police measures against the astrology. But the position changed with the inter emperors like Theberius, Nero and others who extended patronage to them. As mentioned above, Indian situation changed so fundamentally that some of the kings were themselves astronomers. It was raised to the status of Royal profession i.e., Rāja-Jyotiṣa. Varahamihira enjoins upon the rulers to follow his following injunctions :

"A king, who desires to maintain fame and all round success, must engage the services of astrologers who are clever in the science of prognostication."[6]

Dealing with the chronology of the nodal point of the change, Filliozat pointed out that earlier Indian astronomy was strictly cosmographical; but during the first century AD, through influences from Mesopotamia and Greece later became astrological.[7]

Similarly Macdonnel noted that as a result of Greek influence this change started taking place from 200 AD[8].

This metamorphosis can be synchronized with the transition from antiquity to medievalism in Indian History. According to Yadava, the central

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

phase of this transition appears to have commenced from the sixth century AD – specifically from the declining days of the Gupta empire. Basing himself on the Buddhist account of Kaliyuga from Lankavatara Sutra, Yadava equates this period of Kaliyuga with the medievalism.[9]

To discuss the significance of this co-relation between astrology and medieval is beyond the scope of the present article. At the same time, we like to refer to Dr. R. C. Hazra's observation that from the sixth century AD. Purtadharma, which involved the building of temples, tanks, works of public utility, was emphasised as the highest mode of religion.[10]

One can accrue, as Agni Purana points out, various types of benefits by erecting corresponding types of temples. For example, by building temple, a golden temple, one is freed from all sins. So, there is upswing in the temple-building activities during this period and we have already pointed in the foregoing that the planetary panels were fashioned for the protection of the temples. One can point out that the above reference is concerned with the Brahamanical rituals. So, how Jaina tradition comes into the picture in the Brahmanical milieu. Despite the differences in iconographic features of Navagraha icons, astrology and hence the cult of Navaraha, both Jaina and Buddhist traditions are derived from Brahmanical dogmas.

References :

1. Sacred Book of East, Jaina Sutras, p. 227
   Uttarādhyayana- Translated by Herman Jacobi
2. Ibid. p. 226
3. The Jaina Iconography by B.C. Bhattacharya, 1974, p 9–10
4. Jaina Pratimā Vijñan by Dr. Maruti Nandan Prasad Tiwary, p 249
5. The Development of Hindu Iconography by J.N. Banerjee, p. 144
6. Encyclopaedia Britanica, Vol. II, p. 641
7. Studies in the History of Science, Edited by Dr. D.P. Chattopahaya, p. 772
8. India's Past by A.A. Macdonnel
9. Indian Historical Review, Vol. V : The Accounts of the Kaliyuga of Social Transition from the Antiquity to Middle Ages by Dr. B. N. S. Yadava
10. Art under Feudalism in India by Dr. Devangana Desai

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Trade in the Samarāich-chakahā : Text and Context

Dr. Vijay Kumar Thakur[*]

The study of trade in early medieval complex has two distinct parameters—the empirical scenario and the theoretical underpinnings. The contradictory nature of formulations in recent writings on the theme indicate to some extent the state of art. The theoretical moorings of the debate on the nature of early medieval economic formation in India is deeply entrenched in the semantics of Indian feudalism. This imparts more significance as well as a greater vulnerability to the study of trade complex during the period. Major studies on the theme have assumed dichotomous positions—in the process either deliberately or otherwise—some supporting the new social formation by constructing a picture of weak commercial mechanism and others opposing it by positing the currency of a well organised and meaningful economic system. The empirical base of all such analyses needs strenghthening in order to make the formulations more relevant and historically sound. The present paper, by making a detailed analysis of references to trade in the *Samarāichchakahā* of Haribhadra Sūri, seeks to enhance the data-base of early medieval commercial enquiries in terms of the theoretical framework of the contemporary feudal formation. This text, a Jaina *Dharmakathā*, expounding religious precepts in the garb of stories generally woven around the life of a merchant, directly touches upon the major aspects of contemporary trade and commerce. It is generally accepted that the text was composed sometime towards the 8th and the beginning of the ninth centuries A. D.[1] This chronological stratum, due to its contemporaniety with the inaugural phase of a new social formation in the history of the region, further enhances the value of this text in the present context.

The text refers to long distance trade in a number of *kathās*. Traders of one area have been described as visiting another area of the sub-continent. A merchant named Dharaṇa, a resident of the city Mākandī, went to Achalapura, sold his goods by earning a profit, spent some time in making

* Department of History, Patna University, Patna-800 005.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

the purchase and sale of local commodities, and finally returned with merchandise fit for trade at Mākandī.[2] The text records the merchantile connections of Amarapura with Lakṣmī Nilaya, Suśarma Nagara, Vairāta Nagara, etc.[3] Śrāvastānd Ujjayinī have been mentioned as centres of commercial activities visited by merchants from different directions.[4] Despite references to long distance internal trade, the *Samarāichchakahā* does not indicate the existence of an organised mercantile complex during the period. The stories mostly give the impression of isolated efforts being made by traders in an atmosphere that was not congenial for trade and commerce. References to caravan trade, instead of contradicting this suggestion, support it. The uncertainties and the hostile climate made it incumbent upon the traders to move in groups.[5] At one place in the text, the leader of the caravan, the *sārthavāha*, tells the fellow travellers, when they had gathered for the journey, the advantages of the route that he proposed to take and gave them a number of instructions for their guidance.[6] These are, as suggested earlier, scattered references to contemporary trading activities and by their very nature they suggest the absence of any organized all-India trading network during this period. It is ironical to note that the text, despite numerous mentions of internal trading centres, is almost totally silent about the routes frequented by the merchants. Major trade–routes of the pre-A.D. 600 phase are not known, a fact that may suggest a significant decline in trade as these roads had certainly fallen into disuse by this period.

The road conditions were also bad,[7] a fact that will suggest either the withdrawal from or lack of capacity of the political authority to control the situation. The traders were constantly threatened by robbers and petty feudal lords.[8] "The Physical dangers of long-distance traffic had considerably increased owing to the activities of professional robbers also during the early medieval period."[9] Significantly Hiuan-tsang, who came to India in the 7th century AD, could not travel with such safety as Fa-hien, who had visited India in the Gupta period. This is an indubitable commentary on the growing insecurity of the highways. Many texts of the period, e.g. the *Upamitibhava-prapañchakahā*, the *Kathāsaritasāgara*, the *Triṣaṣṭiśalākāpuruṣa-charita*, etc., describe the travelling merchants' fear of robbers.[10] The *Samarāichakahā* also refers to such dangers pointedly. The Śabaras, who had taken to dacoity and violence,[11] often plundered the caravans, killed men and cows mercilessly, and captured people for high ransom.[12] Though the *Samarāichchakahā* does not contain many mention of this group, yet it is certain that they, through their extremely violent and unorthodox posture, created an atmosphere of insecurity in the regions of the Vindhyas and the Aravalis as well as near the other forest and hilly regions where they lived.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Politically volatile, they created serious problems for the trade of the region. The story of Dharaṇa recounts the catastrophe graphically. The merchant, after earning huge profits, stopped in a forest on his return journey. The members of the caravan slept after arranging for the watch. The Śabaras attached the caravan in the midnight, killed many merchants and looted their goods.[13] The political authority was too weak to do anything about it as we keep on getting similar references in other contemporary sources as well.

The *Samarāichchakahā*, true to the fractured nature of the urban economy that it is referring to, makes two casual mentions of items of trade.[14] The first list includes ivory, liquor, lac, *chanwara* and poison,[15] while the second names *dhana-dhānya, hiraṇya, suvarṇa, maṇi-muktā-pravāla, dvipada* and *chatuṣpada.*[16] It is needless to mention that the items of the first list have nothing to do with the day-to-day requirements of the people. The same is also true of the items of the second list. These are all highly priced luxury articles. The term *dhana-dhānya* may be interpreted as grain, but this will possibly be a misreading of the text. The term, occurring alongwith gold, gems, precious stones and birds and animals, does not signify grain but it refers to wealth in general. The non-utilitarian and luxury oriented nature of trade is clearly borne out if this list is compared with the list of commodities given by Nārada in the preceding period. The latter's list includes milk, sour milk, clarified butter, honey, bees-wax, lac, pungent condiments, liquids used for flavouring, spirituous liquor, meat, boiled rice, sasamum, juice of the soma plant, flowers, fruits, precious stones, men and women (as slaves), poison, weapons, salt, cakes, plants, garments, silk, skins, bones, blankets, animals, earthen pots, buttermilk, vegetable, ginger, herbs, dry wood, grass, fragrant substances, ingudi plant, cotton, thread and articles of metal.[17] That the *Samarāichchakahā* is describing an internal trade system that was basically luxury-oriented is also corroborated by the huge margin of profits earned by the merchants engaged in it. Thus, Dharaṇa made an eightfold profit by selling his goods at Achalapura. But this was the beginning. His stay at the place for four months and involvement in the local commercial transactions earned him more profit. The profits must have been multiplied many-fold if he would have safely returned to Mākandī with the commodities purchased at Achalapura.[18] This was a huge profit margin, something that was impossible to be earned in course of trade in utilitarian objects. The text, thus, indicates a sluggish trade mostly confined to luxury items.

The constricted nature of trade is reflected by an increasing emphasis on the localisation of commodity exchange. The *Samarāichchakahā*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

frequently refers to the *haṭṭas*,[19] which were local centres of exchange. These places were decorated on special occasions, possibly during religious and community festivities. This may underline the periodical increase in their importance and may suggest their nature as fairs. That the itinerant traders visited these *haṭṭas* is apparent from the Pratihāra and the Paramāra records.[20] These were the centres of utilitarian commodity exchange and cotton, wheat, rice, butter, etc., could be procured from here.[21] These places were under the supervision of local chiefs and this may explain the proper arrangements made at such centres.[22]

The localisation of trade adversely affected the external trade mechanism. The *Samarāichchakahā* informs us that the big merchants of the region used to trade with foreign countries[23] in the hope of earning greater profits.[24] They frequented the islands of Mahākaṭāha, Simhala, Suvarṇa and Ratna besides China.[25] The basic *modus operandi* was to purchase the local goods and return to the mother country. At times, they also offerred presents to the local kings to seek their permission and get a tax remission.[26] The story of Dhan informs us that one Nanda taking the presents went ashore to see the king when the ship reached Mahākaṭāha. The king was pleased and provided him the necessary hospitality to carry on trade in the area.[27] The same story also points out the importance of Mahākaṭāha,[28] i. e. Kedah, in western Malaya, in contemporary trade mechanism of India. Other stories relate to the frequent visits of merchants to Suvarṇabhūmi.[29] A host of contemporary texts confirm the mercantile connections with Suvarṇabhūmi and Mahākaṭāha.[30] The contact with China does not seem to be uni-centred as the text refers to a sailor, Suvadana, coming from China and proceeding to Devapura *via* suvarṇadvīpa.[31]

The stories of the *Samarāichchakahā*, besides outlining the difficulties involved in trade with China and South-East Asia, focus on the locational centrality of Śrī Lankā in this trade mechanism. This place had a basic advantage in terms of the position of monsoon which made direct communication between Śrī Lankā and the Malaya straits possible since the beginnings of the Christian era. The itineries of both Fa-hien and I-tsing testify to this position.[32] Cosmos underlines its central position in the transit trade between the east and the west.[33] The *samarāichchakahā* records the daily sail of ships from Suvarṇabhūmi for Simhaladvīpa.[34] It was from Tāmralipti and Baijayantī, the two big ports on the eastern coast of India, that the ships sailed to and from Śrī Lankā, Mahākaṭāha and China.[35] These references, however, need a reappraisal in the light of known historical facts. The text refers to trade with China but it is fairly certain that this trade was becoming marginal during the period. India is not included in the list

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

of countries which, according to the Sung Annals, were trading with Canton in A.D. 971.[36] By the end of the 8th century A.D., China seized to play any meaningful role in India's external trade network. The references to the two major ports in the *Samarāichchakahā*, Tāmralipti and Baijayantī, do not help us much. While the first had decayed by the beginning of the 8th century A.D., the second is yet to be identified with any known port of the times. Obviously one is forced to conclude that these stories of the *Samarāichchakahā* cannot be taken as portraying the true picture of contemporary foreign trade; they are heavily burdened with the traditional perception of such contacts. The references to South-East Asia, however, seem to be more realistic. The text refers to the list of imports from this region, an information that is not forthcoming in the context of China. The items include camphor, areca-nuts, betel plants, sandal trees, *lavanga lavati,* coconut plantain, *panasa, piṇḍakharjūra, rajatali, tamala* and *mandara*[37] besides blocks of gold marked with the names of the merchants carrying them.[38] The exports included pots of gold and jewels.[39] This becomes incomprehensible in the light of universal references to South-East Asia, not India, as the land of gold. That the Indian merchants brought gold and precious gems form this region and transhipped them back to earn greater profits seems to be the only explanation, though admittedly not very plausible.

The weakened nature of Indian foreign trade is also apparent from the weak technology of Indian shipping *vis-a-vis* that of the Arabs and the Chinese. The *Samarāichchakahā* illustrates this situation by recording that the ship sailing from Tāmralipti reached Suvarṇabhūmī in two months.[40] Lallanji Gopal, basing his deduction on this evidence, rightly points out the speed limitations of the Indian ships and the fact that they lagged behind the Arab and the Chinese ships in this regard.[41] In comparison to the two months' taken by the Indian ship, the Chinese ship, as he suggests, took a month's time to reach Ku-lin (Quilon) from Lāna-li (extreme northwest coast of Sumātrā),[42] and an Arab ship also took the same time in reaching Kalah bāra (Kedah) from Kulam Māli (Quilon).[43] This suggestion has been rejected by V. K. Jain on purely hypothetical grounds,[44] though he himself admits the dominance of these non-Indian groups in the field.[45]

The medium of exchange, as occasionally hinted at in the *Samarāichchakahā*, also points to the limited nature of the contemporary urban economy. The *dīnāra* has been mentioned in the text,[46] but these references do not relate to either any actual purchase or sale nor to a

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

valuation of commodities. These are invariably mentioned as a measure of wealth[47] indicating thereby the conventional nature of these references. The text also refers to *soḍaṣasuvaṇṇa*'[48] but the non-prevalence of gold coins during the period is too well known a fact of Indian history to require any comment in the present context. Despite these references, the system of barter seems to have been the basis of the exchange mechanism. The text frequently tells us about merchants visiting distant parts of the country and exchanging their own merchandise with the wares of those regions.[49] The same system operated at the *haṭṭas*, as well. The references to coins in the text, therefore, sound conventional and in tune with similar mentions in the contemporary inscriptions. The reversal to barter system, as illustrated by the text, is indicative of languishing trade and declining urban tradition; the developments when viewed in their totality reflect the feudal *milieu* of the times.

The *Samarāichchakahā*, no doubt, refers to urban centres and mercantile activities, but the nature of such literary references need to be properly appreciated before constructing contemporary formation. It has been pointed out by B. N. S. Yadav that literary depictions of cities in the Gupta and post-Gupta times become almost conventional.[50] "In the description of Ujjayinī in the *Pādatāḍiṭakama* (c. 6th-7th century A.D.), the *Kādambarī* (7th century), and the *Navasāhasānkacarita* (10th century), of Kuṇḍinapura in the *Nalacampū* (10th century) and the *Naiṣadhīyacarita*, of Rāmāvatī in the *Rāmacarita* of Sandhyākara Nandī, of Pravarapura in the *Vikramāṅkadevacarita* of Bilhaṇa, of Ajmer in the *Pṛthvīrājavijaya*, and of Aṇahillapura, or Anhilvāḍa, in the *Kumārapālacarita* and the Kīrtīkaumudī, one can notice to some extent the same conventional type of approach."[51] References to trade and currency system, as borne out by the analyses of textual mentions, also seem to have been influenced by a similar style of conventionalisation and repetition. The early medieval texts, composed during a period devoid of either significant commercial activities or strong urban tradition, drew its motifs from earlier texts and superimposed them on the contemporary reality.

The nature of commercial economy illustrated in the *Samarāichchakahā* is in correspondence with the context of the text. The late 8th and the early 9th centuries A.D. represent the mature phase of Indian feudal formation, a development that finds distinct echoes in the text. The administrative structure, as constructed on the basis of scattered references in the text, contains strong feudal elements. The *sāmanta* system is fairly well known. These *sāmantas* were subservient to the kings[52] and have been called,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

at least once in the text, as tax-paying rulers.[53] They had their own armies and forts.[54] Even the *sāmanta* group was hierarchical in composition. The *Samarāichchakahā* refers to the *mahāsāmantas* who were the masters of numerous *sāmantas* and very close to the king.[55] This text contains one of the earliest mentions of the term *ṭhakkura* in western India,[56] a fact that underlines its feudal traits. It is pertinent to note in this context that R.S. Sharma takes *ṭhakkura* as a common feudal epithet that was "applied indiscriminately to officials of different castes and categories."[57] Significantly in the feudal society the caste considerations came to be superseded by the feudal ranks. The *Samarāichchakahā*, obviously familiar with this new change in social hierarchy, informs that even a lowly placed aboriginal śabara, after beoming a *sāmanta*, was accepted as *sambandhin*, or kinsman, by the family members of the overlord and other *sāmantas*.[58] The text also refers to the lord-vassel relationship. Thus, while extending help to his śabara vassal, king Kumārasena declares, "He has become my liegeman. Hence even though he has been doing reprehensible things, I cannot be indifferent when he engages himself in fight."[59] The text also introduces an element of paternalism in the lord-vassal nexus as Guṇachandra says to Vigraha, a vassal of his father, Maitribala, "You are liegeman of my father. Hence you are my elder brother."[60]

In tune with the feudal polity of the times, the council of ministers was gaining in power *vis-a-vis* the king. Besides extending advise to the king, they also supervised judicial administration.[61] That the council of ministers as well as the bureaucracy admitted of hierarchical structure is evident from the currency of designations like *mantrin*,[62] *mahāmantrin*,[63] *amātya*[64], *pradhāna amātya*[65], *sachiva*[66] and *pradhāna sachiva*.[67] The *sāmantas* and the *mahāsāmantas* not only kept their own armies but also helped their overlords in case of war.[68] References to the *pañchakula*[69] suggest weakening of the central authority on the one hand and the rise of local units of administration on the other. Thus, numerous references to the feudatory system, growing powers of the council of ministers, lord-vassal relationship, feudal ranks determining social status, graded system of bureaucracy, feudalisation of the military structure and the emergence of local units of administration are sufficient indicators of the feudal structure that the *Samarāichchakahā* is contextually rooted in.

The above survey, by making a content analysis of a purely religious text, focuses upon an interesting aspect of early medieval India. It lays bare the dynamics of social formation during the period. The indubitable feudal context of the *Samarāichchakahā* has a distinct bearing on the nature of economy emerging from the descriptions of the text. Commercial activities

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

are referred to but in a typical conventional manner. Trade and currency system assume an ambivalent nature. The descriptions are primarily stereotype. They clearly testify to weakened urban economic activities and this is in consonance with the feudal complex that had crystallised by that time.

References :

1. Kalpana Jha, *Urbanisation in Early Medieval North India : An Analysis of the Samaraichchakaha*, Patna, 1990, pp. 29-32.
2. M. C. Modi (ed.), *Samarāichchakahā*, Ahmedabad, 1935-36, Introduction (henceforth referred to as *SK*).
3. *Ibid.*, III, p. 172; IV., pp. 240-241, 256, 261, 285, 287.
4. *Ibid.*, IV, pp. 257, 286-287.
5. *Ibid.*, IV, p. 242, VI, pp. 504, 509, 511-512, 535, 537, 553-554, 554-555, VII, pp. 656, 658, 666-667, 672.
6. *Ibid.*, p. 476 ff.
7. *Ibid.*, VI, pp. 511-512; VII, pp. 656-658.
8. B.N.S. Yadav, *Society and Culture in Northern India in the Twelfth Century*, Allahabad, 1973, pp. 271-272.
9. *Ibid.*, p. 272.
10. *Ibid.*
11. *SK*, VII, pp. 655-679.
12. D. Sharma (ed.), *Rajasthan through the Ages*, Vol. I, Bikaner, 1966, P. 428; *SK*, VI, 511-512.
13. *SK*, VI, p. 510 ff.
14. *Ibid.*, I, pp. 39-63.
15. *Ibid.*, p. 63.
16. *Ibid.*, p. 39.
17. *Nāradasmṛti*, I, 61-64-65.
18. *SK*, VI, p. 510 ff.
19. *Ibid*, IV, p. 260; VII, pp. 714-717; IX, p. 858.
20. *Epigraphica India*, Vol. XX, p. 55.
21. *Ibid.*, Vol. XXI, p. 48. This *haṭṭa* was managed by a *maṇḍala (Archaeological Survey of India, Annual Report*, 1936-37, p. 91).
22. *SK*, IV, p. 260; VII, pp. 714-717, IX mp. 858.
23. *Ibid.*, V., p. 498.
24. *Ibid.*, IV, pp. 246, 251, 268; VI, pp. 539-540.
25. J. Yadav, *Samarāichchakahā : Ek Sāmskritika Adhyayana*, Varanasi, 1977.
26. *SK*, VI, pp. 509, 551, 562.
27. *Ibid.*, IV, pp. 250, 259.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

28. *Ibid.*
29. *Ibid.*, V, pp. 397-398; VI, pp. 540, 543.
30. J. Yadav, *op.cit.*, p. 168; L. Gopal, *The Economic Life of Northern India*, Delhi, 1965, p. 136,ff.
31. *SK.*, VI, p. 540.
32. L. Gopal, *op.cit.*, p. 123.
33. *Christian Topography* (ed. J.W. McCrindle), Westminister, 1901, p. 365.
34. *SK*, IV, pp. 327-328.
35. Moti Chandra, *Trade and Trade Routes in Ancient India*, New Delhi, 1977, p. 193.
36. Chau Ju-Kua, p.19, cited in L. Gopal, *op.cit.* p. 133.
37. Cf. L. Gopal, *op.cit.*, p. 155.
38. *SK*, VI, p. 515 ff.
39. *Ibid.*, IV, pp. 240-241, 241-242-247, 286-287, 283; VI, pp. 551, 558, 558, 561, 586-587.
40. *Ibid*, IV, p. 327.
41. *Op.cit.*, p. 126.
42. Chau Ju-Kua, p. 89, cited in L. Gopal, *op.cit.*, p. 126
43. G.F. Hourani, *Arab Seafaring in the Indian Ocean in Ancient and Early Medieval Times*, Princeton, 1951, pp. 74-75.
44. *Trade and Traders in Western India*, New Delhi, 1990, p. 88.
45. *Ibid.*, p. 81ff.
46. *SK*, II, p. 114; III, p. 171; IV, p. 267; VI, p. 509; etc.
47. *Ibid*, II, p. 114; VIII, p. 746.
48. *Ibid*, IV, p. 244; VI, p. 558.
49. *Ibid*, VI, p. 516, cited in L. Gopal, *op.cit.*, p. 215.
50. *Op.cit.*, p. 240.
51. *Ibid.*, pp. 240-241.
52. *SK*, II, p.147; V, pp. 365, 383, 481, 482, 485, 487; VII, pp. 633, 635, 694; VIII, p. 841, etc.
53. *Ibid.*, VII, p.726.
54. *Ibid.*, II, pp. 79-83; V, p. 472.
55. Cited in V. K. Jain, *op.cit.*, p. 214, fn. 42.
56. *Indian Feudalism:* c. 300-1200, Calcutta, 1965, p. 197.
57. Cf. B.N.S. Yadav, *op.cit.*, p. 172.
58. Cf. D. Sharma (ed.), *op.cit.*, p. 339, fn.2.
59. *Ibid.*
60. *SK*, IV, pp. 257-258, 258-259, 262.
61. *SK*, IV, pp. 257-258, 258-259, 262.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

62. *Ibid*, I, pp. 21, 68, etc.
63. *Ibid*, II, pp. 145, 151; etc.
64. *Ibid*., II, p. 146; III, p. 196; etc.
65. *Ibid*., VII, pp. 693-694, 694-695.
66. *Ibid*., III, p. 196, IX, p. 881.
67. *Ibid*., IX, p. 882.
68. *Ibid*., IX, p. 882.
69. J.Yadav, *op.cit.*, p. 55.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन पुरातत्त्व-सन्दर्भित विदेह और मिथिला

डॉ. प्रफुल्ल कुमार सिंह 'मौन' *

बिहार को जैन तीर्थंकरों की जन्म, तपःसाधना, धर्मोपदेश, वर्षावास, संगीति एवं निर्वाण-भूमि होने का सौभाग्य प्राप्त है। इन तीर्थंकरों में प्रथम ऋषभनाथ (आदिनाथ) थे। अन्तिम चौबीसवें तीर्थंकर वर्धमान महावीर वैशाली की विभूति थे। बिहार छह तीर्थंकरों की जन्मभूमि है। बारहवें तीर्थंकर वासुपूज्य का जन्म चम्पापुरी (अंग), उन्नीसवें मल्लिनाथ और इक्कीसवें नेमिनाथ का मिथिलापुरी (विदेह), बीसवें मुनि सुव्रतनाथ का राजगृह और चौबीसवें महावीर का जन्म वैशाली में हुआ था। जैन मान्यता के अनुसार शीतलनाथ का जन्म भद्दिलपुर में हुआ था, जो आज हजारीबाग-परिक्षेत्र में पड़ता है। बाईस तीर्थंकरों ने गिरिडीह-परिक्षेत्र के सम्मेद शिखर, अर्थात् पारसनाथ की पहाड़ी पर, और वासुपूज्य ने चम्पापुरी तथा महावीर ने पावापुरी में निर्वाण प्राप्त किया था।

चौबीस तीर्थंकरों में पार्श्वनाथ (८४०-७४० ई. पू.) तथा महावीर (५६१-४९० ई. पू.) की अवस्थिति को ऐतिहासिक आधार प्राप्त है। इतिहास की मान्य परम्परा के अनुसार वर्धमान महावीर (५६१-४९० ई.पू.) और गौतम बुद्ध (५७७-४८७ ई. पू.) समकालीन थे। पार्श्वनाथ के मतानुयायी महावीर का जन्म वैशाली के समीपस्थ क्षत्रिय कुण्डपुर या कुण्डग्राम में हुआ था। पिता सिद्धार्थ कुण्डपुर-नायक ज्ञातृवंशीय तथा माता त्रिशला विदेहदत्ता (वैशाली के गण प्रमुख चेटक की बहन) के नाम से प्रख्यात थी। 'कल्पसूत्र' तथा 'आचारांगसूत्र' में वर्धमान महावीर को 'विदेह', 'विदेहदत्त', 'विदेहाजात्य' और 'विदेहसुकुमार' कहा गया है।

पूज्यपाद-रचित 'देशभक्ति' (५वीं सदी), जिनसेन-कृत 'हरिवंशपुराण' (८वीं सदी), गुणभद्ररचित 'उत्तरपुराण' (९वीं सदी), दामनन्दि-कृत 'पुराणसंग्रह' (हस्तलिपि), सकलकीर्त्ति-कृत 'वीरवर्द्धमानचरित' (१५वीं सदी) आदि में महावीर की जन्मभूमि कुण्डपुर अथवा कुण्डग्राम (वैदेहकुण्डपुरे—पूज्यपाद) को विदेह विषय के अन्तर्गत (विदेहाख्ये विषये, विदेहविषये—गुणभद्र) माना है, जो भारतवर्ष में महाऋद्धि-सम्पन्न जनपद (अस्मिन् भारतवर्षे विदेहेषु महर्द्धिषु—दामनन्दि) प्रमुख सद्धर्मों की लीलाभूमि होने के कारण (सद्धर्मसङ्घैः विदेह इव राजते—सकलकीर्ति) विख्यात था। ऐतिहासिक दृष्टि से बुद्ध और महावीर के समय में वैशाली वज्जी या विदेह-संघ की राजधानी थी।

---

* आम्रपाली मार्ग, महनार (वैशाली)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतः वैशाली में जन्मधारण के कारण महावीर को 'वेसालीए' (वैशालीय) कहा गया है (सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन सूत्र)। वैशाली-उत्खनन से प्राप्त एक मृण्मुद्रा में अंकित 'वैशाली नाम कुण्डे कुमारामात्याधिकरण' (गुप्तकाल) से प्रमाणित होता है कि वैशाली के (वैशाली-स्थित क्षत्रियकुण्ड) इस कुण्ड की स्मृति चौथी-पाँचवीं सदी में भी शेष थी। आज का बासोकुण्ड उस ऐतिहासिक कुण्डपुर का स्मृति-अवशेष है। सुप्रसिद्ध चीनी बौद्ध यात्री ह्वेनसांग (६२९-६४५ ई.) के वैशाली-वृत्तान्त के अनुसार (६३७ ई.) वैशाली में निर्ग्रन्थों की संख्या अच्छी थी। वैशाली से प्राप्त जैन तीर्थंकरों की पालयुगीन (७७०-११९९ ई.) मूर्त्तियों में एक वैशाली के 'बौनापोखर' पर बने जैन मन्दिर में वर्षों से पूजित है। 'विविधतीर्थकल्प' (जिनप्रभसूरि, १४वीं सदी) में कुण्डग्राम को जैनतीर्थ कहा गया (खत्तिअकुण्डग्गामनयर, वेसालीवाणिअग्गा) है। ऋषभनाथ की प्राचीन मूर्त्ति (छठी सदी) रामचन्द्रशाही संग्रहालय, मुजफ्फरपुर में प्रदर्शित है। इस प्रकार (वज्जी) विदेह की राजधानी वैशाली (कल्पसूत्र) के कुण्डग्राम में छठी सदी ई.पू. में चौबीसवें (अन्तिम) तीर्थंकर वर्द्धमान का जन्म ज्ञातृकुल (जथरिया—राहुल सांकृत्यायन) में हुआ था। उनके उपदेश क्षत्रियों की उसी विद्रोही परम्परा में थे, जिसका उपनिषद्-काल में क्षत्रियों ने, विशेषकर काशी के राजकुल के पार्श्व ने ढाई सौ वर्ष पहले किया था और ये उपदेश जनभाषा में किये गये, जबकि उपनिषद्-कालीन क्षत्रिय-नेतृत्व ने संस्कृत को ही प्रश्रय दिया था। महावीर ने पहली बार जनभाषा (प्राकृत) का प्रयोग किया और इसी भाषा के माध्यम से सद्धर्म का प्रचार एवं प्रसार बज्जी-विदेह से मगध तक वे करते रहे। महावीर की भाषा-नीति को शाक्यसिंह अमिताभ बुद्ध ने भी (पालि) अपनाया। इस प्रकार वज्जी-विदेह और मगध-जनपदों में संस्कृत के समानान्तर सद्धर्म और तद्विषयक साहित्य की भाषा पालि (बौद्ध) तथा प्राकृत (जैन) बनी।

'वीरवर्धमानचरित' (सकलकीर्त्ति, १५वीं सदी) में तीर्थंकर महावीरकालीन विदेह और कुण्डपुर के विपुल सांस्कृतिक चित्र उपन्यस्त किये गये हैं। तदनुसार तद्युगीन भारत के विशाल सांस्कृतिक प्रदेशों में परिगणित विदेह-परिक्षेत्र में देव, मनुष्य और विद्याधरों से वन्दित तीर्थंकरों तथा सामान्य केवलियों की निर्वाणभूमियाँ पग-पग पर दृष्टिगोचर होती थीं। वहाँ के वन-पर्वत आदि ध्यानावस्थित योगियों द्वारा निरन्तर आसेवित थे और नगर-ग्राम आदि ऊँचे-ऊँचे जिन-मन्दिरों से सुशोभित थे। धर्म-प्रवृत्ति के निमित्त केवलज्ञान-प्राप्त तीर्थंकर तथा गणधर-संघ के साथ वर्षावास एवं तपोविहार किया करते थे। वैशाली, चेचर, गढ़अलौली (खगड़िया), चौसा, चन्दनकियारी, लोहानीपुर (पटना) आदि से प्राप्त तीर्थंकरों की मूर्त्तियाँ इसके उदाहरण हैं। ये जैन मूर्त्तियाँ कायोत्सर्ग तथा योगासीन दोनों मुद्राओं में बनी हैं, जिनमें योगासीन मूर्त्तियों को अधिक लोकप्रियता मिली।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बिहार से प्राप्त जैन प्रतिमाओं में लोहानीपुर से मिली तीर्थंकर की मौर्यकालीन खण्डित प्रतिमा (भारतीय कला को बिहार की देन : डॉ. वी. पी. सिन्हा) सर्वप्राचीन मानी जाती है। तीर्थंकर की इस प्रतिमा के सिर, हाथ तथा जाँघ से नीचे के पैर खण्डित हैं। मूर्त्ति पर उत्तम चमकीली पालिश है। तंग वक्षस्थल, चौरस पीठ, क्षीण काया आदि जैन परम्परा एवं कायोत्सर्ग-भंगिमा के अनुकूल हैं। आरम्भिक तीर्थंकरों की कायोत्सर्ग-मूर्त्तियाँ प्रायः नंगी मिलती हैं। चौसा से प्राप्त ऋषभदेव (आदिनाथ) की कांस्यमूर्त्ति (पालकालीन) कायोत्सर्ग-स्थिति में नंगी बनी है। सिर के बाल तरंगवत् लकीरों में चित्रित हैं तथा मुखाकृति कठोर है। किन्तु ऋषभनाथ की महेत (गोंडा) से प्राप्त प्रस्तर-मूर्त्तियाँ योगासीन स्थिति में बनी हैं। पद्मासन के नीचे सिंह और वृषभ बने हैं। हृदयस्थल पर धर्मचक्र बना है। ऋषभनाथ के दोनों ओर पार्श्व-देवताओं की तरह दो अनुचर खड़े हैं।

चन्दनकियारी से मिली पार्श्वनाथ की कांस्यमूर्त्ति (कायोत्सर्ग, पालकालीन) उल्लेखनीय महत्त्व की है। तीर्थंकर नेमिनाथ की प्राचीन प्रस्तर-प्रतिमा ग्वालियर से मिली है। नेमिनाथ पद्मासन पर योगासीन स्थिति में हैं। आसन के नीचे सिंह, पार्श्वों में पार्श्वदेव, हृदयस्थल पर धर्मचक्र, मस्तक छत्र-मण्डित। यह प्रतिमा शिल्प की दृष्टि से प्रतीकात्मक है। इस इक्कीसवें तीर्थंकर का जन्म प्राचीन विदेह की राजधानी मिथिलापुरी में हुआ था। जैन तीर्थंकरों की परम्परा में प्रतिष्ठित उन्नीसवें तीर्थंकर मल्लिनाथ का भी जन्म मिथिलापुरी में हुआ था। जिनप्रभसूरि ने 'विविधतीर्थकल्प' में मिथिला में जनमें इन दो जिनों के पाद-पद्मों में अपना प्रणाम (मिथिलातीर्थकल्प) निवेदित किया है : . . . . . नईओ अमहुरोदगा पागयजणा वि सक्कयभासविसारया अणेगसत्थपसत्थअइनिउणा य जणा। तत्थ रिद्धित्थमिअसमिद्धा मिहिला (पाठान्तर : महिला = मिथिला) नाम नगरी हुत्था। संपयं जगइ त्ति पसिद्धा।...इत्थय मल्लिनाहचेईए वइरुट्टा देवी कुबेरजक्खो अ, नमिजिणचेईए गंधारीदेवी भिउडीजक्खो अ, आराहयजणाणं विग्घे अवहरंति त्ति।. . . .

तदनुसार भारतवर्ष के पूर्व देश में विदेह-जनपद है। सम्प्रति इसे 'तिरहुत देश' कहा जाता है। यहाँ का जनसाधारण संस्कृतज्ञ तथा शास्त्रनिपुण है। यहाँ अनेक ऋद्धियों से समृद्ध मिथिला नाम की नगरी थी। सम्प्रति यह 'जगइ' (जगती) के नाम से प्रसिद्ध है।. . . . यहाँ जैनों के मल्लिनाथ चैत्य में वैरोट्या देवी और कुबेर यक्ष तथा नेमिजैन चैत्य में गान्धारी देवी तथा भृकुटीयक्ष आराधकों के विघ्नों का हरण करते हैं।' (मिथिलापुरी का अभिज्ञान : प्रो. उपेन्द्र झा)

मिथिलापुरी में उद्भूत जैन तीर्थंकर मल्लिनाथ की माँ प्रभावती तथा पिता कुम्भराज और नेमिनाथ की माँ वप्पादेवी (विप्रा) तथा पिता विजयनृप थे। 'तिलोयपण्णत्ति' में मल्लिनाथ और नेमिनाथ के जन्म, दीक्षा और वैराग्य-प्राप्ति की विस्तृत जानकारियाँ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपलभ्य हैं। 'हरिवंशपुराण' में बलि और विष्णुकुमार की कथा मिलती है। 'कथाकोश' (हरिषेण) के अनुसार मिथिला के पद्मरथ, सुधर्म गणधर से प्रभोवित तथा तीर्थंकर वासुपूज्य से दीक्षित होकर उनके गणधर बन गये (बोधचक्र : सं. डा. मौन : डा. रामप्रवेश)। 'आदिपुराण' (भगवज्जिनसेनाचार्य) के अनुसार मल्लिनाथ और नेमिनाथ ऋषभदेव के वंशज थे। इन जैन तीर्थंकरों के अहिंसामय उपदेशों ने मिथिलापुरी के जनमानस को उद्वेलित कर दिया था। डा. उपेन्द्र ठाकुर ने ('स्टडीज इन जैनिज्म ऐण्ड बुद्धिज्म इन मिथिला') इस सन्दर्भ के तथ्यों का विशेष अध्ययन प्रस्तुत किया है।

डॉ. जनार्दन मिश्र (भारतीय प्रतीक-विद्या) ने ग्वालियर से प्राप्त जैन तीर्थंकर नेमिनाथ की प्राचीन प्रतिमा का उल्लेख किया है, जिसके मस्तक पर त्रिशक्ति का प्रतीक त्रिच्छत्र तथा मस्तक के पीछे प्रभामण्डल के रूप में धर्मचक्र बना है। आधुनिक शोध-बोध के अनुसार सांस्कृतिक जनपद-विदेह और उसकी मिथिलापुरी जैनसन्दर्भों में भी चर्चित रही है। श्री बलभद्र जैन (भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ, भाग २) ने मिथिलापुरी के जैन सन्दर्भों की विस्तृत चर्चा की है।

'मज्झिमनिकाय' के अनुसार जनकवंश के अन्तिम राजा कराल जनक बुद्ध और महावीर के समकालीन थे। विदेह की राज्यक्रान्ति के बाद कराल जनक के अन्त के साथ बज्जीसंघ में विदेह के अन्तर्भुक्त हो जाने से बज्जी-विदेह की राजधानी वैशाली में केन्द्रित हो गई (मिथिलाक सांस्कृतिक इतिहास : प्रो. राधाकृष्ण चौधरी)। राजशक्ति वैदेहों के हाथ में थी। गणपति चेटक तथा सिंह सेनापति वैदेह थे। तीर्थंकर महावीर की माँ विदेहदत्ता त्रिशला चेटक की बहन थी। इस वैवाहिक सम्बन्ध ने बज्जी-विदेह की राजनीतिक शक्ति को सुदृढ़ बनाया। त्रिशला और ज्ञातिक कुशल राजा सिद्धार्थ पार्श्वनाथ के अनुयायी थे। बारह वर्षों की कठिन तपस्या के बाद वर्धमान को ऋजुपालिका के उत्तरी तट पर कैवल्य-ज्ञान प्राप्त हुआ। तत्पश्चात् वे अर्हत्, जिन, निर्ग्रन्थ और महावीर कहलाये। वर्धमान महावीर ने कौशल, मगध, विदेह आदि जनपदों में अपना धर्मोपदेश दिया। जैनग्रन्थों के अनुशीलन के अनुसार महावीर ने मिथिलापुरी में छह वर्षावास व्यतीत किया था। मिथिलापुरी से सटे बाहर वायव्य कोण में अवस्थित मणिभद्र चैत्य में ठहरा करते थे—"तोसेण मिहिलाए नयरीस बहिया उत्तर-पुरच्छिमे दिसिभाए एत्थ णं मणिभद्दं णामं चेइए।" वर्धमान महावीर से पूर्व पार्श्वनाथ भी ज्ञान-प्राप्ति के बाद मिथिलापुरी गये थे।

मिथिलापुरी में जिनमे मल्लिनाथ का प्रतीक घट तथा चैत्यवृक्ष अशोक और नेमिनाथ का प्रतीक नीलकमल और चैत्यवृक्ष बिल्व था। मल्लिनाथ को एकमात्र महिला तीर्थंकर कहा गया है। (मिथिलापुरी का अभिज्ञान : प्रो. उपेन्द्र झा)। मिथिलापुरी में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मल्लिचैत्य और नेमिजैन-चैत्य बने थे। कालान्तर में इन चैत्यों में यक्ष-यक्षिणी के पूजा-प्रचलन की जानकारी जिनप्रभसूरि ने 'विविधतीर्थकल्प' में दी है। यक्ष को धन का देवता तथा यक्षी को उपज की देवी माना गया है। यक्ष और यक्षी की प्राचीन मूर्त्तियाँ वैशाली के चेचरग्राम-संकुल से प्राप्त हुई है। बुद्ध और महावीर के समय बज्जी-विदेह जनपद में यक्ष-यक्षी की पूजा काफी लोकप्रिय थी (चेचर की प्राचीन मृण्मूर्त्तियाँ) और वैशाली में अनेक इतिहास-प्रसिद्ध चैत्य थे।

मिथिलापुरी के अकम्पित ने तीन सौ शिष्यों के साथ मध्यम पावा में तीर्थंकर महावीर से सद्धर्म की दीक्षा ली थी। अकम्पित को जैन सम्प्रदाय के आठवें गणधर की प्रतिष्ठा प्राप्त थी। मिथिलापुरी के लक्ष्मीधर चैत्य में निवासित विद्वान् आशमित्र ने तीर्थंकर महावीर के निर्वाण के लगभग दो सौ वर्ष बाद जैन धर्म का प्रबल विरोध किया था।

जैन तीर्थंकरों में अन्तिम वर्धमान महावीर के भौतिक शरीर में विदेहरक्त प्रवाहित था। जैन वाङ्मय में इन्हें 'वेसालीए' तथा 'विदेहसुकुमार' कहा गया है। वर्धमान महावीर की एक पालयुगीन प्रस्तर-मूर्त्ति वैशाली के जैन मन्दिर में संपूजित है। पालयुगीन अलंकरणों से अलंकृत इस प्रतिमा के बाद पीठ में धर्म के प्रतीक दो सिंहों के बीच धर्मचक्र, पार्श्वों में पार्श्वदेवियाँ (चँवरधारिणी) अलंकृत प्रभावली के दोनों ओर विद्याधर तथा सिर पर त्रिच्छत्र धारण किये हुए महावीर पद्मासन पर योगासीन हैं। इस प्रकार की योगासीन मूर्त्तियों की रचना का मूल सिन्धुघाटी-सभ्यता के पशुपति में निहित है।

डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव ने जैन ग्रन्थों के आधार पर 'महावीरकालीन वैशाली' (वैशाली-महोत्सव-स्मारिका, १९८९ ई.) का भव्य रूपांकन किया है। इसमें महावीरकालीन वैशाली की धार्मिक, प्राकृतिक तथा जानपद जीवन की स्थिति का सुरम्य चित्र प्रतिबिम्बित हुआ है। वैशाली तत्कालीन भारत की समृद्धतम महानगरियों में अद्वितीय थी (वड्ढमाणचरिउ: विबुधश्रीधर, १२वीं सदी)। कुण्डपुर की अट्टालिकाओं पर फहरानेवाली ध्वजाएँ तीखे तेजवाले सूर्य को भी ढक लेती थीं। यहाँ के जिनालयों में बराबर जय-जयकार गूँजता रहता था और स्तोत्र, गीत, नृत्य, वाद्य आदि की मनोमोहक स्वरमाधुरी अनुध्वनित रहती थी। जिनालयों की जिन-प्रतिमाएँ दिव्य सुवर्ण उपकरणों तथा अलंकरणों से दीप्त रहती थीं (वीरवर्द्धमान चरित : आ. भट्टारक सकलकीर्त्ति, १५वीं सदी)।

जैन वाङ्मय के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि जैन सम्प्रदाय का पंचम गणधर सुधर्मास्वामी का जन्म कोल्लाग-सन्निवेश (कोल्हुआग्राम) में हुआ था। वैशाली के गणपति चेटक, सेनापति सिंह, सुदर्शन श्रेष्ठी, पूर्णभद्र, सुजात जैसे जिनानुयायी वैशाली के ही थे। चम्पा की जैन साध्वी चन्दनबाला ने एक विशाल भिक्षुणी-संघ के साथ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वैशाली में महावीर की शरणागत हुई थी। इस प्रकार विदेह और उसकी राजधानी मिथिलापुरी सदियों तक जैन सन्दर्भों से जुड़ी रहीं। किन्तु दुःख का विषय है कि इस विशाल ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक भू-भाग को जैन की अपेक्षा बौद्ध दृष्टि से अधिक देखा गया। अतः इस भू-भाग का विशेष अध्ययन-अनुसन्धान जैन स्थापत्य और मूर्त्तिकला की दृष्टियों से पुरातात्त्विक सर्वेक्षण तथा उत्खनन के द्वारा किया जाना आवश्यक है।

सन्दर्भ-स्रोत :

१. भारतीय कला को बिहार की देन : डा. बी. पी. सिन्हा
२. लिच्छवियों का उत्थान और पतन : डा. शैलेन्द्र श्रीवास्तव
३. हिस्ट्री ऑफ विदेह : डा. योगेन्द्र मिश्र
४. स्टडीज इन जैनिज्म एण्ड बुद्धिज्म इन मिथिला : डा. उपेन्द्र ठाकुर
५. वैशाली अभिनन्दन : ग्रन्थ (द्वि. सं.) : सं. : डा. योगेन्द्र मिश्र
६. बुद्ध, विदेह और मिथिला : सं. डा. प्रफुल्ल कुमार सिंह 'मौन'
७. बोधचक्र : सं. डा. मौन : डा. रामप्रवेश
८. मिथिलापुरी का अभिज्ञान : प्रो. उपेन्द्र झा
९. भारत के दिगम्बर जैनतीर्थ : बलभद्र जैन
१०. मिथिलाक सांस्कृतिक इतिहास : प्रो. राधाकृष्ण चौधरी
११. चेचर की प्राचीन मृण्मूर्त्तियाँ : डा. प्रफुल्ल कुमार सिंह 'मौन'
१२. वैशाली-महोत्सव-स्मारिका, स.१९८९, १९९० तथा १९९१ ई.
१३. भारतीय प्रतीक विद्या : डा. जनार्दन मिश्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनधर्म एवं छोटानागपुर

उमेशचन्द्र द्विवेदी *

जैन धर्म एवं जैन कला के विकास में छोटानागपुर-क्षेत्र का महत्त्वपूर्ण योगदान है। जैन धर्म एवं जैन कला का अध्ययन तबतक पूरा नहीं हो सकता, जबतक कि इस क्षेत्र की कला का अध्ययन नहीं किया जाता।

जैन धर्म का एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण तीर्थस्थल पारसनाथ की पहाड़ी छोटानागपुर के गिरिडीह जिले में अवस्थित है। जैसा कि नाम से ही विदित है, यह स्थल जैन धर्म के २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ से सम्बन्धित है। इस स्थल का महत्त्व इसलिए भी बढ़ जाता है कि इस धर्म के चौबीस तीर्थंकरों में बीस ने यहीं निर्वाण प्राप्त किया था।[१] ये तीर्थंकर थे—अजितनाथ, सम्भवनाथ, अभिनन्दनाथ, सुमतिनाथ, पद्मप्रभ, सुपार्श्वनाथ, चन्द्रभ्रम, सुविधिनाथ, शीतलनाथ, श्रेयांसनाथ, विमलनाथ, अनन्तनाथ, धर्मनाथ, शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अर्हनाथ, मल्लिनाथ, मुनिसुव्रत, नमिनाथ एवं पार्श्वनाथ। जैन धर्म के लिए यह स्थान कितना महत्त्वपूर्ण है यह इसी से स्पष्ट हो जाता है कि जैन धर्म के दोनों प्रमुख सम्प्रदाय श्वेताम्बर एवं दिगम्बर ने एक दूसरे के विरुद्ध इस स्थान पर अपना वर्चस्व कायम करने हेतु वर्षों तक मुकदमा लड़ा।

पारसनाथ निश्चित रूप से अतिशय प्राचीन स्थल है, परन्तु इस स्थान पर कोई भी ऐसा पुरावशेष नहीं बचा है, जो १८ वीं शती ई. से पूर्व की हो।[२] *बेगलर* ने इस स्थान की चर्चा करते हुए कहा था कि मधुबन, जो इस पहाड़ी के उत्तरी तल पर अवस्थित है, में अनेक प्राचीन प्रस्तर-कलाकृतियाँ थीं। परन्तु १९०३ ई. में *ब्लॉच* ने जब इस स्थान का भ्रमण किया था, उसे यहाँ कोई भी पुरावशेष देखने को नहीं मिला था।

जैन धर्म से सम्बन्धित दूसरा प्रमुख स्थल कुलुहा की पहाड़ी है, जो छोटानागपुर के पतरा जिले में अवस्थित है। स्टेन के अनुसार १८९९ ई. में उसे 'श्रीतीर्थमाला अमोलक रत्न' नामक एक पुस्तक दिखाई गई थी, जिसके अनुसार कुलुहा जैन धर्म के १०वें तीर्थंकर शीतलस्वामी का जन्मस्थल एवं निर्वाणस्थल दोनों था और उस समय यह स्थान भद्दिलपुर नगर के नाम से जाना जाता था।[३] परन्तु स्टेन के विचार में यह जैन धर्मावलम्बियों का उस समय कोई प्रमुख तीर्थस्थल नहीं था। इस स्थान पर पार्श्वनाथ का एक मन्दिर है, जहाँ १०-१० की संख्या में जैन तीर्थंकरों का दो समूह पहाड़ी को

---

* संग्रहालयाध्यक्ष, राँची संग्रहालय, राँची

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

काटकर अंकित किया गया है। अपने दस की संख्या के कारण जनसाधारण के लिए यह विष्णु के दशावतार का अंकन है।[४] इन सभी तीर्थंकरों के साथ एक चँवरधारिणी देखने को मिलती है। इनके लांछन इन प्रतिमाओं के नीचे उत्कीर्ण थे, जो कालान्तर में धूमिल पड़ गये हैं। इन मूर्तियों पर अभिलेख भी खुदा है। इन मूर्तियों को गढ़ने में कलाकारों ने अपनी परिपक्वता नहीं दिखाई है, अत: कला-शैली के आधार पर इनका तिथि-निर्धारण अभी तक नहीं किया जा सका है। परन्तु इस जगह से प्राप्त अभिलेखों में सबसे प्राचीन अभिलेख परम भट्टारक महाराजाधिराज विष्णुगुप्त का है. जो सम्भवत: उत्तर-गुप्त वंश का शासक था, जो सातवीं-आठवीं शती ई. में इस क्षेत्र में शासन कर रहा था। स्टेन (Stein) ने इस पहाड़ी के निकट के तालाब के पास एक जैन तीर्थंकर की प्रतिमा देखी थी, जिसपर उसने एक अभिलेख उत्कीर्ण देखा था, जिसमें वि. संवत् १४४३, अर्थात् वर्ष १३८६ ई.पू. की चर्चा थी। *डी. आर. पाटिल* के विचार में उस अभिलेख का अध्ययन फिर से किया जाना आवश्यक है।[५]

जैन धर्म के अनेक प्राचीन अवशेष एवं प्रतिमाएँ पुराने मानभूम जिले (जिसका कुछ हिस्सा आज धनबाद जिला कहलाता है) और सिंहभूम जिले में देखी गई हैं और ये जिले छोटानागपुर-प्रदेश के अन्तर्गत हैं।

पी. सी. राय चौधुरी के अनुसार छोटानागपुर क्षेत्र का मानभूम जिला जैन धर्म का एक प्रमुख स्थल था, यह हम आज लगभग भूल गये हैं। उनके अनुसार भारत के किसी भी जिले में इससे प्राचीन जैन पुरावशेष इतनी बिखरी हुई अवस्था में देखने को नहीं मिला है।[६] मानभूम ही वह जिला है, जहाँ उड़ीसा, बिहार एवं बंगाल के सभी यात्रियों को सम्भवत: गुजरना पड़ता था। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उड़ीसा जैन धर्म का प्राचीन काल में एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थल था। खण्डगिरि की पहाड़ियों में जैन स्थापत्य एवं कला के प्रचीन अवशेष आज भी सुरक्षित हैं। उत्कलनरेश खारवेल के हाथीगुम्फा-अभिलेख में यह उल्लिखित है कि उसने जिन-प्रतिमा को पुन: उत्कल लाने हेतु मगध पर आक्रमण किया था। बिहार और उड़ीसा के बीच आने-जाने का मार्ग सम्भवत: मानभूम होकर ही गुजरता था। यह एक प्रमुख कारण हो सकता है, जिसके कारण हमें आज भी मानभूम-क्षेत्र के हर हिस्से में ढेर सारे जैन पुरावशेष बिखरे पड़े मिलते हैं।[७]

कहा जाता है कि जब महावीर इस धर्म के प्रचार हेतु यात्रा कर रहे थे तब वह 'साफा' अथवा 'सफ' क्षेत्र में अपने धर्म-प्रचार के लिए आये थे। उस क्षेत्र में आदिवासी बहुतायत संख्या में थे और वह भगवान् महावीर की बात सुनने को तैयार नहीं थे। यही नहीं, उन्होंने भगवान् महावीर को अपमानित भी किया। परन्तु महावीर उनके इस व्यवहार से क्षुब्ध नहीं हुए और अपने धर्म की बातें उन्हें समझाने का प्रयत्न करते रहे। अन्त में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदिवासी भगवान् महावीर की सादगी एवं सज्जनता से प्रभावित हुए और उनमें अनेक आदिवासियों ने जैन धर्म स्वीकार कर लिया। इस 'साफा' राज्य या प्रदेश की पहचान इस जिले के साथ किया जाता है।[८]

पालमा से हमें अनेक जैन कलाकृतियाँ प्राप्त हुई हैं, जिनमें तीन प्रस्तर-मूर्तियाँ पटना संग्रहालय में संरक्षित हैं। इनमें एक अजितनाथ की स्थानक-प्रतिमा है। उनका लांछन हाथी उनके पैर के निकट दिखलाया गया है। उनके दोनों ओर चँवरधारी यक्षों की प्रतिमाएँ देखने को मिलती हैं, जो थोड़ा बहुत उनकी तरफ घूमे हुए हैं।[९] यह पटना-संग्रहालय में संगृहीत पहली प्रतिमा है। एक दूसरी मूर्ति में भी अजितनाथ को कायोत्सर्ग-मुद्रा में दिखाया गया है। प्रारम्भ में इस मूर्ति की पहचान नेमिनाथ[१०] से की गई थी, परन्तु मूर्ति के निचले भाग में अंकित हाथी यह स्पष्ट कर देता है कि ऊपर अंकित मूर्ति अजितनाथ की ही है। इस स्थान से प्राप्त तीसरी प्रतिमा[११] शान्तिनाथ की है, जिनके साथ उनका लांछन या चिह्न मृग देखने को मिलता है। ये सभी प्रतिमाएँ लगभग ११वीं शती ई. की हैं।

मार्च, १९४७ ई. में वर्त्तमान धनबाद जिले के चन्दनकियारी- प्रखण्ड से हमें अष्टधातु निर्मित मूर्तियों का एक समूह प्राप्त हुआ था, जिनमें सभी मूर्तियाँ जैन धर्म की ही थीं। यह अष्टधातुसमूह आज पटना संग्रहालय की शोभा बढ़ा रहा है। इस समूह में कुल २९ प्रतिमाएँ थीं, जिनमें २७ खड़े जैन तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ हैं। इनमें से एक में देवी अम्बिका का एवं एक में एक मनुष्य के सिर का अलंकरण देखने को मिलता है। यह सिर भी सम्भवत: किसी जैन तीर्थंकर का है।[१२] यहाँ नग्न जैन तीर्थंकरों की पहचान उनके साथ चिह्नित लांछनों के आधार पर आसानी से किया जा सकता है। इन प्रतिमाओं में सबसे अधिक प्रतिमाएँ ऋषभनाथ की हैं, जो सात मूर्तियों में अंकित हैं। महावीर एवं कुन्थुनाथ की छह-छह प्रतिमाएँ इस समूह में देखने को मिली हैं। चन्द्रप्रभ एवं पार्श्वनाथ की दो-दो प्रतिमाएँ निर्मित हैं। अजितनाथ, विमलनाथ और नेमिनाथ की एक-एक मूर्ति हमें देखने को मिलती है। एक मूर्ति में ऋषभनाथ एवं महावीर को साथ-साथ खड़ा दिखाया गया है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, एक प्रतिमा अम्बिका देवी की है एवं एक जैन तीर्थंकर का मस्तक है।

यह अष्टधातु-निर्मित मूर्तियों का समूह एक नवीन अष्टधातु-निर्माण-कला की तरफ हमारा ध्यान आकृष्ट करता है। ये सभी मूर्तियाँ नालन्दा एवं कुर्किहार से प्राप्त अष्टधातु की मूर्तियों से अलग ढंग से निर्मित हैं। जहाँ नालन्दा एवं कुर्किहार की मूर्तियाँ भीतर खोखली हैं, अलुवारा की अष्टधातु-प्रतिमाएँ पूर्णरूपेण भरी, परन्तु ऊपर से देखने में दुबली-पतली हैं। अधिकांश के सिरों के अग्रभाग पर ऊर्ण देखने को मिलता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तीर्थंकरों के हाथ की अंगुलियाँ उनकी जाँघ को छूती दिखाई गई हैं। इन तीर्थंकरों को सामान्यत: कई तलवाले आसन पर खड़ा दिखाया गया है। उनतीस प्रतिमाओं में से सात पर अभिलेख खुदे हैं, जिनमें उनके दाताओं का नाम खुदा है। महावीर की एक प्रतिमा में नौ सेवक दिखाये गये हैं। कुन्थुनाथ की भी एक प्रतिमा में उनके सहयोगियों की संख्या नौ दिखाई गई है, जबकि अन्य दो प्रतिमाओं में उनकी संख्या आठ है। पार्श्वनाथ की एक प्रतिमा में उनके नौ भक्तों अथवा सेवकों को आसन पर बैठे दिखाया गया है। उनकी एक अन्य प्रतिमा में दो भक्त सर्प दिखाये गये हैं। पार्श्वनाथ की एक प्रतिमा में एक भक्त को उनके पाँव के निकट बैठा दिखाया गया है। महावीर की प्रतिमाओं के साथ हमें जहाँ सिंह देखने को मिलता है, पार्श्वनाथ की पहचान उनके सर्प-फन के आधार पर की जाती है। वृषभनाथ की अष्टधातु-प्रतिमाओं में हमें वृषभ देखने को मिलता है तो कुन्थुनाथ, चन्द्रप्रभ, अजितनाथ, नेमिनाथ और विमलनाथ के साथ क्रमश: बकरी, अर्द्धचन्द्र, हाथी, शंख और सुअर दिखाया गया है। अम्बिका की प्रतिमा में उनके साथ सिंह अंकित है। ये सभी प्रतिमाएँ ११वीं-१२वीं शती ई. की मानी जाती हैं।

अलुवारा से हमें अनेक प्रस्तर-प्रतिमाएँ भी प्राप्त हुई हैं, जो भारतीय इतिहास के मध्यकाल की हैं। यहाँ से प्राप्त इन प्रस्तर-प्रतिमाओं में महावीर, शान्तिनाथ एवं पार्श्वनाथ की दो-दो प्रतिमाएँ एक लांछन-विहीन जैन तीर्थंकर की स्थानक प्रतिमा एवं एक तीर्थंकर का मस्तक है। तीन यक्षी प्रतिमाएँ भी इस स्थान से प्राप्त हुई हैं। इस स्थान से हमें एक चौमुख भी प्राप्त हुआ है, जिसके चारों ओर तीर्थंकरों की स्थानक प्रतिमा है। ये सभी प्रतिमाएँ पटना-संग्रहालय में संगृहीत हैं।

अलुवारा के निकट ही कुम्हारी एवं कुमारदाग नामक दो गाँव है, जहाँ कुछ प्राचीन जैन मूर्तियाँ देखी गई थीं। यहाँ इन गाँवों में कुछ प्राचीन अभिलेख भी प्राप्त हुए थे, जिनमें एक तो एक स्थानीय व्यक्ति द्वारा ही वहाँ से हटा दिया गया था।[१३]

पाकबीरा में भी अनेक प्राचीन प्रस्तर-प्रतिमाएँ देखने को मिली थीं। *बेगलर* के अनुसार इस स्थान पर उनके मन्दिर एवं मूर्तियाँ, जिनसे जैन धर्म की प्राचीनता संकेतित होती हैं, देखने को मिलीं। इनमें सबसे प्रधान एक नग्न प्रतिमा थी, जो ७.५ फीट ऊँची थी। यहाँ आसन पर एक कमल का चिह्न देखने को मिला। इसके आसपास ही अनेक और प्रतिमाएँ थीं। दो प्रतिमाओं में वृषभ लांछन के रूप में चित्रित था और एक अन्य छोटी प्रतिमा में कमल इसके अतिरिक्त एक प्रतिमा में तीर्थंकरों के साथ सिंह, मृग, वृषभ और सम्भवत: मेमना देखने को मिलता है।[१४] यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कमल पद्मप्रभनाथ का लांछन माना जाता है। परन्तु मेमना का किसी भी जैन तीर्थंकर से सम्बन्ध स्पष्ट नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निकट के पंखा गाँव, जो आज सम्भवत: दक्षिण बंगाल के पुरुलिया जिले में अवस्थित है, से चार मूर्तियाँ प्राप्त हुई थीं।[१५] इनमें एक प्रतिमा वृषभनाथ की है, जिनके चारों ओर शेष सभी तीर्थंकर दिखाये गये हैं। इस स्थान से प्राप्त दूसरी प्रतिमा के मध्य में एक वृक्ष है, जिसपर एक बालक को बैठे दिखाया गया है। वृक्ष के नीचे यक्ष, यक्षी की प्रतिमा है। यक्षी की प्रतिमा के हाथ में एक बच्चा भी दिखाया गया है। इनके निकट सात व्यक्तियों को खड़े दिखाया गया है।

जैन पुरावशेषोंवाला दूसरा प्रमुख केन्द्र दुलभी है, जो चाण्डिल से करीब ३५ किलोमीटर है। बेगलर के अनुसार इनमें कुछ प्रतिमाएँ निश्चित रूप से जैन हैं। उनके अनुसार उक्त स्थान पर ९वीं-१०वीं शती ई. में निश्चित रूप से कोई बड़ा जैन प्रतिष्ठान था, जिसके पश्चात् ही ११वीं शती ई. में हिन्दुओं ने मन्दिर आदि का निर्माण कराया होगा।[१६] दुर्भाग्यवश, अब इस स्थान पर जैन प्रतिमाओं का कोई अवशेष नहीं रह गया है।

दुलभी से कुछ मील दूर देवली नामक गाँव है, जहाँ प्राचीन जैन मन्दिरों के अवशेष हैं।[१७] इस स्थान पर स्थित सबसे बड़े मन्दिर के गर्भगृह में एक जैन मूर्ति स्थापित है, जिनकी पहचान अरनाथ से की गई है। साधारण ग्रामीण हिन्दू इसे हिन्दू देवता की मूर्ति मानते हैं और इनकी पूजा भी करते हैं। आसन पर खड़ी यह मूर्ति लगभग तीन फीट ऊँची है। आसन पर एक मृग का चित्रण है। मुख्य प्रतिमा के ऊपर दो कतारों में खड़ी तीन-तीन तीर्थंकरों की नग्न मूर्तियाँ, जो दोनों तरफ अंकित हैं, यह स्पष्ट कर देती हैं कि यह जैन धर्म की ही मूर्तियाँ हैं। इस प्रमुख मन्दिर के अगल-बगल कुछ अन्य छोटे-छोटे मन्दिरों के अवशेष हैं। इसके निकट ही आधे मील की दूरी पर एक पेड़ के नीचे पार्श्वनाथ की प्रतिमा है। वस्तुत: इस क्षेत्र में गहन अन्वेषण की आवश्यकता है, जो जैन धर्म के इतिहास में नये आयाम जोड़ने में सफल हो सकते हैं।

बेगलर ने सुइसा गाँव, जो आज सिउसा के नाम से जाना जाता है, अनेक जैन प्रतिमाएँ देखी थीं[१८]। इनमें एक प्रतिमा पार्श्वनाथ की थी एवं दूसरी ऋषभनाथ की।

धनबाद के निकटस्थ कतरासगढ़ भी कभी जैन धर्म का एक प्रमुख केन्द्र था।[१९] कतरासगढ़ रेलवे स्टेशन से आधे मील की दूरी पर, दामोदर नदी के दोनों किनारों पर अनेक प्राचीन जैन मूर्तियाँ देखी गई थीं।

सिंहभूम जिले से भी हमें अनेक जैन तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं। इनमें अनेक प्रतिमाएँ आज की मूलाग्राम में रखी हुई हैं। यह गाँव दालभूम अनुमण्डल के पटामदा अंचल में है। राँची संग्रहालय, राँची में इचागढ़-क्षेत्र से प्राप्त एक बड़ी ही सुन्दर जैन प्रतिमा संगृहीत है, जो इचागढ़ के पूर्व महाराजा श्री प्रभातकुमार आदित्यदेव के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सौजन्य से प्राप्त हुआ है[२०] । इस प्रतिमा में यक्ष-यक्षी को एक बच्चे को गोद में लिये अर्द्धपर्यंकासन मुद्रा में बैठे दिखाया गया है । इनके मध्य एक वृक्ष को अंकित किया गया है, जिसपर एक छोटे-से तीर्थंकर को बैठा दिखाया गया है । उनके नीचे एक छोटे-से बच्चे को झूलता देखा जा सकता है । तीर्थंकर के दोनों तरफ दो हाथी देखे जा सकते हैं । हाथी के अगल-बगल गन्धर्वों का चित्रण है । प्रतिमा के निचले हिस्से में छह भक्त दिखाई देते हैं और एक व्यक्ति को हाथी पर सवार दिखाया गया है । यक्षी की बाईं तरफ नागफन पर एक व्यक्ति को खड़ा दिखाया गया है । हाथी अजितनाथ का लांछन है, अतः इन यक्ष-यक्षी की पहचान महायक्ष एवं अजितबाला से की जा सकती है ।

इसी प्रकार की एक दूसरी प्रतिमा इस लेखक के द्वारा राँची संग्रहालय के लिए संकलित की गई है, जो पटामदा-प्रखण्ड से प्राप्त हुआ है । यहाँ भी यक्ष-यक्षी को बच्चे के साथ अर्द्धपर्यंकासन मुद्रा में बैठे दिखाया गया है । यहाँ भी उनके मध्य एक वृक्ष दिखाया गया है, जिसके ऊपर एक जैन तीर्थंकर को बैठे दिखाया गया है । प्रतिमा के निचले हिस्से में पाँच बैठे मनुष्यों में दो को जानवरों पर बैठा एवं एक को कमल पर बैठा दिखाया गया है । चूँकि प्रतिमा काफी टूट-फूट गई है, अतः इन यक्ष-यक्षी की पहचान कठिन है ।

अनुमण्डलाधिकारी, दालभूम के माध्यम से दो अन्य जैन प्रतिमाएँ राँची संग्रहालय को प्राप्त हुई हैं । एक प्रतिमा में तीर्थंकर को कायोत्सर्ग-मुद्रा में कमलासन पर खड़े दिखाया गया है । इनके दोनों तरफ चौरी लिये यक्ष या सेवक दिखाये गये हैं । इनके ठीक ऊपर सम्भवतः अष्टग्रहों का चित्रण है, जिनमें प्रथम ग्रह सूर्य एवं अन्तिम राहु की पहचान होती है । सूर्य के दोनों हाथों में कमल दिखाई देता है एवं राहु के दोनों हाथों में अर्द्धचन्द्र । बाईं तरफ के सेवक के बायें एक स्त्री को बैठे दिखाया गया है । आसन में सबसे दाहिनी तरफ एक भक्त ध्यान मुद्रा में दिखाया गया है, जिसकी बगल में एक सिंह अंकित है । सिंह के बाद एक अन्य भक्त की प्रतिमा है, जो आसन के मध्य में अंकित मृग की तरफ मुड़ा है । इस मृग के पश्चात् पुनः एक भक्त का अंकन है, जो सम्भवतः किसी स्त्री की प्रतिमा है । इसके बाद पुनः एक सिंह एवं एक भक्त का अंकन है । ऊपर के भाग में छत्र, प्रभामण्डल एवं गन्धर्व देखे जा सकते हैं । आसन पर मध्य में अंकित मृग के आधार पर इस प्रतिमा की पहचान शान्तिनाथ से की जा सकती है ।

एक अन्य प्रतिमा में ऋषभनाथ को कायोत्सर्ग-मुद्रा में कमलासन पर दिखाया गया है । इनके दोनों तरफ दो सेवक देखे जा सकते हैं, जिनके हाथ में चँवर है । आसन पर दोनों तरफ एक-एक सिंह दिखाया गया है । इनकी बगल में अर्चना-मुद्रा में दो भक्त देखे जा सकते हैं, जिनका ध्यान मध्य की ओर है । प्रमुख प्रतिमा के दोनों तरफ २४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नग्न प्रतिमाएँ देखी जा सकती हैं, जो सम्भवतः २४ तीर्थंकरों की हैं। ये तीन के समूह में चार कतार में प्रधान प्रतिमा के दोनों तरफ अंकित हैं। इनके नीचे सम्भवतः अष्टग्रहों का अंकन है। प्रतिमा के ऊपरी भाग में गन्धर्व देखे जा सकते हैं। प्रधान प्रतिमा के छत्र के अगल-बगल दो आकृतियाँ थीं, जो अब नष्ट हो चुकी हैं। ये सभी प्रतिमाएँ ११वीं-१२वीं शती ई. की हैं।

दालभूम से ही हमें एक चौमुख भी प्राप्त हुआ है, जो राँची संग्रहालय में संगृहीत है। समय के थपेड़ों ने इस मूर्ति को काफी खराब कर दिया है, अतः इसके चारों तरफ अंकित तीर्थंकरों की पहचान करना सम्भव नहीं है।

इस शोधपत्र को संक्षिप्त रूप में समाप्त करने के क्रम में मैं *राखालदास बनर्जी* को उद्धृत करना चाहूँगा। उनके अनुसार जैन प्रतिमाएँ बंगाल में दुर्लभ हैं, परन्तु बिहार के छोटानागपुर प्रमण्डल एवं उड़ीसा में सर्वत्र यह काफी संख्या में पाई जाती है। पिछले पच्चीस वर्षों में मुझे छोटानागपुर के राँची, मानभूम एवं सिंहभूम जिले के अनेक महत्त्वपूर्ण स्थलों का भ्रमण करने का अवसर मिला। परन्तु खेद है कि इस क्षेत्र के पुरावशेषों को अभी तक ठीक से वर्णित नहीं किया गया है। इन जिलों में, जो अपने कोयला-उद्योग के कारण बड़ी संख्या में लोगों की सम्पन्नता के साधन हैं, अनेक मन्दिर हैं और हजारों मूर्तियाँ इस क्षेत्र में बिखरी पड़ी हैं। इस प्रकार के मन्दिरक्षेत्र बराकर और धनबाद से प्रारम्भ होते हैं और रीवाँ राज्य के जंगल एवं उड़ीसा राज्य में जाकर समाप्त होते हैं। इन स्थानों से यह स्पष्ट होता है कि इस क्षेत्र में कभी काफी विशाल जनसंख्या निवास करती थी, जो जैन धर्म की अनुयायी थी; क्योंकि इन सभी स्थानों में जैन मूर्तियों की बहुतायत है और ब्राह्मण-मन्दिर एवं मूर्तियों की संख्या कम। बनर्जी महोदय के विचार में ये मूर्तियाँ मध्ययुग के तीसरे-चौथे वर्ष, अर्थात् ११वीं-१२वीं शती ई. की हैं।

सन्दर्भ-स्रोत :

१. पी.सी. राय चौधुरी : Jainism in Bihar, पृ. ४.

२. डी. आर. पाटिल : Antiquarian Remains of Bihar, पृ. ३६५.

३. ए. स्टेन : Indian Archaeology, XXX, पृष्ठ ९०-९५, बी.पी. मजूमदार The Comprehensive History of Bihar, भा., खंड-१. पृ. १४४.

४. डी. आर. पाटिल : वही, पृ. २१८.

५. उपरिवत्, पृ. २१९.

६. पी. सी. रायचौधुरी : वही, पृ. ४४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७. वही. पृ. ४५;

८. वही, पृ. ४५;

९. पटना संग्रहालय, पुरातत्त्व संख्या १;

१०. पटना म्यूजियम कैटेलाग ऑफ एण्टीक्वीटीज पृ. ९०; पुरातत्त्व-संख्या ३;

११. पटना-संग्रहालय, पुरातत्त्व-संख्या २

१२. पटना म्यूजियम केटेलॉग ऑफ एण्टीक्यूटीज, पृ. १६०-६१.

१३. पी. सी. राय चौधुरी: वही, पृ. ४६.

१४. बेगलर : CASI, VIII, पृ. १९३-९५.

१५. पी. सी. राय चौधुरी : वही, पृ. ४८.

१६. बेगलर : वही पृ. १८६-८८.

१७. पी. सी. रायचौधुरी : वही, पृ. ५०

१८. उपरिवत्, पृ. ५१.

१९. उपरिवत्, पृ. ५४.

२०. राँची संग्रहालय, राँची, पुरातत्त्व-संख्या ११४.

२१. राखालदास बनर्जी : Eastern Indian School of Mediaeval Sculptures पृ. १४४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनधर्म के तीर्थंकर, आचार्य और वाङ्मय

*विन्ध्येश्वर शर्मा हिमांशु**

जैनधर्म के प्रथम तीर्थंकर-ऋषभदेव, प्रथम मनु स्वायम्भुव के प्रपौत्र, आग्नीध्र के पौत्र और नाभि के दत्तक पुत्र थे[१]। ऋषभश्रेष्ठ को अपने पिता से जम्बूद्वीप के एक खण्ड, अजनाभ वर्ष का राज्य मिला था। इन्होंने इन्द्र की कन्या जयन्ती से ब्याह किया[२]। जयन्ती से इन्हें सौ पुत्र हुए, जिनमें से ८१ ब्राह्मण हो गये, ९ भागवत धर्म के प्रचारक हुए तथा १० पुत्रों ने राजपद स्वीकार किया[३]। राजन्यता स्वीकार करनेवाले पुत्रों ने अजनाभ वर्ष का जो भाग प्राप्त किया, उसका नामकरण, ऋषभ के पुत्रों के नाम के अनुरूप ही हुआ। यथा, भारत का भारतवर्ष, इलावर्त का इलावर्तवर्ष, ब्राह्मणवर्ष का ब्राह्मणवर्त, मलय का मलयवर्ष, केतु का केतुमालवर्ष, भद्रसेन का भद्रसेनवर्ष, इन्द्रस्पृक् का इन्द्रस्पृक्वर्ष, विदर्भ का विदर्भवर्ष तथा कीकट का कीकटवर्ष। भरत को जो राज्य मिला, उसका नाम भारतवर्ष पड़ा[४]। ऋषभदेव के पुत्र भरत के नाम पर इस देश का नाम भारतवर्ष होने का उल्लेख विष्णुपुराण (अ. ७५), लिंगपुराण (अ. ४७), शिवपुराण, ज्ञानसंहिता, श्रीमद्भागवत (५.४.९), महाभारत, ब्रह्मवैवर्तपुराण (श्रीकृष्णजन्म खण्ड, अ. ५८), बृहद् नारदीय पुराण (तृतीय अध्याय) में है। ऋषभदेव ने अपने पुत्रों को राज्य देकर जीवन के अन्तिम चरण में संन्यास ग्रहण कर लिया।

जैनग्रन्थों में ऋषभदेव के बाद जिन तीर्थंकरों का नामोल्लेख हुआ है, वह इस प्रकार है, (१)ऋषभदेव, (२) अजितनाथ, (३) सम्भवनाथ, (४) अभिनन्दननाथ, (५) सुमतिनाथ, (६) सुपद्मनाथ, (७)सुपार्श्वनाथ, (८)चन्द्रप्रभु,(९) पुष्पदन्त, (१०) शीतलनाथ, (११) श्रेयांसनाथ, (१२) वसुपद्म, (१३) विमलनाथ, (१४) अनन्तनाथ, (१५) धर्मनाथ, (१६) सन्तनाथ, (१७) कुंभनाथ, (१८) अरनाथ, (१९) मल्लिनाथ, (२०) मुनि सुव्रतनाथ, (२१) नमिनाथ, (२२) नेमिनाथ (२३) पार्श्वनाथ, (२४) और महावीर।

ऐतिहासिक वृत्तान्तों के अनुसार

ई. पूर्व की ९वीं शताब्दी में पंचाल के राजा चुलनी ब्रह्मदत्त ने अपने पराक्रम से एक विशाल साम्राज्य अर्जित कर लिया था। इनके प्रभुत्व का विस्तार काशी, कोसल से विशाला-विदेह तक हो गया था। इनके पुत्र हुए अजातशत्रु, जिनकी राजधानी काशी में प्रतिष्ठित हुई। अजातशत्रु एक महान् दार्शनिक थे, जिनके यहाँ विद्वानों का जमघट

* सम्पादक, गाँव (मासिक), बिहार-कोऑपरेटिव फेडरेशन बुद्धमार्ग, पटना-९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लगा रहता था। अजातशत्रु के पुत्र हुए अश्वसेन और अश्वसेन के पार्श्वनाथ। पार्श्वनाथ की माता का नाम था वामा तथा पत्नी का नाम प्रभावती। कल्पसूत्र के अनुसार पार्श्वनाथ इक्ष्वाकुवंशी राजा अश्वसेन के पुत्र थे। इनके पिता काशी के राजा थे। पार्श्वनाथ ने वहीं आश्रमपद नामक उपवन में साढ़े तीन दिन तक उपवास करने के पश्चात् संन्यास ग्रहण कर लिया और ८३ दिनों के गहन चिन्तन के उपरान्त इन्हें कैवल्य-ज्ञान प्राप्त हुआ। इनके ८ गण तथा ८ गणधर थे, जिनके नाम क्रमशः (१) शुभ, (२) आर्यघोष, (३) वसिष्ठ, (४) ब्रह्मचारिन्, (५) सौम्य, (६) श्रीधर, (७) वीरभद्र और (८) यसस कहे गये हैं। जैन अनुश्रुतियों के अनुसार पार्श्वनाथ ने १०० वर्ष की आयु में सम्मेद पर्वत पर कैवल्य प्राप्त किया। इन्होंने अपने धर्म के लिए चार प्रमुख सिद्धान्तों—(१)अहिंसा, (२) सत्य, (३) अस्तेय और (४) अपरिग्रह का निरूपण किया था।[५]

जैनधर्म के २४वें तीर्थंकर वर्धमान महावीर का जन्म सम्भवतः ई. पूर्व ६१८ में वैशाली के क्षत्रिय कुण्डग्राम में, कश्यपगोत्रीय क्षत्रिय-परिवार में हुआ था। इनके पिता का नाम सिद्धार्थ एवं माता का नाम त्रिशला था। इनके कुल को ज्ञातृक कुल या नायकुल भी कहा जाता था। इनकी माता त्रिशला वैशाली के गणाध्यक्ष चेटक की बहन थी। त्रिशला को विदेहदत्ता, प्रियकारिणी तथा महावीर को विदेहजात्य, विदेहकुमार और वेशालीए भी कहा गया है। वर्धमान महावीर का ब्याह यशोदा से हुआ, जिससे अनुज्जा या प्रियदर्शना नामक पुत्री हुई[६]। तीस वर्षों तक गृहस्थ का जीवन व्यतीत करने के बाद, माता-पिता के स्वर्गवास के पश्चात् अपने बड़े भ्राता नन्दिवर्धन की आज्ञा लेकर वर्धमान महावीर ने गृह त्याग दिया। 'आचारांगसूत्र' के अनुसार महावीर ने अपने साथ चल रहे लोगों को शान्दवन से लौटाकर, कम्मार ग्राम में ठहरकर एक अटल तपस्वी की तरह ध्यान लगाया। इसके बाद एक वर्ष तक वस्त्र धारण किये रहे, फिर उसे खोलकर सुवर्णबालुका नदी में फेंक दिया। पात्र त्याग कर करपात्री हो गये। बारह वर्षों की कठिन तपस्या के बाद जम्भिका ग्राम के निकट ऋजुपालिका नदी के तट पर शालवृक्ष के नीचे इन्हें कैवल्य (ज्ञान) की प्राप्ति हुई।

कहा गया है कि तपस्या के काल में लोगों ने वस्त्रत्यागी महावीर को पागल कहा, गालियाँ दीं, चिढ़ाया, इनपर कुत्ते छोड़े, दण्डों, मुक्कों और लातों का प्रहार किया। लाढ़ गाँव के लोगों ने तो इन पर और भीषण अत्याचार किया। इनकी तपस्या में भारी विघ्न उत्पन्न किया।

ज्ञानप्राप्ति के बाद वर्धमान महावीर नालन्दा आये, जहाँ इन्हें गोशाल नामक एक सहयोगी मिला। कोल्लक सन्निवेश (कोलग्गा) नामक स्थान पर ये दोनों ६ वर्षों तक साथ रहे, फिर विचार-वैषम्य के कारण दोनों अलग हो गये। यह गोशाल ही उस काल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में अतिशय चर्चित मक्खलि गोशाल है, जिसने आगे चलकर आजीवक-सम्प्रदाय की स्थापना की। वर्धमान-महावीर के धर्मप्रचार में जिन लोगों ने सहयोग दिया, उनका शिष्यत्व स्वीकार किया, उनके नाम इस प्रकार हैं : (१) आनन्द, (२) कामदेव, (३) चुलनीपिया, (४) सुरदेव, (५) चुल्लशतक, (६) सद्दालपुत्र (८) महाशतक (९) नन्दिनीपिया और (१०) साल्ही। ई. पूर्व ५४६ में ७२ वर्ष की आयु में वर्धमान महावीर का देहावसान हुआ। इनके देहावसान के पश्चात् इनके प्रमुख शिष्यों में आर्य सुधर्मा ही जीवित थे, जो जैनधर्म के स्थविर हुए। महावीरस्वामी के जीवनकाल में इनके दामाद जमालि ने तथा जैनभिक्षु तीसमुत्त ने कुछ उपद्रव किया था। महावीरस्वामी के जीवनकाल में इनके धर्म का प्रचार मगध, वैशाली और अंग में व्यापक रूप से हुआ। इस काल में अनेक धर्मों—जैसे (१) बार्हस्पत्य, (चार्वाक), (२) बौद्ध, (३) वेदान्त, (४) सांख्य, (५) अपृष्टनादीय, (६) आजीवक, (७) त्रैराशिक, (८) शैव, (९) पूरणकश्यपीय, (१०) मक्खलिगोशालीय, (११) अजितकेशकम्बलिन् का सम्प्रदाय एवं (१२) पकुध काच्चायन का सम्प्रदाय[७] का प्रचलन था।

वर्धमान महावीरस्वामी के बाद जैनधर्म के आचार्य एवं आरम्भिक जैनग्रन्थ :

महावीरस्वामी के बाद आर्य सुधर्मा आचार्य हुए। इन्होंने महावीर के मुँह से जैसा सुना था, वैसा ही अंगों और उपांगों का सम्पादन किया। स्थानकवासी जैन सम्प्रदाय के अनुसार जैनों के प्रमाणभूत धार्मिक वाङ्मय में ११ अंग, १२ उपांग, छेदग्रन्थ, और ४ मूल ग्रन्थ हैं। श्वेताम्बर-सम्प्रदाय के अनुसार १० पयन्ना, १२ निर्युक्ति, ९ विविध मिलाकर कुल ८४ ग्रन्थ हैं, परन्तु दिगम्बर-सम्प्रदाय के अनुसार सभी ग्रन्थों में कुल चार अनुभाग ग्रन्थ ही प्रामाणिक हैं। उपर्युक्त ८४ ग्रन्थ प्रामाणिक नहीं हैं। श्रीजयचन्द्र विद्यालंकार ने यह मत व्यक्त किया है कि जैन वाङ्मय के अंगों का विन्यास वेदांगों की परम्परा की तरह वेदांगों की रचना के काल में या ठीक उसके बाद हुआ था[८]।

जैनाचार्य सुधर्मा का देहावसान ई. पूर्व ५०८ में हुआ। इनके बाद आचार्य हुए जम्बूस्वामी, जिनका देहावसान ई. पूर्व ४६४ में हुआ। जम्बूस्वामी के बाद आचार्य हुए प्रभव और प्रभव के बाद स्वयम्भव। आचार्य स्वयम्भव ने दशवैकालिक नामक ग्रन्थ की रचना की[९]। आचार्य स्वयम्भव का समय नवनन्द युग के आरम्भ का है। इनके उत्तराधिकारी हुए आचार्य यशोभद्र, फिर आचार्य यशोभद्र के आचार्य सम्भूतविजय और आचार्य सम्भूतविजय के आचार्य भद्रबाहु, जो सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य (ई. पूर्व ३२४) के समकालीन थे। आरम्भिक जैनग्रन्थों में एक निर्युक्ति आचार्य भद्रबाहु की लिखी हुई कही गई है। परन्तु इस ग्रन्थ में ई. पूर्व पहली शती तक की स्थितियों का उल्लेख होने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के कारण ऐसा अनुमान किया जाता है कि इसमें परवर्ती काल के जैन चिन्तकों के विचारों को भी किसी विद्वान् के द्वारा सम्मिलित कर दिया गया।

ज्ञातव्य है कि सम्राट् चन्द्रगुप्त के शासन के अन्तिम काल में मगध में एक लम्बे अन्तराल के दुर्भिक्ष के पड़ने की आशंका को देखते हुए आचार्य भद्रबाहु चन्द्रगुप्त को लेकर कर्नाटक (श्रवणबेलगोलगिरि) चले गये थे। आचार्य भद्रबाहु के कर्नाटक चले जाने पर आचार्य स्थूलभद्र ने जैनों की एक संगीति बुलाई और इस संगीति के समय जैनधर्म के ११ अंगों का संग्रह तो सुविधापूर्वक हो गया, परन्तु १२वाँ अंग तबतक विलुप्त हो गया था, परन्तु इनमें से १० पूर्वों का ज्ञान उन्होंने नैपाल से इस शर्त पर अर्जित किया था कि वे इन्हें गुप्त ही रखेंगे। आचार्य स्थूलभद्र की व्यक्तिगत स्थिति और व्यक्तित्व का परिचय हमें जैनग्रन्थ 'आवश्यकसूत्र' से मिलता है, यथा :

"प्रथमनन्द का मन्त्री कल्पक नामक व्यक्ति था। इसी ने प्रथम नन्द को क्षत्रिय राजवंशों के विनाश के लिए प्रोत्साहित किया। नन्दों के शासनकाल में मन्त्री का पद वंशानुगत होने लगा। अतः कल्पक के बाद नवें नन्द के शासनकाल में मन्त्री हुआ शकटाल। शकटाल के दो पुत्र थे, स्थूलभद्र और श्रीयक। शकटाल की मृत्यु के बाद स्थूलभद्र को मन्त्री का पद दिया गया, परन्तु इसने इसका त्याग कर दिया और जैन भिक्षुक होना स्वीकार किया। अतः श्रीयक मन्त्री-पद पर प्रतिष्ठित हुआ।[१०] यह यही स्थूलभद्र थे, जिन्होंने भद्रबाहु के कर्नाटक चले जाने के बाद मगध में जैनों को संगठित कर संगीति का आयोजन एवं जैन ग्रन्थों का संकलन किया था और दिगम्बर रहने के बजाय कपड़े पहनना आरम्भ कर दिया था।

आचार्य भद्रबाहु ने कनार्टक से लौटने के बाद अपनी अनुपस्थिति में संकलित जैन ग्रन्थों की प्रामाणिकता को स्वीकार नहीं किया और न ही कपड़े पहनना ही स्वीकार किया।[११] जब आचार्य भद्रबाहु का देहान्त हुआ, तब स्थूलभद्र जैनों के आचार्य हुए।[१२] आचार्य जम्बूस्वामी से आचार्य स्थूलभद्र तक जो छह आचार्य हुए, उन्हें जैनधर्म में श्रुतकेवली कहा गया है; क्योंकि उनका ज्ञान पूर्णश्रुत था और उनके लिए वही कैवल्य भी था। इन छह आचार्यों के बाद जो सात आचार्य हुए, उन्हें १० पूर्वाचार्य कहा गया है; क्योंकि इन सातों को जैनधर्म के १२वें अंग के १० पूर्वों ही का ज्ञान था।

अन्तिम दशपूर्वाचार्य वज्रस्वामी हुए, जिनका कालनिर्धारण जैन अनुश्रुतियों के अनुसार ईस्वी ७० में किया गया है। आचार्य वज्रस्वामी के बाद उनके शिष्य आर्यरक्षित आचार्य हुए, जिन्होंने अपने गुरु वज्रस्वामी द्वारा संकलित जैनसूत्रों को अंग-उपांगों आदि चार भागों में बाँटा। कहा गया है कि मौर्यकाल तक अंग-उपांगों का समुचित विभाजन नहीं हो सका था। सातवाहन-काल में जैन वाङ्मय के अनेक अंशों का विस्तार हुआ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बल्कि, जैनग्रंथों का जो अन्तिम रूप आज पाया जाता है, वह गुप्तकाल में, ईसवी ४५४ में, काठियावाड़ की वलभी नगरी में सम्पन्न जैन संगीति में सम्पादित हुआ।[१३] आरम्भिक जैन वाङ्मय अर्धमागधी प्राकृत में था, जो भाषा के रूप में उस अवधी भाषा का पूर्व रूप थी, जिसमें मलिक मुहम्मद जायसी ने आगे जलकर पद्मावत की रचना की थी। पिछली जैन रचनाएँ महाराष्ट्री प्राकृत और संस्कृत में हैं।[१४]

सन्दर्भ-स्रोत :

१. श्रीमद्भागवत, ५.३.२०, ५.४.२

२. वही, ५.४.११-१३

३. वही, ५.७.२-३, ५.४.९.

५. रतिभानु सिंह नाहर : प्राचीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, तृतीय संस्करण पृ. १३४-३५

६. आचारांगसूत्र, २.१५.१५

७. रतिभानु सिंह नाहर : प्राचीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास

८. जयचन्द्र विद्यालंकार : भारतीय वाङ्मय के अमर रत्न, पृ. ९२

९. वही, पृ. ७२, रतिभानु सिंह नाहर : प्रा. भा. रा. एवं सां. इतिहास पृ. १४१-१४२

१०. एज ऑफ इम्पीरीयल हिस्ट्री, पेज ३४-३५-रतिभानु सिंह नाहर : प्रा. भा. रा. एवं सां. इतिहास, पृ. १८९.

११. जयचन्द्र विद्यालंकार : भारतीय वाङ्मय के अमर रत्न, पृ. ७३.

१२ रतिभानु सिंह नाहर : प्रा. भा. रा. एवं सां. इतिहास, पृ. १४२.

१३. जयचन्द्र विद्यालंकार : भारतीय वाङ्मय के अमर रत्न, पृ. ७४-७५.

१४. वही, पृ. ७४-७५.

■

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूर्त अंकनों में जिनेतर शलाकापुरुषों के जीवनदृश्य

*डॉ. शुभा पाठक**

शलाकापुरुष का अर्थ है देव-समान श्रेष्ठ पुरुष।[१] जैनधर्म के श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों ही सम्प्रदायों में ६३ शलाकापुरुषों की कल्पना की गई है, जिनमें २४ तीर्थंकरों के अतिरिक्त ३९ अन्य शलाकापुरुषों को सम्मिलित किया गया है। ६३ शलाकापुरुषों की पूर्ण सूची सर्वप्रथम विमलसूरि के *पउमचरिय* (४००ई.) में प्राप्त होती है, जिसमें २४ तीर्थंकरों के अतिरिक्त १२ चक्रवर्ती, ९ बलदेव, ९ वासुदेव एवं ९ प्रतिवासुदेव सम्मिलित थे। आचार्य हेमचन्द्र के ग्रन्थ *त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित* (११६०-११७२ई.) में प्राप्त ६३ शलाकापुरुषों की सूची में २४ तीर्थंकरों के अतिरिक्त १२ चक्रवर्तियों के रूप में भरत, सगर, मघवन, सनत्कुमार, शान्ति, कुन्थु, अर, सुभूम, पद्म, हरिषेण, जय और ब्रह्मदत्त, ९ बलदेवों के रूप में अचल, विजय, भद्र, सुप्रभ, सुदर्शन, आनन्द, नन्दन, पद्म (राम) और राम (बलराम), ९ वासुदेवों के रूप में त्रिपृष्ठ, द्विपृष्ठ, स्वयम्भू, पुरुषोत्तम, पुरुषसिंह, पुरुषपुण्डरीक, दत्त, नारायण (लक्ष्मण) और कृष्ण तथा ९ प्रतिवासुदेवों के रूप में अश्वग्रीव, तारक, मेरक, मधु, निशुम्भ, बलि, प्रह्लाद, लंकेश (रावण) और मगधेश्वर (कंस) का उल्लेख किया गया है।[२]

बारह चक्रवर्तियों की सूची में प्राप्त शान्ति, कुन्थु और अरनाथ जैन परम्परा के क्रमशः १६वें, १७वें और १८वें तीर्थंकर भी हैं, जिन्हें एक ही भव में तीर्थंकर और चक्रवर्ती दोनों ही पद प्राप्त हुए। चक्रवर्ती को सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का स्वामी एवं विश्वविजेता माना गया है। ये स्वर्ण वर्ण एवं काश्यप गोत्र के बताये गये हैं।[३] जैन परम्परा में ऐसी मान्यता है कि प्रत्येक तीर्थंकर की माता गर्भ धारण की रात्रि में कुछ शुभ स्वप्न के दर्शन करती थीं। श्वेताम्बर-परम्परा में इन स्वप्नों की संख्या १४ बताई गई है,[४] जबकि दिगम्बर-परम्परा में इनकी संख्या १६ है।[५] श्वेताम्बर-परम्परा के अनुसार १४ शुभस्वप्न क्रमशः गज, वृषभ, सिंह, गजलक्ष्मी, पुष्पहार, चन्द्रमा, सूर्य, ध्वजदण्ड, पूर्णकुम्भ, पद्मसरोवर, क्षीरसमुद्र, देवविमान, रत्नराशि और निर्धूम अग्नि हैं। दिगम्बर-परम्परा में मत्स्ययुगल

* यू.जी.सी. रिसर्च एसोसियेट, प्रा. भा. इ. सं. एवं पुरातत्त्व-विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, ४७ए रवीन्द्रपुरी, लेन. नं.-५, वाराणसी २२१००५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और सिंहासन को भी सम्मिलित किया गया है तथा ध्वजदण्ड के स्थान पर नागेन्द्र-भवन का उल्लेख है।

प्रत्येक चक्रवर्ती के जन्म के पूर्व उनकी माता ने भी इन्हीं १४ शुभ स्वप्नों के दर्शन किये थे।[६] श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों ही सम्प्रदायों में उन्हें चक्रवर्ती पद के सूचक १४ रत्नों का स्वामी बताया गया है। ये १४ रत्न क्रमशः चक्र, दण्ड, खड्ग, छत्र, चर्म, मणि, काकिणी (कौड़ी), अश्व, गज, सेनापति, गृहपति, शिल्पी, पुजारी एवं स्त्री हैं।[७] इसके अतिरिक्त चक्रवर्ती नौ निधियों—क्रमशः नैसर्प, पाण्डुक, पिंगल, सर्वरत्न, महापद्म, काल, महाकाल, माणव एवं शंख के धारक भी हैं।[८]

शलाकापुरुषों की सूची में सम्मिलित सभी बलदेव एवं वासुदेव उत्तम कुल में उत्पन्न श्रेष्ठ पुरुष थे। तीर्थंकरादि शलाकापुरुषों के मध्यवर्ती होने एवं तीर्थंकरों की अपेक्षा कम शक्तिशाली होने के कारण इन्हें मध्यम पुरुष माना गया है। ये दोनों मानसिक बल से सम्पन्न होने के कारण ओजस्वी, देदीप्यमान शरीर के धारक होने के कारण तेजस्वी बताये गये हैं। सभी बलदेव तालवृक्ष चिह्न तथा वासुदेव गरुडांकित ध्वजा के धारक थे।[९] यह बलदेव और वासुदेव की परिकल्पना की आधारभूत पृष्ठभूमि को वैष्णव धर्म से सम्बद्ध होने की ओर इंगित करता है; क्योंकि ताल और गरुड क्रमशः बलदेव (बलराम) एवं वासुदेव कृष्ण के मुख्य लक्षण रहे हैं। नौ प्रतिवासुदेव अथवा प्रतिशत्रु कीर्तिपुरुष वासुदेवों के शत्रु थे। ये सभी चक्रधारी थे तथा युद्ध में वासुदेव द्वारा स्वयं के चक्र से ही मारे गये।[१०]

श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों ही सम्प्रदाय इस बात का स्वीकार करते हैं कि प्रत्येक वासुदेव के एक श्वेत वर्णवाले सौतेले भाई थे, जो बलदेव के नाम से अभिहित थे। ये सदैव ही वासुदेव के पराक्रम से जुड़े थे तथा वासुदेवों से उत्तम थे। आरम्भिक ८ बलदेव मोक्षपद को तथा ९वें बलदेव (राम) स्वर्गलोक को प्राप्त हुए।[११]

तालवृक्ष-अंकित ध्वजा के धारक सभी बलदेव नीलवस्त्रधारी थे। श्वेताम्बर परम्परा में उनके आयुधों के रूप में धनुष, बाण, हल एवं मूसल का उल्लेख है। हेमचन्द्र ने सभी बलदेवों को संवर्तक नामक हल, सौमन्द नामक मूसल एवं चन्द्रिका नामक गदा का स्वामी बताया है।[१३] दिगम्बर-ग्रन्थ में गदा, हल, मूसल के साथ-साथ रत्नमाला का भी उल्लेख है।[१४]

पृथ्वी के तीन भागों पर विजय प्राप्त करने एवं चक्रवर्तियों के आधे अधिकारों का भोग करने के कारण वासुदेवों को अर्धचक्रवर्ती भी कहा गया है।[१५] कृष्णवर्णवाले वासुदेवों को पीतवस्त्रधारी बताया गया है।[१६]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आठवें वासुदेव नारायण के अतिरिक्त अन्य सभी वासुदेवों ने गौतम गोत्र में जन्म लिया, जबकि नारायण का जन्म काश्यप गोत्र में हुआ। वासुदेवों के सिर पर चक्र एवं समीप ही एक चामरधारी होता है। युद्ध में प्रतिवासुदेवों का वधकर्त्ता होने के कारण सभी वासुदेव मरणोत्तर नरक के भागी होते हैं।[१७] श्वेताम्बर परम्परा में वासुदेवों को शंख (पांचजन्य), चक्र, गदा (कौमोदकी), धनुष (शाङ्र्ग), खड्ग (नन्दक)-धारी बताया गया है। साथ ही उनके कौस्तुभ (मणि) एवं वनमाला से सुशोभित होने का भी उल्लेख है।[१८] दिगम्बर-परम्परा में उपर्युक्त आयुधों के साथ-साथ खड्ग के अलावा दण्ड और शक्ति का भी उल्लेख है।[१९]

शलाकापुरुषों की सूची में उल्लेखित ९ प्रतिवासुदेवों में से आरम्भिक आठ को विद्याधर माना गया है, जबकि नवें की गणना मनुष्य-रूप में की गया है। ब्राह्मण-परम्परा में भी वासुदेवों के प्रतिद्वन्द्वियों का उल्लेख है, जो सामान्यतया असुर या राक्षस कहलाते थे। इनमें तारक कार्तिकेय द्वारा मारा गया, जबकि मधु, बलि, रावण एवं जरासन्ध देवता और मनुष्यों के शत्रु थे, जो विष्णु के अवतार-स्वरूपों द्वारा मारे गये। जैन परम्परा में प्रह्लाद का उल्लेख प्रतिवासुदेव के रूप में किया गया है, जबकि ब्राह्मण-परम्परा में उनकी गणना एक महान् यति और भागवत-सम्प्रदाय के प्रथम उपासक के रूप में की गयी है।

आठवीं से १३वीं शती ई. के मध्य इन शलाकापुरुषों से सम्बद्ध स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना की गयी, जिनमें पउमचरिय, पद्मपुराण, हरिवंशपुराण, कहावली, तिलोयपण्णत्ति, महापुराण एवं त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र प्रमुख हैं।

११वीं एवं १३वीं शती ई. के मध्य गुजरात एवं राजस्थान के जैन मन्दिरों पर कुछ शलाकापुरुषों को मूर्त अभिव्यक्ति मिली। इन स्थलों पर इनके जीवन से सम्बद्ध कुछ महत्त्वपूर्ण घटनाओं को विस्तारपूर्वक उत्कीर्ण किया गया। ज्ञातव्य है कि प्रथम वासुदेव त्रिपृष्ठ महावीर का १६वाँ पूर्वभव है। कुम्भरिया (बनासकाँठा, गुजरात, ११वीं शती ई.) के महावीर एवं शान्तिनाथ के मन्दिरों में महावीर के जीवनदृश्यों के उत्कीर्णन के सन्दर्भ में त्रिपृष्ठ के जीवन की सिंहवध तथा संगीतज्ञों को दण्डित किये जाने की कथाओं को भी रूपायित किया गया है। दिलवाड़ा (आबू, सिरोही, राजस्थान) के विमलवसही (ल. ११५०ई.) एवं लूणवसही। (१३वीं शती ई. का पूर्वार्ध) के वितानों पर कृष्ण के कालियमर्दन तथा कारागार में कृष्ण-जन्म एवं बलिवामन-कथा के सन्दर्भों का उत्कीर्णन पूर्णरूप से *त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित* से निर्दिष्ट है।

जैन परम्परा के प्रथम चक्रवर्ती भरत आदि तीर्थंकर ऋषभनाथ के पुत्र थे। इनकी माता का नाम सुमंगला था। ऋषभनाथ ने दीक्षा ग्रहण करने से पूर्व भरत को अयोध्या का शासक बनाया तथा अपने दूसरे पुत्र बाहुबली को, जिसका जन्म उनकी दूसरी पत्नी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुनन्दा के गर्भ से हुआ था, तक्षशिला का शासक बनाया। राज्याभिषेक के कुछ समय पश्चात् भरत ने अपना दिग्विजय-अभियान प्रारम्भ किया तथा शीघ्र ही स्वयं को विश्वविजेता के रूप में स्थापित किया। अपनी इस विजय-यात्रा में भरत ने अनुज बाहुबली-सहित अपने अन्य ९८ भाइयों से अपनी अधीनता स्वीकार करने को कहा। बाहुबली के अतिरिक्त अन्य भाइयों ने भरत की अधीनता स्वीकार कर ली। फलस्वरूप भरत एवं बाहुबली के मध्य द्वन्द्वयुद्ध हुआ। इस द्वन्द्वयुद्ध के अन्तर्गत उनके मध्य दृष्टियुद्ध, मुष्टियुद्ध, वाग्युद्ध और बाहुयुद्ध हुआ, जिन सब में बाहुबली विजेता रहे। युद्ध में बाहुबली को अपराजेय पाकर भरत ने द्वन्द्वयुद्ध की पूर्वनियत शर्तों के प्रतिकूल बाहुबली पर कालचक्र से प्रहार किया। भरत की इस असीम राज्यलिप्सा को देखकर बाहुबली के मन में वैराग्य उत्पन्न हुआ और उन्होंने दीक्षा ग्रहण की। विजयोपरान्त अयोध्या लौटने पर भरत को चक्रवर्ती पद पर आसीन किया गया। उन्होंने चक्रवर्ती रूप में सांसारिक सुखों का भोग करते हुए लम्बे अन्तराल तक शासन किया।[२०]

कुम्भरिया के शान्तिनाथ-मन्दिर एवं दिलवाड़ा-स्थित विमलवसही के वितानों पर भरत-बाहुबली-युद्ध के प्रसंग उत्कीर्ण हैं। सर्वाधिक विस्तार-पूर्वक विमलवसही के रंगमण्डप से सटे (प्रवेशद्वार के समीप) वितान पर हुआ है। इस उदाहरण में एक ओर अयोध्या नगरी और दूसरी ओर तक्षशिला नगरी दिखाई गई है। प्रत्येक दृश्य या आकृति के नीचे उनकी पहचान और नाम भी उत्कीर्ण हैं।

सर्वप्रथम विनीता (अयोध्या) नगरी का अंकन है, जिसके नीचे 'श्रीभरतेश्वरस्तथा विनीताभिधाना नगरी' अभिलिखित है। शिबिका में आसीन स्त्री-आकृतियों के नीचे 'भगिनी बाम्मी माता सुमंगला तथा समस्त अन्तःपुर' लिखा है। शिबिका में बैठी अन्य स्त्री-आकृति के नीचे 'सुन्दरी स्त्री-रत्न' उत्कीर्ण है। प्रवेश-द्वार को 'प्रतोली' कहा गया है। आगे भरत की विशाल सेना को बाहुबली से युद्ध के लिए जाते दिखाया गया है। एक गज के नीचे 'पाट हस्ति विजयगिरि' अंकित है (विजयगिरि भरत का सबसे अच्छा हाथी था)। उस गज पर आरूढ़ योद्धा को 'महामात्य मतिसागर' कहा गया है (मतिसागर भरत का मुख्य मन्त्री था)। गजारूढ़ एक अन्य योद्धा सेनापति सुषेण है, जिसके नीचे 'सेनापति सुसेन' अभिलिखित है। उसके पीछे भरत का रथ है, जिसके नीचे 'भरतेश्वरस्य' लिखा है। दोनों ओर गजों, अश्वों एवं पदाति-सेनाओं की कतारें द्रष्टव्य हैं।

तक्षशिला नगरी से सम्बद्ध अंकन के नीचे 'बाहुबलिस्तथा-तक्षशिला-राजधानी' उत्कीर्ण है। समीप में उत्कीर्ण एक स्त्री और पुरुष आकृतियों के नीचे क्रमशः 'पुत्री जसोमती' एवं 'सिंहरथ सेनापति' लिखा है। आगे नगर द्वार से प्रस्थान करती सेना को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिखाया गया है। गजारूढ़ एक योद्धा 'सोमजस' (राजकुमार) तथा दूसरा 'मन्त्री बहुलमति' है। शिबिका में बैठी स्त्री-आकृतियों के नीचे 'अन्तःपुर' अंकित है। शिबिका में बैठी एक अन्य आकृति के नीचे 'सुभद्रा स्त्री-रत्न' (बाहुबली की पत्नी) लिखा है। आगे अश्वों गजों और पदाति-सेनाओं की कतारें उत्कीर्ण हैं। योद्धा समान वस्त्र धारण किये हुए व्यक्ति की पहचान सम्भव नहीं है; क्योंकि नीचे लिखा अक्षर मिट गया है। सम्भवतः यह बाहुबली की आकृति है।

आगे युद्धभूमि का अंकन है, जिसमें एक मृत योद्धा के नीचे 'अनिलवेगः' अंकित है। अश्वारूढ़ योद्धा के नीचे 'सेनापति सिंहरथ' उत्कीर्ण है। रथारूढ़ योद्धा के नीचे 'रथारूढ़ो भरतेश्वरस्य विद्याधर अनिलवेगः' लिखा है। विमान पर आरूढ़ एक व्यक्ति के नीचे 'अनिलवेगः' उत्कीर्ण है। आगे उत्कीर्ण एक गज के नीचे 'पट्टहस्ति विजयगिरि' अंकित है। गजारूढ़ योद्धा के नीचे 'आदित्यजय यशः' उत्कीर्ण है। एक अश्वारोही के नीचे 'सवेगदूतः' अभिलिखित है।

आगे दो पट्टों पर भरत और बाहुबली के मध्य होनेवाले द्वन्द्वयुद्ध का विस्तृत अंकन हुआ है। दोनों के मध्य होनेवाले दृष्टियुद्ध, वाग्युद्ध, मुष्टियुद्ध एवं चक्रयुद्ध से सम्बद्ध आकृतियों के नीचे क्रमशः 'भरतेश्वर बाहुबली दृष्टियुद्ध', 'भरतेश्वर बाहुबली वाग्युद्ध', 'भरतेश्वर बाहुबली बाहुयुद्ध', 'भरतेश्वर बाहुबली मुष्टियुद्ध', 'भरतेश्वर बाहुबली दण्डयुद्ध', 'भरतेश्वर बाहुबली चक्रयुद्ध' उत्कीर्ण है। आगे कायोत्सर्ग-मुद्रा में बाहुबली की खड़ी आकृति है, जिसके पैरों पर लतावल्लरियाँ लिपटी दिखाई गई हैं। नीचे 'काउसग्गस्थितश्च बाहुबली' उत्कीर्ण है। आगे बाहुबली को केवल ज्ञान प्राप्त करने की अवस्था में दिखाया गया है। नीचे 'समजात केवलज्ञाने बाहुबली' लिखा है। बाहुबली के दोनों ओर उनकी बहिनों ब्राह्मी और सुन्दरी की आकृतियाँ हैं, जो उनकी तपस्या के समय प्रतिबोध कराने के आशय से उनके पास गई थीं। नीचे 'वर्तिनी बाम्मी तथा सुन्दरी' उत्कीर्ण है।

कोने में ऋषभनाथ का समवसरण उत्कीर्ण है। समवसरण के दूसरी ओर भरत के दीक्षा-पूर्व का दृश्य है। दृश्य के नीचे 'अंगुलिकस्थाननिरीकस्थमाणभरतेश्वरस्य समजातकेवलज्ञान अयम् भरतेश्वरः' लिखा है। आगे एक देवी को भरत को ओधो (रजोहरण) देते हुए प्रदर्शित किया गया है, जो भरत के मुनिरूप को अभिव्यक्त करता है। नीचे 'भरतेश्वरस्य समजात केवलज्ञाने रजोहरण समर्पणे सानिध्यदेवता समायाता रजोहरण_सानिध्यदेवता' अभिलिखित है।[२२]

प्रथम वासुदेव त्रिपृष्ठ के जीवन की कुछ प्रमुख घटनाओं का अंकन महावीर के जीवनदृश्यों के अंकन के सन्दर्भ में कुम्भरिया के शान्तिनाथ एवं महावीर-मन्दिरों तथा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिलवाड़ा के विमलवसही पर द्रष्टव्य है। ज्ञातव्य है कि त्रिपृष्ठ महावीर का १८वाँ पूर्वभव था।

त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र में उल्लेख मिलता है कि एक बार प्रथम प्रतिवासुदेव अश्वग्रीव ने क्रुद्ध होकर एक सिंह को त्रिपृष्ट के पिता के खेतों में छोड़ दिया। सिंह ने अत्यधिक उपद्रव किया। त्रिपृष्ठ ने उस सिंह को पकड़कर बिना किसी शस्त्र के उसके दोनों जबड़े फाड़कर उसका अन्त कर दिया।[२३] आगे भी उल्लेख है कि एक बार त्रिपृष्ठ दरबार में कुछ संगीतज्ञों के संगीत का रसास्वादन कर रहा था और उसने अपने शय्यापालकों को यह आदेश दिया कि जब उसे निद्रा आ जाय तो संगीत का कार्यक्रम बन्द कर दिया जाए। किन्तु शय्यापालक संगीत का आनन्द लेने में राजा के आदेश का पालन करना ही भूल गये। निद्रा समाप्त होने पर कार्यक्रम को पूर्ववत् चलते देखकर त्रिपृष्ठ अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और उसने शय्यापालकों के कानों में गरम शीशा और राँगा डालकर उन्हें दण्डित किया।[२४]

उपर्युक्त ग्रन्थ में एक अन्य स्थल पर उल्लेख मिलता है कि विशाखनन्दिन् (अश्वग्रीव का पूर्वभव) और विश्वभूति (त्रिपृष्ठ का पूर्वभव एवं महावीर का १६वाँ पूर्वभव) चचेरे भाई थे। विश्वभूति सदैव ही पुष्पकन्दक नामक उद्यान में खेलते थे, जिसके कारण विशाखनन्दिन् उस उद्यान में खेलने से वंचित रह जाते थे। एक दिन विशाखनन्दिन् ने छल से विश्वभूति को उद्यान से हटाकर उसमें प्रवेश किया। पुनः विश्वभूति जब वहाँ आये, तब द्वारपाल ने उन्हें उद्यान में प्रवेश से रोका और बताया कि विशाखनन्दिन् के उद्यान में होने के कारण वे उसमें प्रविष्ट नहीं हो सकते हैं। पूर्व में छल द्वारा उद्यान से हटाये जाने की बात सोचकर विश्वभूति अत्यन्त क्रुद्ध हुए। क्रुद्धावस्था में ही विश्वभूति ने एक सेब से लदे वृक्ष पर मुष्टि से प्रहार किया, फलतः वृक्ष के सभी फल नीचे गिर गये। तत्पश्चात् उन्होने सम्भूत नामक मुनि से दीक्षा ग्रहण की। एक दिन भ्रमण करते हुए वे मथुरा पहुँचे, जहाँ विशाखनन्दिन् अपने सेवकों के साथ एक समारोह में सम्मिलित होने के लिए आया था। घूमते हुए विश्वभूति विशाखनन्दिन् के खेमे के पास पहुँचे, जिन्हें देखकर विशाखनन्दिन् अत्यन्त क्रुद्ध हुआ। तत्क्षण एक गाय के धक्का मारने से विश्वभूति भूमि पर गिर पड़े, जिसे देखकर विशाखनन्दिन् ने उनका उपहास किया। विश्वभूति अपना उपहास सहन न कर सके और गाय को दोनों श्रृंगों से पकड़कर उसकी ग्रीवा घुमा दी। मरणोपरान्त विश्वभूति देवता के रूप में उत्पन्न हुए।[२५]

कुम्भरिया के महावीर-मन्दिर की पश्चिमी भ्रमिका के वितान (उत्तर से दूसरा) पर महावीर के जीवनदृश्यों का अंकन है।[२६] एक दृश्य में विश्वभूति को एक वृक्ष पर प्रहार करते दिखाया गया है, नीचे 'विश्वभूति केवली' उत्कीर्ण है। दक्षिण की ओर त्रिपृष्ठ को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक सिंह के साथ युद्धरत भी दिखाया गया है। नीचे 'त्रिपृष्ठ वासुदेव' लिखा है। आगे त्रिपृष्ठ के जीवन का नरक में प्राप्त होनेवाली विभिन्न यातनाओं का अंकन है, जिसके नीचे 'त्रिपृष्ठ नरकवास' उत्कीर्ण है। इस अंकन में बैठी हुई एक आकृति के सिर पर दो आकृतियों को आरी जैसी वस्तु चलाते हुए दिखाया गया है। दो अन्य आकृतियों को भी एक व्यक्ति पर प्रहार करते हुए दिखाया गया है।

कुम्भरिया के शान्तिनाथ-मन्दिर की पश्चिमी भूमिका के वितान पर भी महावीर के जीवनदृश्य द्रष्टव्य है।[२७] बाहर से प्रथम आयत में महावीर के पूर्वभवों का अंकन है, जिसमें विश्वभूति के जीवन की घटना का उत्कीर्णन है। दृश्य में एक गाय का शृंग पकड़े हुए उत्कीर्ण विश्वभूति के नीचे 'विश्वभूति' लिखा है। समीप ही एक अन्य गाय और पुरुष-आकृतियाँ बनी हैं, जो विशाखनन्दिन् एवं उसके सेवकों की हैं। आगे विश्वभूति के जीव को देवता रूप में दिखाया गया है। देवता के समक्ष हल और मूसलधारी बलदेव अचल की आकृति है, जो त्रिपृष्ठ के बड़े भाई थे।

पश्चिम की ओर त्रिपृष्ठ की कथा उत्कीर्ण है। एक कायोत्सर्ग-आकृति के समीप सिंह और त्रिपृष्ठ की आकृतियाँ बनी हैं, जो सिंह और त्रिपृष्ठ के युद्ध का चित्रण है। आगे त्रिपृष्ठ और शय्यापालक की आकृतियाँ हैं। त्रिपृष्ठ को नमस्कार-मुद्रा में खड़े शय्यापालक पर प्रहार करते हुए दिखाया गया है। यह शय्यापालक को दण्डित करने का अंकन है। समीप ही एक नर्तकी एवं वाद्य-वादन करती दो आकृतियाँ भी उत्कीर्ण हैं, जो पूरे दृश्य को कथानुरूप जीवन्त कर देती हैं।

विमलवसही के गलियारे में गुम्बदी छत पर एक के ऊपर एक दो पट्टे उत्कीर्ण हैं। ऊपरी पट्ट पर आर्द्रकुमार (महावीर के शिष्य) द्वारा एक गज को प्रतिबोध कराने की कथा उत्कीर्ण है। इस अंकन के बाईं ओर एक सिंह को त्रिपृष्ठ से लड़ते हुए दिखाया गया है।

कुम्भरिया के महावीर-मन्दिर, विमलवसही एवं लूणवसही के वितानों पर कृष्ण के जीवन से सम्बद्ध दृश्य देखे जा सकते हैं। कुम्भरिया में नेमिनाथ के जीवनदृश्यों के प्रसंग में कृष्ण की आयुधशाला एवं नेमि और कृष्ण के मध्य हुए शक्ति-परीक्षण के दृश्य उत्कीर्ण हैं। (जैन परम्परानुसार कृष्ण २२वें तीर्थंकर नेमिनाथ के चचेरे भाई थे)।

जैन परम्परा में उल्लेख मिलता है कि एक बार भ्रमण करते समय नेमिनाथ कृष्ण की आयुधशाला में पहुँचे, जहाँ उन्होंने वासुदेव (कृष्ण) के चक्र, धनुष, गदा और खड्ग जैसे आयुधों को देखा। कौतूहलवश जैसे ही वे शंख उठाने के लिए उद्यत हुए, आयुधशाला के रक्षक चारुकृष्ण ने उन्हें प्रणाम किया और चुनौती भरे शब्दों में कहा : 'यद्यपि आप हरि (कृष्ण) के भाई हैं, तथापि शंख बजाना तो दूर, आप इसे उठा भी नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सकते।' इसपर नेमिनाथ ने मुस्करा कर शंख को सहज ही उठा लिया और बजा भी दिया। इस बात की सूचना मिलने पर कृष्ण नेमिनाथ की अपरिमित शक्ति से शंकित हो उठे और उनके साथ शक्ति-परीक्षण की इच्छा व्यक्त की। नेमिनाथ ने द्वन्द्वयुद्ध के स्थान पर दूसरे की भुजा झुका कर शक्ति-परीक्षण करने का निर्णय किया। नेमि ने सरलता से कृष्ण की भुजा झुका दी, जबकि कृष्ण नेमि की भुजा किंचित् भी झुका न सके। उनकी इस अपार शक्ति से भयभीत कृष्ण को बलराम ने बताया कि अत्यन्त शक्तिशाली होने के बाद भी नेमि स्वभाव से शान्त एवं राज्यलिप्सा से सर्वथा मुक्त हैं। उसी समय यह भी आकाशवाणी हुई कि नेमि भविष्य में दीक्षा ग्रहण करेंगे और तीर्थंकर होंगे।[२८]

कुम्भरिया के उकेरन में केवल कृष्ण की आयुधशाला शिल्पांकित है, जिसमें शंख, चक्र, गदा और खड्ग जैसे आयुध दिखाये गये हैं। समीप ही नेमिनाथ को पांचजन्य शंख बजाते दिखाया गया है। आकृति के नीचे 'श्रीनेमि' लिखा है। कृष्ण की आयुधशाला के समीप ही वार्तालाप की मुद्रा में वसुदेव-देवकी की आकृतियाँ बनी हैं।

विमलवसही की देवकुलिका सं. १० के वितान पर कृष्ण की आयुधशाला में नेमिनाथ और कृष्ण के मध्य हुए शक्ति-परीक्षण तथा कृष्ण की रानियों के साथ नेमिनाथ की जलक्रीड़ा के प्रसंग उत्कीर्ण हैं। जैन परम्परा में उल्लेख मिलता है कि नेमिनाथ को संसार के प्रति विरक्त देखकर उन्हें सांसारिक बन्धन में प्रवृत्त करने के उद्देश्य से उनके पिता समुद्रविजय ने कदाचित् कृष्ण से नेमिनाथ के समक्ष विवाह का प्रस्ताव रखने को कहा। विवाह-हेतु सहमत कराने के उद्देश्य से कृष्ण अपनी पत्नियों के साथ नेमिनाथ को जलक्रीड़ा के लिए ले गये।[२९]

दृश्य में कृष्ण और उनकी पाँच रानियों को नेमिनाथ के साथ जलक्रीड़ा करते हुए दिखाया गया है। शक्ति-परीक्षण के अंकन में नेमिनाथ को आयुधशाला में आते हुए तथा कृष्ण को सिंहासन पर विराजमान दिखाया गया है। कृष्ण और नेमि के हाथ अभिवादन की मुद्रा में उठे हैं। समीप ही नेमि को कृष्ण की कौमोदकी गदा उठाते हुए दिखाया गया है। आगे कृष्ण दाहिने हाथ से नेमि की भुजा झुकाने का असफल प्रयास करते हुए निरूपित हैं। तत्पश्चात् कृष्ण दोनों हाथों से नेमिनाथ की भुजा झुकाने का प्रयास कर रहे हैं। दूसरी ओर कृष्ण की सीधी फैली हुई भुजा को नेमि केवल एक ही हाथ से सरलता-पूर्वक झुकाते हुए दिखाये गये है। कृष्ण का नीचे झुका हुआ हाथ नेमि की विजय का संकेत है इस अंकन के बाद नेमि को पांचजन्य शंख बजाते हुए और शार्ङ्ग धनुष की प्रत्यंचा चढ़ाते हुए दिखाया गया है। प्रत्यंचा चढ़ाने से धनुष दो हिस्सों में खण्डित हो गया है। आगे कृष्ण और बलराम के वार्तालाप के प्रसंग उत्कीर्ण हैं, जो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नेमि की अपूर्व शक्ति के प्रति कृष्ण की चिन्ता और बलराम द्वारा कृष्ण को इस ओर से आश्वस्त कराने के भाव को सुन्दर ढंग से व्यक्त करता है।

विमलवसही की देवकुलिका ३३ (मूलतः देवकुलिका २९) पर कृष्ण द्वारा कालियमर्दन का सुन्दर अंकन हुआ है। *त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित* में उल्लेख मिलता है कि एक बार और बलराम मल्लयुद्ध-प्रतियोगिता देखने के लिए मथुरा जा रहे थे। मार्ग में कृष्ण स्नान करने के आशय से कालिन्दी(यमुना) नदी में उतरे, जहाँ कालियनाग ने उनपर आक्रमण किया। कृष्ण ने उसे पकड़ लिया और उसकी नासिका में सनालपद्म डालकर उसका दमन किया।[३०] कालियमर्दन के सम्बन्ध में जैन परम्परा में वर्णित कथा *महाभारत* और अन्य ब्राह्मण-ग्रन्थों की कथा से सर्वथा भिन्न है। ब्राह्मण परम्परानुसार कन्दुकक्रीड़ा के समय जब गेंद यमुना में चली गई, तब उसे निकालने के लिए कृष्ण यमुना में कूदे थे। वहीं उनकी मुठभेड़ कालिय सर्प से हुई, जिसका उन्होंने मर्दन किया।

दृश्यावली के मध्य में बने एक वृत्त में कालिय को नर-नाग-विग्रह में दिखाया गया है। तीन सर्पफणों के छत्रवाले नाग के कोटि के नीचे का भाग सर्पाकार है, जिसे गुम्फित वृत्त के रूप में दिखाया गया है। सर्पफणों के ऊपर नाग का मर्दन करते हुए कृष्ण निरूपित हैं। नाग की नासिका सनालपद्म से कसी हुई है। करण्डमुकुट, छत्रवीर, ग्रैवेयक और कौस्तुभधारी कृष्ण के हाथ में चक्र है, जो कालिय पर प्रहार की मुद्रा में उठा है। नाग को विनम्र भाव से हाथ जोड़कर कुछ इस प्रकार दिखाया गया है, मानों वह अपनी पराजय स्वीकार कर अनुग्रह की याचना कर रहा है। नाग के दोनों ओर उसकी सात पत्नियों की आकृतियाँ बनी हैं, जो कृष्ण की ओर नमस्कार-मुद्रा में कातर नेत्रों से इस प्रकार देख रही हैं, मानों अपनी पति की प्राणरक्षा की गुहार कर रही हों। वृत्त के बाहर के दृश्य में आसन पर एक पुरुषाकृति लेटी है तथा दो स्त्री-आकृतियाँ भी रूपायित हैं, जिसमें से एक लेटी आकृति का चरणचाप कर रही है, जबकि दूसरी पंखा झल रही है। यह सम्भवतः कालिय या कृष्ण एवं उनकी पत्नियों का अंकन है। आगे के दृश्य में एक स्त्री वृक्षों के मध्य खड़ी होकर दो पुरुषों के द्वन्द्व को देखती हुई उत्कीर्ण है। द्वन्द्वयुद्ध कृष्ण और चाणूर के मध्य हो रहा है। जैन परम्परा में उल्लेख मिलता है कि कालिय-मर्दन के पश्चात् जब कृष्ण मथुरा पहुँचे, तब वहाँ उन्होंने पद्मोत्तर नामक गज का संहार किया। तत्पश्चात् प्रसिद्ध मल्लयोद्धा चाणूर ने कृष्ण को चुनौती दी, पर वह पराजित हुआ।[३१] ऊपर के वृत्त में कन्दुकक्रीड़ा का अंकन है, जो जैन परम्परा के विपरीत है।

विमलवसही की देवकुलिका ४९ की दूसरी छत पर षोडशभुज नरसिंह की एक आकृति उत्कीर्ण है, जिसके समीप समुद्र-मन्थन की कथा उकेरी गई है। समीप ही कृष्ण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चरित के कुछ अन्य प्रसंग भी उत्कीर्ण हैं।[३२] यद्यपि जैन परम्परा में समुद्र-मन्थन का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है, तथापि प्रासंगिक सन्दर्भों में तुलनात्मक उल्लेख अवश्य प्राप्त होता है। भरत और बाहुबली के युद्ध के समय भरत की भुजा पर बँधी शृंखला को खींचते हुए सैनिकों की तुलना समुद्र-मन्थन में व्यस्त देवों और दैत्यों से की गई है। शृंखला को वासुकी सर्प की उपमा दी गयी है, जो मन्थन के समय रस्सी का कार्य कर रहा था तथा भरत की भुजा की तुलना मथानी-रूप मन्दर पर्वत से की गई है।[३३] मन्थन के समय समुद्र से आनेवाली मधुर ध्वनि के भी संकेत मिलते हैं।[३४] समुद्र-मन्थन से विष[३५] प्राप्त होने के साथ-साथ कुछ अन्य रत्नों के प्राप्त होने के भी संकेत प्राप्त होते हैं। मरुदेवी (ऋषभनाथ की माता) द्वारा स्वप्न में देखे गये स्वर्णकलश की समुद्र से उद्भूत अमृत कलश से उपमा दी गई है।[३६] राजा वज्रसेन द्वारा अपनी पुत्री श्रीमती का विवाह राजकुमार वज्रजंघ के साथ किये जाने की तुलना समुद्र द्वारा लक्ष्मी को विष्णु को दिये जाने से की गई है।[३७] यह उल्लेख समुद्र-मन्थन से उद्भूत लक्ष्मी को विष्णु द्वारा पत्नी-रूप में स्वीकार किये जाने की कथा की ओर संकेत करता है।[३८]

दृश्य में नागराज वासुकी को रस्सी और मन्दराचल पर्वत को मथानी बनाकर देवताओं और दैत्यों को समुद्र मथते निरूपित किया गया है। आगे एक पंक्ति में मन्थन से उद्भूत रत्नों को दिखाया गया है। सर्वप्रथम चतुर्भुजा लक्ष्मी को बैठी मुद्रा में दिखाया गया है, जिनके ऊर्ध्व करों में पद्म है, जबकि अंधःकर ध्यानमुद्रा में अंक में अवस्थित हैं। आगे वृषभ, अश्व और एक हंस को चोंच में पद्मनाल लिये निरूपित किया गया है। आगे एक पुरुषाकृति बनी है, जो सम्भवतः धन्वन्तरि (वैद्य) की है। आगे नवनिधि के सूचक ९ वृत्त बने हैं।

कृष्णचरित के अंकन में कृष्ण को माता की गोद में बैठे दिखाया गया है। वसुदेव और देवकी की वार्तालाप-मुद्रा में आकृतियाँ भी उकेरी गई हैं। कृष्ण सम्भवतः तृणावर्त का पैर पटकते दिखाये गये हैं। कन्दुक-क्रीड़ा का भी दृश्य अंकित है। कालियमर्दन के अंकन में नाग-नागिन का उत्कीर्णन है। पूर्व की ओर तीन अनुचरों से वेष्टित शिबिका में बैठी एक आकृति दिखायी गयी है, जो सम्भवतः मल्लयुद्ध में भाग लेने के लिए मथुरा जाते हुए कृष्ण की आकृति है।

लूणवसही के वितान तथा रंगमण्डप से सटे दक्षिणी भाग के छज्जों पर कृष्णचरित के कई प्रसंग उत्कीर्ण हैं। यथा-कृष्णजन्म, वासुदेव द्वारा कृष्ण को गोकुल ले जाना, कृष्ण की बाललीला एवं राक्षसों के वध के प्रसंग। *त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित* में उल्लेख मिलता है कि वसुदेव और देवकी के विवाह के उपलक्ष्य में कंस ने एक उत्सव का आयोजन किया था। उत्सव के मध्य में ही कंस के अनुज अतिमुक्त, जिन्होंने दीक्षा ग्रहण कर ली

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

थी, व्रतपारण के आशय से वहाँ आये। कंस की पत्नी जीवयश, जो मदिरा के प्रभाव में थी, उनके साथ नृत्य करने लगी। तत्क्षण मुनि ने यह घोषणा की कि 'जिसके लिए इस उत्सव का आयोजन किया गया है, उसी का सातवाँ पुत्र तुम्हारे पति एवं पिता का वधकर्त्ता होगा।' कंस ने मुनि-वचन को सत्य मानकर यह निश्चय किया कि इस बात के प्रचारित होने से पूर्व ही वह वसुदेव और देवकी से उसकी भावी सन्तानें माँग लेगा। कंस द्वारा स्वयं की इच्छा प्रकट करने पर वसुदेव देवकी तत्क्षण सहमत हो गये। कालान्तर में मुनि की घोषणा का ज्ञान होने पर वसुदेव अत्यन्त दुःखी हुए। कृष्ण का जन्म कंस द्वारा पूर्ण नियन्त्रित गृह (कारावास) में हुआ। शिशु-जन्म के समय देवताओं ने कंस के प्रहरियों को निद्रा में लिप्त कर दिया, जिससे वसुदेव शिशु को सुगमता से नन्दगाँव ले जा सके।[३९]

लूणवसही के उदाहरण में सम्पूर्ण दृश्यावली चार आयतों में विभक्त है। वितान के मध्य में देवकी नवजात शिशु के साथ शय्या पर लेटी है। समीप ही चार स्त्री-आकृतियाँ प्रदर्शित हैं, जिनमें से दो पंखा झल रही हैं, जबकि दो आकृतियों के करों में पात्र है। शय्या के नीचे कृष्णजन्म के मांगलिक प्रसंग के अनुरूप नवनिधि के सूचक नौ पात्र भी बने हैं। दूसरे और तीसरे आयतों में चार-चार अधखुले द्वार बने हैं, प्रत्येक के मध्य में एक-एक आकृति बनी है। अधखुले द्वार इस बात के सूचक हैं कि कृष्ण का जन्म कंस के सैनिकों के नियन्त्रण में हुआ था। दोनों आयतों के चारों ओर अलंकरण की दृष्टि से गज, वृक्ष, गजलक्ष्मी और चक्रेश्वरी की आकृतियाँ बनीं हैं। चक्रेश्वरी के गरुडवाहन को मानव रूप में दिखाया गया है। (मध्यकालीन श्वेताम्बर जैन मन्दिरों पर चक्रेश्वरी और लक्ष्मी का अंकन विशेष लोकप्रिय था)।

चौथे आयत (बाहरी) का दृश्य सम्भवतः कंस द्वारा कृष्ण-जन्म के लिए अपने सेवकों को सख्ती से नियन्त्रण करने के आदेश से सम्बद्ध है। इसमें पुनः चार अधखुले द्वार दिखाये गये हैं, जिनके मध्य खड़ी आकृतियों का अंकन है। पूर्व की और तीन गजों एवं चार अश्वाकृतियों के साथ दो अन्य गजाकृतियों को दरसाया गया है। दक्षिण की ओर १२ मानवाकृतियाँ उत्कीर्ण हैं, जिनमें कुछ के हाथ बँधे हुए हैं एवं कुछ के करों में दण्ड हैं। पश्चिम की ओर दो अश्वारूढ़ एवं गजारूढ़ आकृतियाँ हैं, जिनके करों में पात्र हैं। अश्वाकृतियों के पार्श्व में एक छत्रधारी आकृति हैं। उत्तरी सिरे पर एक खड्गधारी आकृति खड़ी है। समीप ही बनी श्मश्रूयुक्त और दक्षिण कर में खड्ग लिये कंस की राजसी आकृति है, जो हाथ बाँधे सामने खड़ी आकृति को कुछ आदेश दे रही है।

पूर्व की ओर गोकुल में कृष्ण की बाललीलाओं का उत्कीर्णन है। मध्य में बनी यशोदा की गोद में कृष्ण और बलराम को बैठे दिखाया गया है। यशोदा के पार्श्वों में चामरधारी स्त्री-आकृतियाँ बनी हैं, जिनके समीप ही दो वृक्षों से बँधे झूले पर कृष्ण को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खड़ा दिखाया गया है। झूले के नीचे दो बैठी आकृतियाँ हैं। आगे बाईं ओर कृष्ण को पद्मोत्तर नामक गज का वध करते दिखाया गया है। जैन परम्परा में उल्लिखित है कि जब कृष्ण और बलराम मथुरा के प्रवेश-द्वार पर पहुँचे, तब कंस के आदेश पर महावतों ने पद्मोत्तर एवं चम्पक नामक मत्त गजों को उनकी ओर छोड़ दिया। कृष्ण ने पद्मोत्तर एवं बलराम ने चम्पक का वध किया था।[४०] दृश्य में कृष्ण के पैरों के समीप झुके हुए शुण्डवाली और घुटनों के बल बैठी एक गजाकृति उत्कीर्ण है, जो कृष्ण द्वारा गज को वशीकृत किये जाने का संकेत देती है। कृष्ण का दाहिना हाथ गज की गर्दन पर रखा है, जबकि बायाँ हाथ प्रहार की मुद्रा में ऊपर की ओर उठा है। समीप ही कृष्ण द्वारा अर्जुन वृक्षों को उखाड़ने का दृश्य उत्कीर्ण है। *त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र* में उल्लेख मिलता है कि कृष्ण के यत्र-तत्र भाग जाने से परेशान यशोदा ने एक दिन उन्हें ओखली से बाँध दिया और पड़ोस के घर में चली गयीं। ततपश्चात् शूर्पक का पुत्र (पूतना का भाई) अपने पैतृक वैमनस्य का स्मरण कर वहाँ आया और उसने एक दूसरे के पास दो अर्जुन वृक्षों का रूप धारण किया। वह कृष्ण को ओखली-सहित कुचलने के उद्देश्य से दोनों वृक्षों के मध्य ले गया। पर कृष्ण ने अर्जुनवृक्षों को उखाड़कर उसका अन्त कर दिया।[४१] इस दृश्य में कृष्ण को युगल वृक्षों के ऊर्ध्वभाग को मजबूती से पकड़े हुए दिखाया गया है। दक्षिणी पट्ट में एक बालक को कदम्ब-वृक्ष की शाखाओं से झूलते हुए दिखाया गया है। वृक्ष के नीचे दो बैठी पुरुष आकृतियाँ एवं दो अन्य दण्डधारी आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं, जो सम्भवत: गोपों की हैं। एक आकृति अत्यन्त स्वाभाविक रूप से सिर के पीछे दण्ड का सहारा लिये खड़ी है। यह दृश्य गोकुल-निवासियों के दैनिक जीवन की सुन्दर झलक प्रस्तुत करता है। इन आकृतियों के ऊपर पाँच दुग्ध पात्र निरूपित हैं। तत्पश्चात् एक बड़ी आकृति अपने शरीर का पूरा भार दण्ड पर दिये अत्यन्त स्वाभाविक रूप से खड़ी दिखाई गई है, जिसके सम्मुख छह गो-आकृतियाँ बनीं हैं। यह उत्कीर्णक कृष्ण द्वारा गाय चराने से सम्बद्ध है। इसके बाद दो स्थानक स्त्री-आकृतियों को मक्खन निकालते दिखाया गया है। समीप ही बालरूप कृष्ण पात्र से मक्खन निकालने का प्रयास करते निरूपित हैं।

पश्चिम की ओर (बायें से) युक्त कंस को एक छत्रयुक्त ऊँचे सिंहासन पर आसीन दिखाया गया है। कंस के दाहिने हाथ में सम्भवत: खड्ग प्रदर्शित है, जबकि बायाँ हाथ सशस्त्र सैनिकों को कोई निर्देश देने की मुद्रा में ऊपर की ओर उठा है। तत्पश्चात् दो पुरुषाकृतियों के साथ दो गज एवं तीन अश्वाकृतियाँ अंकित हैं। पुरुषाकृतियों में से एक गज की सूँड़ पर किसी नुकीली वस्तु से प्रहार कर रही है, जबकि दूसरी आकृति को दूसरे गज का पैर ऊपर उठाये हुए दिखाया गया है। यह दृश्य कृष्ण और बलराम द्वारा क्रमश: पद्मोत्तर एवं चम्पक नामक गजों के युद्ध से सम्बद्ध है। इसके बाद एक छज्जेवाला

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दोमंजिला प्रासाद उत्कीर्ण है। छज्जे पर वातायनों के पास कुछ आकृतियाँ बैठी हैं। तत्कालीन प्रासाद-वास्तु की दृष्टि से यह उत्कीर्णन महत्त्वपूर्ण है। सम्पूर्ण दृश्यावली कंस (मथुरा में) के दरबार का दृश्य प्रस्तुत करती है।

लूणवसही की देवकुलिका-सं. ११ की दूसरी छत पर सम्भवतः नेमिनाथ के वैराग्य का विस्तृत दृश्य उत्कीर्ण है, जिसमें दूसरी पंक्ति में कृष्ण और जरासन्ध के मध्य हुए युद्ध का दृश्य उत्कीर्ण है। त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र में कृष्ण और जरासन्ध के मध्य हुए युद्ध का विस्तृत विवेचन मिलता है।[४२] दृश्य में कृष्ण और जरासन्ध शर-सन्धान की मुद्रा में आमने-सामने खड़े हैं। दोनों के साथ खड्ग, खेटक, और शूलधारी विशाल पदाति और अश्वसेनाओं का अंकन हुआ है।[४३]

सन्दर्भ-स्रोत :

१. विलियम मोनियर, मोनियर, संस्कृत अंग्रेजीकोश, पुनर्मुद्रित, दिल्ली १९८४, पृ. १०५९

२. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, भावनगर, १९०५-१९०९, १.६.३२६-६९

३. शाह उमाकान्त प्रेमानन्द, जैन रूपमण्डन, दिल्ली १९८७, पृ. ७२

४. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, १.२.२१३-२६

५. आदिपुराण (जिनसेनकृत), वाराणसी १९६२, १२. १०४-१९

६. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, १.२.८८५-८७

७. वही, १.४. ७०८-१२

८. वही, १.४. ५६८-८७, आदिपुराण, ३७. ७३-७४, ८३-८४

९. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, ४.१. २२०, ४.२.२१६

१०. वही, १.६.३६८-६९

११. वही, ८. १२. ६९-७०, जैन रूपमण्डन पृ. ७४-७५

१२. वही, पृ. ७५

१३. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, ४.१.६२६

१४. *उत्तरपुराण* (गुणभद्रकृत), दिल्ली १९५४, ५७.९३

१५. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, १. ६. ३३८-३९, जैन रूपमण्डन पृ. ७३

१६. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, १.६. ३३८

१७. वही, १. ६. ३३८-५७; जैन रूपमण्डन, पृ. ७४

१८. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, ४. १. ६२४-२५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१९. उत्तरपुराण, ५७.९२

२०. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, पर्व १, सर्ग ४,५

२१. वही, १.६. ७१५-५५

२२. जयन्तविजय मुनिश्री होली आबू, (अँगरेजी-अनुवाद उ.प्र. शाह) भावनगर, १९५४, पृ. ५८-६१

२३. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, ४.१.३५४-४१४

२४. वही, ४.१.८६६-८३

२५. वही, ४.१.११०-५८

२६. तिवारी, मारुतिनन्दन प्रसाद; जैन प्रतिमाविज्ञान, वाराणसी १९८१, पृ. १३९-४०

२७. वही, पृ. १४२

२८. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, ८.९.१-४४

२९. वही, ८.९.६-१२५

३०. वही, ८.५. २३०-६०

३१. वही, ८.५. २३६-८५

३२. तिवारी मा. न. प्र. एवं गिरि कमल : 'वैष्णव थीम्स इन दिलवाड़ा जैन टेम्पुल्स' कृष्णदत्त वाजपेयी अभिनन्दन-ग्रन्थ, दिल्ली १९७८ पृ. १९५-२०

३३. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, १.५.५६५, १.५.६४४

३४. वही, १.२. ५०६, १.५. ५९८

३५. वही, ९.१.७०-७५

३६. वही, १.२.२२१

३७. वही, १. १. ६८७

३८. विष्णुपुराण, गीता प्रेस गोरखपुर, वि.सं. १९९०, प्रथम अंश, ९.१००-१०५

३९. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, ८.५ ७१-८८, ९८-११४, ब्राह्मण-परम्परा में कृष्ण वसुदेव-देवकी के आठवें पुत्र बताये गये हैं।

४०. वही, ८.५. २५०-६०

४१. वही, ८.५. १३०-४०

४२. वही, ८. ७. १३४-४५७

४३. होली आबू, पृ. १२२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित में वर्णित तीर्थंकर

डॉ. शुभा पाठक *

'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित' श्वेताम्बर-परम्परा का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण चरित ग्रन्थ है, जिसकी रचना हेमचन्द्र ने १२वीं शती ई. के उत्तरार्ध में अपने आश्रयदाता कुमारपाल चौलुक्य के अनुरोध पर जनकल्याण के उद्देश्य से की थी।[१] आचार्य हेमचन्द्र गुजरात के एक लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् और जैन परम्परा के आचार्य थे। प्रस्तुत ग्रन्थ में जैन परम्परा के ६३ शलाकापुरुषों (श्रेष्ठ जनों या चरितों) का जीवन चरित विस्तारपूर्वक वर्णित है। ६३ शलाकापुरुषों में देवाधिदेव २४ तीर्थंकरों या जिनों के अतिरिक्त, १२ चक्रवर्त्तियों, ९ बलदेवों, ९ वासुदेवों एवं ९ प्रतिवासुदेवों का उल्लेख हुआ है।

गुजरात में जैनधर्म और कला के विकास में चौलुक्य-राजवंश (ल. ११वीं से १३वी. शती ई.) का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। चौलुक्य शासकों के काल में कई जैन मन्दिरों का निर्माण हुआ, जिनपर प्रभूत संख्या में तीर्थंकरों एवं अन्य जैन देवी-देवताओं की मूर्त्तियाँ बनीं। इन मन्दिरों में गुजरात के बनासकाठा जिले में स्थित कुम्भरिया का जैन मन्दिर समूह सर्वप्रमुख है। ये मन्दिर ११वीं से १३वीं शती ई. के हैं तथा सम्भवनाथ, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ तथा महावीर को समर्पित हैं। इन मन्दिरों के वितानों पर ऋषभनाथ, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ एवं महावीर (क्रमशः प्रथम, सोलहवें, बाईसवें, तेईसवें और चौबीसवें) के जीवनदृश्यों का विस्तृत अंकन हुआ है। इनमें जिनों के पंचकल्याणकों (च्यवन, जन्म, दीक्षा, कैवल्य, निर्वाण) के अतिरिक्त इनके जीवन की कुछ महत्त्वपूर्ण घटनाओं को भी शिल्पांकित किया गया है। यह शिल्पांकन पूरी तरह त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित के विवरण पर आधारित है। तीर्थंकरों के जीवन से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण घटनाओं में शान्तिनाथ द्वारा पूर्वभव में कपोत की प्राणरक्षा-हेतु शरीर-दान की कथा, नेमिनाथ के चचेरे भाई कृष्ण की आयुधशाला में नेमिनाथ का शौर्य-प्रदर्शन, नेमिनाथ के विवाह हेतु प्रस्थान तथा विवाह किये बिना ही मार्ग से लौटकर दीक्षा-ग्रहण तथा पार्श्वनाथ और महावीर के उपसर्गों के विस्तृत दृश्यांकन आदि प्रमुख हैं।

११वीं शती ई. के शान्तिनाथ एवं महावीर-मन्दिरों की पश्चिमी भ्रमिका के समतल वितानों पर प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ के जीवनदृश्य उत्कीर्ण हैं। शान्तिनाथ मन्दिर का दृश्यांकन चार आयतों में विभक्त है। बाहरी आयत में ऋषभनाथ के माता-पिता मरुदेवी

* ४७, रवीन्द्रपुरी कालोनी, वाराणसी - २२१ ००५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और नाभिराय को वार्त्तालाप की मुद्रा में तथा सेविकाओं से वेष्टित मरुदेवी को शय्या पर लेटे दिखाया गया है। आकृतियों के नीचे उनके नाम भी उत्कीर्ण हैं। मरुदेवी की लेटी आकृति के समीप ही १४ मांगलिक स्वप्न (गज, वृषभ, सिंह, अभिषेक, लक्ष्मी, ध्वज, अर्धचन्द्र, पुष्पहार, पूर्ण कुम्भ, सूर्य, देवविमान, रत्नराशि, पद्म-सरोवर, क्षीर-समुद्र तथा पात्र में निर्धूम अग्नि) भी उकेरे गये हैं।

उत्तरी पट्टिका में पुनः मरुदेवी एवं नाभिराय की आकृतियाँ बनी हैं। आगे शय्या पर (शिशुरहित) लेटी मरुदेवी के समक्ष चार वृषभ और एक अश्वारोही आकृतियाँ बनी हैं, जो ऋषभनाथ के च्यवन का अंकन है। अश्वारोही आकृति वज्रनाभ (ऋषभनाथ का पूर्वभव) की है।[२] आगे नाभिराय एवं विभिन्न इन्द्रों (जैन परम्परा में ६४ इन्द्रों की कल्पना है) की आकृतियाँ बनी हैं, जो मरुदेवी के स्वप्नों का फल बताने के आशय से उपस्थित हैं। इसका त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित में भी उल्लेख है।[३] दक्षिण की ओर ऋषभनाथ के राज्यारोहण और विवाह के दृश्य हैं, जिनमें उनके राज्यारोहण एवं विवाह के पूर्व स्नान का दृश्यांकन है। त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित में उल्लेख मिलता है कि विवाह के पूर्व इन्द्र ने ऋषभनाथ को स्नान कराया था तथा राज्यारोहण से पूर्व जल से उनकी शुद्धि की थी।[४]

दूसरे आयत में (पूर्व) ऋषभनाथ राजा के रूप में देवों एवं सेवकों के मध्य बैठे और मनुष्य जाति को विभिन्न कलाओं का ज्ञान दे रहे हैं, जो त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित के विवरण पर आधारित है। ग्रन्थ में उल्लेख है कि ऋषभनाथ ने ही मनुष्य जाति को सर्वप्रथम ७२ कलाओं का ज्ञान दिया था। दृश्य में ऋषभनाथ को रथ पर बैठे तथा हाथ में पात्र लिये दिखाया गया है। जो मृद्भाण्ड निर्माण एवं युद्धकला की शिक्षाओं का द्योतक है।[५]

उत्तर की ओर ऋषभनाथ की दीक्षा के दृश्य हैं। सर्वप्रथम ऋषभनाथ के गृहत्याग का अंकन है, जिसमें ऋषभनाथ एवं लोकान्तिक देव को दिखाया गया है। त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित में सन्दर्भ है कि प्रत्येक तीर्थंकर के गृहत्याग के समय लोकान्तिक देव प्रतिबोध के उद्देश्य से उपस्थित होते हैं। आगे पद्मासन में बैठी, केश-लुंचन करती ऋषभनाथ की पाँच आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं। पांचवी आकृति के समीप इन्द्र खड़े हैं, जो ऋषभनाथ से एक मुष्टि केश सिर पर ही रहने देने का आग्रह कर रहे हैं। इन्द्र की उपस्थिति त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित के विवरण के अनुरूप है।[६] यह दृश्य ऋषभनाथ द्वारा चतुर्मुष्टिक केशलुंचन तथा एक मुष्टि केश सिर पर ही छोड़ देने का भान कराता है। आगे कायोत्सर्ग-मुद्रा में तपस्यारत ऋषभनाथ के दोनों पार्श्वों में—उनके पौत्र नमि एवं विनमि की खड्गधारी आकृतियाँ हैं। त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित में उल्लेख है कि ऋषभनाथ की तपस्या के समय उनके पौत्र नमि और विनमि राज्यलक्ष्मी प्राप्त करने की इच्छा से काफी समय तक उनके पास खड़े रहे।[७]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दक्षिण की ओर ऋषभनाथ का समवसरण है। समवसरण एक देवनिर्मित सभा है, जहाँ कैवल्य-प्राप्ति के बाद प्रत्येक तीर्थंकर अपना प्रथम धर्मोपदेश देते थे। त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित के विवरण के समान समवसरण तीन प्राचीरोंवाली तथा प्रत्येक प्राचीरों में चार द्वारोंवाली वृत्ताकार देवनिर्मित सभा के रूप में दिखाया गया है।[८] चौथे आयत में ऋषभ-नाथ के यक्ष-यक्षी गोमुख एवं चक्रेश्वरी भी उत्कीर्ण हैं।

महावीर-मन्दिर के वितान के दृश्य कुछ परिवर्तनों अथवा अतिरिक्त विवरणों के अलावा मूलतः शान्तिनाथ-मन्दिर के समान हैं। सम्पूर्ण दृश्यावली तीन आयतों में विभक्त है। बाहरी पट्टिका में पूर्व की ओर सर्वार्थसिद्धि स्वर्ग में वार्त्तालाप करती वज्रनाभ एवं अन्य आकृतियाँ बनी हैं। लेख में 'सर्वार्थसिद्धि स्वर्ग' भी उत्कीर्ण है। त्रिषष्टिशलाका-पुरुषचरित में उल्लेख है कि वज्रनाभ का जीव सर्वार्थसिद्धि स्वर्ग से ही मरुदेवी के गर्भ में आया था।[९]

दूसरे आयत में उत्तर की ओर नवजात शिशु के साथ लेटी मरुदेवी हैं जिनके समीप इन्द्र, संगीतज्ञों के एक समूह तथा कलश, चामर लिए हुए दिक्कुमारियों की आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं। त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित में तीर्थंकर जन्म के समय इन्द्र तथा दिक्कुमारियों के उपस्थित होने का सन्दर्भ मिलता है।[१०]

पूर्व में इन्द्र द्वारा नवजात शिशु को अभिषेक हेतु मेरु पर्वत पर ले जाते हुए दिखाया गया है। आगे इन्द्र को पद्मासन में शिशु को गोद में लेकर बैठे दिखाया गया है, जिनके दोनों पार्श्वों में शिशु के अभिषेक हेतु अन्य इन्द्रों की कलशधारी आकृतियाँ बनी हैं। त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित में नवजात शिशु को मेरुपर्वत पर ले जाने तथा अन्य इन्द्रों द्वारा उनका अभिषेक करने का सन्दर्भ मिलता है।[११]

शान्तिनाथ एवं महावीर-मन्दिरों की भ्रमिकाओं पर जैन परम्परा के सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ के जीवनदृश्य देखे जा सकते हैं। सबसे बाहरवाली पट्टिका में शान्तिनाथ के दसवें पूर्वभव की एक कथा का अंकन हुआ है, जिसका उल्लेख त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित में मिलता है। ग्रन्थ में उल्लेख है कि शान्तिनाथ दसवें पूर्वभव में मेघरथ नामक राजा के रूप में उत्पन्न हुए। किसी समय सुरूप देव मेघरथ की परीक्षा लेने के उद्देश्य से एक कपोत के शरीर में प्रविष्ट हो गये। बाज से प्राणरक्षा की गुहार करता हुआ कपोत दरबार में बैठे मेघरथ की गोद में आ गिरा। कुछ समय पश्चात् बाज भी वहाँ पहुँचा और अपना आहार (कपोत) माँगने लगा। मेघरथ ने बाज से कपोत के स्थान पर कुछ और ग्रहण करने को कहा। बाज इस बात पर सहमत हुआ कि यदि उसे मनुष्य का उतना ही मांस मिल जाए तो वह अपनी क्षुधा-पूर्त्ति कर सकता है। मेघरथ ने तत्क्षण एक तुला मंगवायी और अपने शरीर का मांस काटकर उसपर रखना प्रारम्भ किया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शनैः शनैः कपोत के भीतर के देव ने अपना भार बढ़ाना प्रारम्भ किया। अन्त में मेघरथ स्वयं तुला पर बैठ गये। मेघरथ को किसी भी प्रकार धर्मच्युत न होता देख सुरूप देव ने स्वयं को प्रकट किया और क्षमा-याचना की।[१२]

इस दृश्य में मेघरथ को एक मण्डप में नर्त्तकों, संगीतज्ञों एवं सैनिकों के मध्य बैठे दिखाया गया है। आगे एक तुला है, जिसमें एक ओर मेघरथ तथा दूसरी ओर कपोत की आकृतियाँ बनी हैं। पूर्व की ओर के दृश्य में पर्वत पर एक चैत्य बना है, जिसके साथ मेघरथ की कायोत्सर्ग-मुद्रा में एक आकृति तथा कई अन्य राजन्य युगल आकृतियाँ वार्तालाप की मुद्रा में बनी हैं। त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित में मेघरथ द्वारा दीक्षा ग्रहण करने तथा तपस्या करने का उल्लेख मिलता है।[१३] उत्तर में शान्तिनाथ के च्यवन का दृश्यांकन है। दूसरे आयत में शान्तिनाथ के जन्म, परम्परानुरूप मेरुपर्वत पर विभिन्न इन्द्रों द्वारा उनके जलाभिषेक तथा जन्म के समय विभिन्न दिक्कुमारियों के आगमन का अंकन है।

तीसरे आयत में शान्तिनाथ को चक्रवर्ती के रूप में दिखाया गया है। ज्ञातव्य है कि शान्तिनाथ एक ही भव में तीर्थंकर और चक्रवर्ती दोनों हुए। सम्पूर्ण दृश्य चार छोटी पट्टिकाओं में विभाजित है। ऊपर की पट्टिका में शान्तिनाथ अधीनस्थ राजाओं के साथ बैठे हैं। नीचे दो पंक्तियों में नवनिधि के सूचक नव घट तथा १४ रत्न उत्कीर्ण हैं। १४ रत्नों के रूप में चक्र, छत्र, खड्ग, दण्ड, मणि, चर्म, काकिणी (कौड़ी) सेनापति, गृहपति, अश्व, गज, स्त्री, पुरोहित और काष्ठकार अंकित हैं।[१४] त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित में उल्लेख है कि विजय-अभियान के समय शान्तिनाथ ने नौ निधियाँ और १४ रत्न प्राप्त किये थे।[१५]

महावीर-मन्दिर पर उत्कीर्ण शान्तिनाथ के जीवनदृश्य तीन आयतों में विभाजित हैं, जिनमें उनके पंचकल्याणकों का अंकन किया गया है।

प्रथम आयत में (पश्चिम की ओर से) अचिरा देवी (शान्तिनाथ की माता) की शय्या पर लेटी आकृति है जिनके समीप १४ स्वप्न उत्कीर्ण हैं। दृश्य के नीचे 'चतुर्दशस्वप्नानि' अभिलिखित है। आगे पुनः नवजात शिशु के साथ अचिरा देवी लेटी है जिनके नीचे 'श्री अचिरादेवी प्रसूतिगृह शान्तिनाथ' लिखा है। उत्तर की ओर इन्द्र को शिशु का अभिषेक करते दिखाया गया है। आगे पश्चिम की ओर विभिन्न अधीनस्थ शासकों के मध्य चक्रवर्ती शान्तिनाथ बैठे हैं। नीचे 'शान्तिनाथ चक्रवर्ती' लिखा है। दक्षिण पूर्व की ओर चक्रवर्ती रूप में शान्तिनाथ के विजय अभियानों का अंकन है, जिसमें उनकी गजारूढ़ और अश्वारूढ आकृतियाँ बनीहै।

उत्तर की ओर शान्तिनाथ की दीक्षा, तपस्या एवं समवसरण का अंकन हुआ है। इस दृश्य में उन्हें केशलुंचन करते, तपस्या करते तथा उपदेश देते हुए दिखाया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शान्तिनाथ एवं महावीर मन्दिरों के भ्रमिका-वितानों पर जैन परम्परा के बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ के जीवनदृश्य भी द्रष्टव्य हैं। इन दृश्यों में नेमिनाथ के पंचकल्याणकों के अतिरिक्त नेमिनाथ एवं कृष्ण के मध्य हुए शक्ति-परीक्षण तथा नेमिनाथ के विवाह के प्रसंग विशेष महत्वपूर्ण हैं।

शान्तिनाथ-मन्दिर के दृश्य तीन आयतों में विभक्त हैं। बाहरी आयत में नेमिनाथ के पूर्वभव, च्यवन तथा उनके माता-पिता का अंकन है। दूसरे आयत में शिशु-जन्म तथा इन्द्र द्वारा उसके जलाभिषेक के सन्दर्भ हैं। दूसरे आयत में ही नेमिनाथ के विवाह का भी अंकन है। इस दृश्य में नेमिनाथ रथ पर आरूढ़ होकर विवाह स्थल की ओर जा रहे हैं। आगे शूकर, मेष, मृग जैसे पशुओं को एक पिंजरे में बन्द दिखाया गया है। यहाँ त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित के उल्लेख के विपरीत नेमिनाथ और राजीमती को विवाह मण्डप में एक साथ खड़े दिखाया गया है।

तीसरे आयत में नेमिनाथ की दीक्षा तथा तपस्या का अंकन है। इस दृश्य में नेमिनाथ को वस्त्राभूषण त्यागकर केश-लुंचन करते तथा कायोत्सर्ग-मुद्रा में खड़े दिखाया गया है। पश्चिम की ओर नेमिनाथ का समवसरण है, जिसमें गज-सिंह, मयूर-सर्प जैसे परस्पर वैर-भाव वाले जीव-जन्तु भी उत्कीर्ण हैं।

महावीर-मन्दिर की पश्चिमी भ्रमिका के वितान पर कृष्ण एवं नेमिनाथ के शक्ति परीक्षण, नेमिनाथ के विवाह तथा दीक्षा के दृश्य हैं। नेमिनाथ और कृष्ण के शक्ति-परीक्षण में नेमिनाथ को विजेता के रूप में प्रस्तुत किया गया है, जो ब्राह्मण धर्म पर जैनधर्म की श्रेष्ठता का सूचक है। अधिकांश दृश्यों के नीचे लेख भी हैं।

दृश्यावली के दक्षिणी छोर पर श्रीषेण (पिता) एवं अन्य अधीनस्थ शासकों के साथ राजा शंख (नेमिनाथ का पूर्वभव) की आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं। लेख में 'अपराजित विमानदेव' अंकित है। त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित में उल्लेख है कि शंख का जीव अपराजित विमान से च्युत होकर शिवादेवी के गर्भ में आया था।[१६] उत्तर की ओर नेमिनाथ के च्यवन और जन्म का अंकन है। आगे कृष्ण और नेमिनाथ के मध्य हुए शक्ति परीक्षण का अंकन है।

त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित में उल्लेख है कि कदाचित् नेमिनाथ घूमते हुए कृष्ण की आयुधशाला में पहुँच गये जहाँ उन्होंने कृष्ण के आयुधों को देखा। उत्सुकतावश जब उन्होंने शंख उठाना चाहा तो आयुधशाला के रक्षक ने उन्हें ऐसा करने से रोका तथा कहा कि आप द्वारा यह शंख बजाना तो दूर उठाना भी सम्भव नहीं है। इतने में नेमिनाथ ने शंख बजा दिया। यह सूचना पाकर कृष्ण अत्यन्त भयभीत हुए और उनके शक्ति-परीक्षण की इच्छा व्यक्त की। नेमिनाथ ने द्वन्द्व-युद्ध के स्थान पर एक दूसरे की भुजा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

झुकाकर शक्ति-परीक्षण का आग्रह किया। कृष्ण नेमिनाथ की भुजा किंचित् मात्र भी न झुका सके जबकि नेमिनाथ अत्यन्त सहजभाव से उनकी भुजा झुकाने में सफल हुए।[१७]

दृश्य में कृष्ण की आयुधशाला में शंख, गदा, चक्र, खड्ग जैसे आयुध प्रदर्शित हैं। समीप ही नेमिनाथ को कृष्ण का पांचजन्य शंख बजाते हुए दिखाया गया है तथा नीचे 'श्रीनेमि' लिखा है। आयुधशाला के समीप वसुदेव तथा देवकी की आकृतियाँ हैं। दक्षिण की ओर नेमिनाथ के विवाहमण्डप का अंकन है, जिसमें राजीमती को सखी के साथ दिखाया गया है। नीचे उत्कीर्ण लेख में क्रमशः 'राजीमती' और 'सखी' लिखा है। आगे के दृश्य में पिंजरे में बन्द शूकर, मृग, मेष, जैसे पशु प्रदर्शित हैं। साथ ही दो रथ भी उत्कीर्ण हैं जिनमें से एक विवाहमण्डप की ओर जाते हुए तथा दूसरा विवाहमण्डप की विपरीत दिशा में आते हुए दिखाया गया है। दोनों रथों में नेमिनाथ बैठे हैं। विवाहमण्डप के विपरीत दिशा की ओर आता हुआ रथ नेमिनाथ के बिना विवाह किये मार्ग से ही वापस जाने और दीक्षा लेने का शिल्पांकन है जो त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित के विवरण के अनुरूप है। इस ग्रन्थ में उल्लेख है कि नेमिनाथ ने विवाह के लिए जाते समय मार्ग में कुछ पशुओं को पिंजरे में बन्द देखा। विवाह में भोजन के निमित्त उन बन्दी पशुओं के वध के बारे में जानकर नेमिनाथ अत्यन्त दुखी हुए। उन्होंने विवाहस्थान तक गये बिना मार्ग से ही लौटकर दीक्षा ग्रहण कर ली।[१८] उत्तर की ओर नेमिनाथ की दीक्षा एवं तपस्या से सम्बन्धित आकृतियाँ हैं।

शान्तिनाथ एवं महावीर-मन्दिर की भ्रमिका के वितानों पर जैन परम्परा के तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के जीवनदृश्यों का भी उत्कीर्णन मिलता है।

महावीर-मन्दिर की पश्चिमी भ्रमिका के छठे वितान पर पार्श्वनाथ के पंचकल्याणकों के अतिरिक्त उनके पूर्वभवों तथा तपस्या के समय उपस्थित विभिन्न उपसर्गों का अंकन है। पूर्वभवों के अंकन में मरुभूति (पार्श्वनाथ का पहला पूर्वभव) तथा कमठ (मेघमालिन् का पहला पूर्वभव) के जीवों के विभिन्न भवों में हुए संघर्षों को भी विस्तारपूर्वक दिखाया गया है, जो पूर्णतः त्रिपष्टिशलाकापुरुषचरित से निर्दिष्ट है।

त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित में उल्लेख है कि पोतनपुर नामक नगर के शासक अरविन्द ने अपने शासन के अन्तिम वर्षों में दीक्षा ग्रहण की थी। अरविन्द के राज्य में विश्वभूति नामक एक ब्राह्मण पुरोहित निवास करता था जिसके मरुभूति एवं कमठ नामक दो पुत्र थे। मरुभूति के मन में सांसारिक वस्तुओं के प्रति कोई मोह नहीं था जबकि कमठ सदैव उनके प्रति आसक्त रहता था। कमठ ने मरुभूति के साधु स्वभाव का लाभ उठाकर उसकी पत्नी वसुन्धरा के साथ अनैतिक सम्बन्ध स्थापित कर लिया। मरुभूति की शिकायत के फलस्वरूप राजा अरविन्द ने कमठ को दण्डित किया। कमठ अत्यन्त लज्जित होकर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जंगल में चला गया। कुछ समय पश्चात् मरुभूति कमठ के पास क्षमा-याचना के लिए गया। उसे देखकर कमठ अत्यन्त क्रोधित हुआ और उसके मस्तक पर एक शिलाखण्ड से प्रहार किया, जिससे मरुभूति की मृत्यु हो गयी। अपने इस कुकृत्य के कारण कमठ को सदैव के लिए नरकगामी होना पड़ा।[१९]

दो आयतों में विभक्त दृश्यावली के बाहरी आयत में दक्षिण की ओर वार्त्तालाप की मुद्रा में उत्कीर्ण अरविन्द की आकृति के सामने मरुभूति एवं कमठ की आकृतियाँ बैठी हैं। आगे कमठ को एक शिलाखण्ड लिए दिखाया गया है। कमठ के सामने मरुभूति नमस्कार-मुद्रा में खड़े हैं तथा कमठ उनपर शिलाखण्ड से प्रहार करने को उद्यत है। आगे अरविन्द की साधुरूप में दो आकृतियाँ हैं जिसके नीचे 'अरविन्द मुनि' लिखा है।

त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित में उल्लेख है कि दूसरे भव में मरुभूति का जीव गज तथा कमठ का जीव कुक्कुट-सर्प के रूप में उत्पन्न हुआ। गज अरविन्द मुनि के उपदेशों को सुनकर यति धर्म का पालन करने लगा। एक दिन कुक्कुट सर्प ने पूर्वजन्म के वैर के कारण गज को डस लिया जिससे गज की मृत्यु हो गयी। तीसरे भव में मरुभूति का जीव देवता तथा कमठ का जीव नरकवासी हुआ, जहाँ उसे विभिन्न यातनाएँ भोगनी पड़ीं।[२०]

दृश्य में एक वृक्ष के समीप उत्कीर्ण अरविन्द मुनि तथा गज की आकृतियों के नीचे 'मरुभूति जीव' लिखा है। समीप ही एक दूसरी गजाकृति की पीठ पर कुक्कुट-सर्प को दंश करते दिखाया गया है। आगे कमठ के जीव को नरक में दी जाने वाली यातनाओं का अंकन है जिसमें मध्य में बैठी आकृति के मस्तक पर दो पार्श्ववर्त्ती खड़ी आकृतियाँ किसी धारदार वस्तु से प्रहार कर रही है।[२१]

चौथे भव में मरुभूति का जीव किरणवेग नामक राजकुमार तथा कमठ का जीव विकराल सर्प के रूप में उत्पन्न हुआ। पूर्वभव के वैर के कारण सर्प ने दंश कर किरणवेग के प्राण ले लिए। पांचवें भव में मरुभूति देवता तथा कमठ नरकवासी हुआ। छठे भव में मरुभूति वज्रनाम नामक राजकुमार तथा कमठ भिल्ल कुरंगक के रूप में उत्पन्न हुआ। पूर्वभवों के वैर के कारण कुरंगक ने बाण के प्रहार से वज्रनाभ का वध कर डाला।[२२]

शिल्पांकन में वार्त्तालाप की मुद्रा में उत्कीर्ण किरणवेग की आकृति के समीप दो अन्य आकृतियाँ बैठी हैं जिनके नीचे 'किरणवेग राजा' लिखा है। आगे कायोत्सर्ग में उत्कीर्ण किरणवेग के शरीर से एक सर्प लिपटा हुआ दिखाया गया है। पूर्व की ओर वज्रनाभ की बैठी आकृति के नीचे 'वज्रनाभ' लिखा है। आगे उन्हें मुनिरूप में दिखाया गया है और समीप ही शरसंधान की मुद्रा में कुरंगल की आकृति भी बनी है। आगे वज्रनाभ का मृत शरीर दिखाया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सातवें भव में मरुभूति का जीव ललितांगदेव के रूप में तथा कमठ का जीव शैरव नरक में उत्पन्न हुआ। आठवें भव में मरुभूति सुवर्णबाहु के रूप में तथा कमठ सिंह के रूप में उत्पन्न हुआ। एक दिन तपस्यारत सुवर्णबाहु पर सिंह ने आक्रमण कर उनके प्राण ले लिये। नवे भव में मरुभूति का जीव देवता तथा कमठ का जीव नरकवासी हुआ।[२३] दसवें भव में मरुभूति का जीव पार्श्वनाथ तथा कमठ का जीव कठ नामक साधु के रूप में अवतरित हुआ।

दृश्यांकन में वितान पर उत्तर की ओर सुर्वणबाहु मुनि कायोत्सर्ग में खड़े हैं तथा उनके समीप ही आक्रमण की मुद्रा में सिंह बना है। आकृतियों के नीचे 'कनकप्रभमुनि' और 'सिंह' लिखा है। आगे मरुभूति का देवता रूप में तथा कमठ के जीव को नरक में प्राप्त होनेवाली विभिन्न यातनाओं का अंकन है। पूर्वभवों के चित्रण के पश्चात् पार्श्वनाथ के जन्म एवं जन्माभिषेक का अंकन है।

पश्चिम की ओर गज पर बैठी तीन आकृतियों के नीचे 'पार्श्वनाथ' लिखा है। आगे कठ साधु के पंचाग्नि तप का अंकन है। त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित में उल्लेख है कि कठ साधु द्वारा पंचाग्नि तप करते समय पार्श्वनाथ ने अवधिज्ञान से यह जान लिया कि साधु के अग्निकुण्ड में जलते हुए एक काष्ठ में एक सर्प झुलस रहा है। पार्श्वनाथ के आदेश पर उस काष्ठ को चीर कर सर्प को निकाला गया। अत्यधिक जल जाने के कारण सर्प की मृत्यु हो गई। अगले जन्म में यही सर्प नागराज धरण हुआ, जिसने पार्श्वनाथ की तपस्या के समय मेघमालिन् असुर के उपसर्गों से पार्श्वनाथ की रक्षा की थी। इस घटना के बाद ही पार्श्वनाथ को संसार से विरक्ति हो गई। उन्होंने दीक्षा ग्रहण करली।[२४]

दृश्य में कठ साधु के समक्ष ही गजारूढ़ पार्श्वनाथ को दिखाया गया है। आगे परशु से लकड़ी चीरती हुई एक आकृति बनी है और पास ही लकड़ी से निकला सर्प भी द्रष्टव्य है। आगे केशलुंचन करती पार्श्वनाथ की आकृति है। दक्षिण की ओर कायोत्सर्ग-मुद्रा में खड़े तपस्यारत पार्श्वनाथ के शीर्ष भाग पर सर्पफणों का छत्र भी बना है, जो तपस्या के समय मेघमालिन् द्वारा उपस्थित किये गये उपसर्ग (वर्षा) के समय धरणेन्द्र द्वारा पार्श्वनाथ की रक्षा से सम्बन्धित है। पार्श्वनाथ के समीप ही मेघमालिन् को क्षमा याचना करते हुए दिखाया गया है। त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित में उल्लेख है कि जब पार्श्वनाथ मेघमालिन् द्वारा उपस्थित किये गये विभिन्न उपसर्गों से अविचलित रहे, तब मेघमालिन् ने अपनी पराजय स्वीकार कर पार्श्वनाथ से क्षमा-याचना की।[२५]

मध्यवर्ती आयत में २४ जिनों के माता-पिता का सामूहिक अंकन हुआ है, जिनके नीचे उनके नाम भी लिखे हैं। यह तीर्थंकरों के माता-पिता के निरूपण के प्रारम्भिक उदाहरणों में एक है। शान्तिनाथ मन्दिर की पूर्वी भ्रमिका के वितान पर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी पार्श्वनाथ के जीवनदृश्य उत्कीर्ण हैं, जो विवरण की दृष्टि से महावीर मन्दिर के समान हैं।

शान्तिनाथ एवं महावीर मन्दिरों की भ्रमिका के वितानों पर जैन परम्परा के चौबीसवें एवं अन्तिम तीर्थंकर महावीर के जीवनदृश्य देखे जा सकते हैं। महावीर-मन्दिर की दृश्यावली तीन आयतों में विभक्त है, जिनमें महावीर के पूर्वभवों, जन्म, दीक्षा तथा तपस्याकाल के विभिन्न उपसर्गों का अंकन किया गया है।[२६]

दूसरे आयत में महावीर के पूर्वभवों का अंकन है, जिसमें नयसार (महावीर का प्रथम पूर्वभव) को तीन जैन मुनियों के साथ दिखाया गया है। मुनियों के एक हाथ में मुख-पट्टिका है तथा दूसरा हाथ अभयमुद्रा में है। त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित में उल्लेख है कि कदाचित् नयसार नामक व्यक्ति ने अपने भाग का भोजन भूखे मुनियों को कराने के पश्चात् मुनिव्रत धारण कर लिया तथा मरणोपरान्त स्वर्ग में देवता के रूप में उत्पन्न हुआ। दूसरे भव में नयसार के जीव को देवता के रूप में दिखाया गया है।[२६]

तीसरे भव में नयसार का जीव भरतपुत्र मरीचि हुआ। दृश्य में मरीचि की आकृति बनी है। नयसार का जीव १६वें भव में विश्वभूति नामक राजकुमार तथा १७वें भव में देवता के रूप में उत्पन्न हुआ।१८वें भव में वह प्रथम वासुदेव त्रिपृष्ठ के रूप में जनमा। वितान पर विश्वभूति तथा त्रिपृष्ठ के जीवन की घटनाओं का अंकन किया गया है।

त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित में उल्लेख मिलता है कि कदाचित् विश्वभूति ने क्रुद्ध होकर एक सेव से लदे वृक्ष पर प्रहार किया, फलतः वृक्ष के सभी फल गिर गये। तत्पश्चात् उन्होंने दीक्षा ग्रहण की।[२८] ग्रन्थ में यह भी उल्लेख मिलता है कि प्रथम वासुदेव त्रिपृष्ठ ने कदाचित् बिना किसी शस्त्र के सिंह के दोनों जबड़े फाड़कर उसका वध किया था।[२९] दृश्य में विश्वभूति को एक वृक्ष पर प्रहार करते हुए दिखाया गया है, जिसके नीचे 'विश्वभूति केवली' लिखा है। दक्षिण की ओर त्रिपृष्ठ को एक सिंह से युद्ध करते हुए दिखाया गया है।

अपने अमानवीय कृत्य के कारण नयसार का जीव १९वें भव में नरकवासी हुआ। दृश्य में नयसार के जीव को नरक में विभिन्न प्रकार की यातनाएँ सहते हुए दिखाया गया है तथा नीचे 'त्रिपृष्ठ नरकवास' लिखा है। समीप ही एक सिंह तथा नरक की यातनाओं का अंकन है, जिसके नीचे 'अग्नि नरकवास' लिखा है। ये दोनों दृश्य नयसार के २०वें तथा २१वें भव के हैं। आगे प्रियमित्र चक्रवर्ती, नन्दन तथा देवता की मूर्तियाँ हैं जो नयसार के जीव के २२वें, २४वें एवं २५वें भवों का अंकन है।

बाहरी आयत में महावीर के जन्म तथा विवाह के दृश्य उकेरे हैं। दूसरे आयत में महावीर को दीक्षा के समय केशलुंचन करते हुए तथा इन्द्र को उनके केशों को संचित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करते हुए दिखाया गया है। समीप ही महावीर द्वारा परित्यक्त कर्णफूल, मुकुटहार जैसे आभूषण तथा खड्ग प्रदर्शित हैं। आगे महावीर को मुखपट्टिका-युक्त किसी ब्राह्मण को दान देते दिखाया गया है। नीचे 'महावीर" एवं 'देवदूष्य ब्राह्मण' लिखा है। त्रिषष्टि-शलाकापुरुषचरित में उल्लेख मिलता है कि दीक्षा के पूर्व महावीर द्वारा दान दिये जाने के समय एक ब्राह्मण वहाँ उपस्थित न हो सका था। दीक्षोपरान्त जब उस ब्राह्मण ने महावीर से कुछ मांगा तो वे उसे निराश न कर सके और अपने कंधे पर रखे वस्त्र (देवदूष्य) में से आधा फाड़कर उसे दे दिया।[३०]

आगे महावीर की तपस्या के समय उपस्थित विभिन्न उपसर्गों का विस्तृत अंकन है। त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित में वर्णन है कि भ्रमण काल के समय एक बार महावीर शूलपाणि यक्ष के प्रतिबोध के उद्देश्य से उसके ही आयतन में रुके। रात्रि के समय तपस्यारत महावीर के सामने यक्ष ने प्रकट होकर भयंकर अट्टहास किया, गज के रूप में उनके पैरों पर भयंकर पीड़ा पहुँचाई, पिशाच के रूप में तीक्ष्ण नखों और दाँतों से उनके शरीर को नोचा, सर्प के रूप में दंश कर उनके शरीर को पीड़ा पहुँचाई। किन्तु महावीर अविचलित रहे। अन्त में यक्ष ने अपनी पराजय स्वीकार कर उनसे क्षमा-याचना की तथा वह स्थान छोड़कर चला गया।[३१] दृश्य में महावीर यक्षायतन में बैठे हैं। दक्षिण की ओर शूलपाणि यक्ष की आकृति उत्कीर्ण है। समीप ही वृश्चिक, सर्प, गज एवं सिंह की भी आकृत्तियाँ बनी है। साथ ही बाण, चक्र जैसे शस्त्र भी अंकित है जिनसे महावीर का उपसर्ग किया गया। नीचे 'महावीर उपसर्ग' लिखा है।

त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित में उल्लेख है कि तपःसाधना के दूसरे वर्ष चण्डकौशिक नामक भयंकर सर्प ने ध्यानस्थ महावीर के पैरों तथा शरीर पर दंश कर उन्हें विचलित करना चाहा पर महावीर पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। ग्रन्थ में यह भी उल्लेख मिलता है कि तपश्चर्या के पाँचवें वर्ष लाट देश में वहाँ के अनार्यों ने महावीर पर दण्ड, शूल, मुष्टि तथा पत्थर से प्रहार कर पीड़ा पहुँचाई। श्वान दूर से ही काटने के लिए दौड़े, पर महावीर शान्त भाव से तपस्यारत रहे।[३२]

चण्डकौशिक के उपसर्ग के अंकन में महावीर कायोत्सर्ग-मुद्रा में खड़े हैं, जिनके दाहिने पार्श्व में सर्प को दंश करते दिखाया गया है; ऊपर की ओर आक्रमण की मुद्रा में एक अन्य आकृति बनी है, जो लाट देश के अनार्यों द्वारा उत्पन्न उपसर्ग का अंकन है।

आगे संगमदेव के उपसर्गों का विस्तारपूर्वक अंकन हुआ है। त्रिषष्टिशलाका-पुरुषचरित में उल्लेख है कि साधना के ११वें वर्ष में संगमदेव ने महावीर की परीक्षा लेने के आशय से एक ही रात्रि में २० उपसर्ग उपस्थित किये थे। प्रलयकारी धूल की वर्षा, वृश्चिक, नकुल, सर्प, मूषक, गज, पिशाच, सिंह, चाण्डाल आदि उपसर्गों द्वारा उसने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महावीर को विभिन्न प्रकार की यातनाएँ पहुँचाई। उनपर कालचक्र भी चलाया, जिससे उनका आधा शरीर भूमिगत हो गया।[३३]

दृश्य में कायोत्सर्ग में खड़े महावीर पर सर्प तथा खड्ग से प्रहार करती हुई एक आकृति बनी है। एक वृषभ को भी महावीर पर आक्रमण करते दिखाया गया है।

आगे चन्दनबाला कथा उकेरी गई है। चन्दनबाला धनावह नामक सेठ की पालित पुत्री थी। एक बार चन्दनबाला पिता के पैर धो रही थी कि नीचे झुकने के कारण उसकी केशराशि खुल गयी। केशों को कीचड़ न लग जाए, इस कारण धनावह ने सहज वात्सल्य-भाव से चन्दनबाला के केशों को ऊपर उठाकर जूड़ा बाँध दिया। यह देखकर मूला (धनावह की पत्नी) के मन में संदेह उत्पन्न हो गया तथा उसने चन्दनबाला के नाश का निश्चय किया। किसी दिन धनावह के घर से बाहर जाने पर मूला ने चन्दनबाला के केश मुड़वाकर उसे एक कमरे में बन्द कर दिया। लौटने पर यह सब जानकर धनावह अत्यन्त दुःखी हुआ। धनावह ने चन्दनबाला से उड़द के बाकलों को ग्रहण करने को कहा। उसी समय भिक्षा माँगते हुए महावीर वहाँ पहुँच गये। चन्दनबाला ने उन बाकलों को भिक्षारूप में दे दिया। उसी समय आकाश में 'महादान-महादान' की देववाणी हुई और चन्दनबाला के मुण्डित मस्तक पर स्वतः लम्बी केशराशि उत्पन्न हो गयी। इन्द्र ने महावीर-सहित चन्दनबाला की वन्दना की तथा चन्दनबाला ने दीक्षा ग्रहण की।[३४]

वितानदृश्य में दक्षिण की ओर चन्दनबाला को सिंहासन पर बैठे धनावह का पैर धोते दिखाया गया है। धनावह उसकी केशराशि दण्ड से ऊपर उठा रहा है। नीचे 'चन्दनबाला' लिखा है। आगे चन्दनबाला कमरे में बन्द है। अगले दृश्य में महावीर को भिक्षा देती हुई चन्दनबाला की आकृति के नीचे 'चन्दनबाला' तथा 'महावीर' अभिलिखित है। समीप ही नमस्कार-मुद्रा में इन्द्र की आकृति भी उकेरी है। आगे महावीर की कायोत्सर्गमुद्रा की आकृति बनी है।

शान्तिनाथ-मन्दिर की दृश्यावली चार आयतों में विभाजित है। बाहरी आयत में महावीर के पूर्वभवों तथा च्यवन एवं जन्म के दृश्य हैं।

त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित में उल्लेख मिलता है कि कदाचित् कोई देव महावीर की परीक्षा लेने के उद्देश्य से क्रीड़ास्थल पर आये। उस समय की क्रीड़ा में महावीर किसी वृक्ष को लक्ष्य बनाकर उसकी ओर दौड़ते थे और उस वृक्ष पर चढ़कर नीचे उतरते थे। सर्वप्रथम नीचे उतरनेवाला बालक विजयी माना जाता था। तत्पश्चात् विजित बालक पराजित बालक के कन्धों पर बैठकर दौड़ आरम्भ होने के स्थान पर जाता था। देव ने विषधर सर्प का रूप धारण किया तथा लक्ष्यभूत वृक्ष से लिपट गया। सभी बालक डर गये, पर महावीर ने निर्भय होकर सर्प को एक ओर फेंक दिया। देवता ने बालक के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रूप में भी दौड़ में भाग लिया, पर पराजित हुआ और नियमानुसार महावीर देवता पर आरूढ़ हुए[३५]। दृश्य में महावीर एक बालक की पीठ पर बैठे हैं। नीचे 'वीर' अंकित है। समीप ही एक वृक्ष के पास महावीर खड़े हैं और सर्प को हटा रहे हैं। नीचे 'वीर' लिखा है।

तीसरे आयत में पूर्व की ओर महावीर को केशलुंचन तथा इन्द्र द्वारा उनके केशों के संचय का अंकन है। आगे तपस्यारत महावीर की चार आकृतियाँ बनी हैं, जिनके शीर्षभाग में चक्र बना है और उनके जानु के नीचे का भाग नहीं दिखाया गया है। यह संगमदेव द्वारा महावीर पर कालचक्र (१८वाँ उपसर्ग) चलाये जाने का अंकन है, जिसके प्रभाव से महावीर का आधा शरीर भूमिगत हो गया था। बायें कोने पर संगमदेव को क्षमा माँगते दिखाया गया है। दक्षिण की ओर चन्दनबाला की कथा भी उत्कीर्ण है।[३६]

इस प्रकार स्पष्ट है कि कुम्भारिया के जैन मन्दिरों के वितानों पर तीर्थंकरों के जीवन-दृश्यों के उत्कीर्णन में हेमचन्द्र की त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित के विवरणों का पूरा उपयोग किया गया है जो इस कथापरक जैनग्रन्थ के तत्कालीन महत्व को उजागर करते हैं।

सन्दर्भ-स्रोत :

१. त्रि.श.पु.च. (त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित) जैन आत्मानन्द प्रसारक सभा, भावनगर, १९०५-०९, अंग्रेजी अनुवाद, हेलेन. एम. जानसन, गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज, ६ : खण्डों में, क्रमशः १९३१, ३७, ४९, ५४, ६२, ६२, १०, प्रशस्ति, १९

२. तिवारी एम. एन. पी. "लाइफ्स आफ दि जिन्स ऐज डेपिक्टेड इन कुम्भारिया जैन टेम्पुल्स" प्राचीप्रभा बी. एन. मुखर्जी अभिनन्दन-ग्रन्थ (सं. डी. सी. भट्टाचार्य आदि) दिल्ली १९८९, पृ. २६२-७१

३. त्रि.श.पु.च. १.२.२२८-३५ ४. वही, १.२.६३५-९११

५. वही, १.२.९२४-८४, तिवारी, एम. एन. पी. पू.नि. पृ. ३६३

६. त्रि.श.पु.च. १.२.६०-७० ७. वही, १.३. १३४-४४

८. वही, १.३.४२१-७७ ९. वही, १.२. २०७-१२

१०. वही, १.२. २७३-३३० ११. वही, १.२. ३३०-६४६

१२. वही, ५.४. २५३-९० १३. वही, ५.४. ३४५-५७

१४. तिवारी, एम. एन. पी. पू.नि. ३६७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१५. त्रि.श.पु.च. ५.५ १२५-२६६ १६. वही, ८.५. १७०-७३

१७. वही, ८.९.१-३५ १८. वही, ८.९. ४५-२५६

१९. वही, ९.२. ३-५५ २०. वही, ९. २. ५६-१०९, ११६-१७

२१. तिवारी, एम. एन. पी., जैन प्रतिमाविज्ञान (जै. प्र.) वाराणसी १९८१, पृ. १३२

२२. त्रि.श.पु.च. ९.२.११८-९७ २३. वही, ९.२. १९५-३१०

२४. वही, ९.२. २१०-३० २५. वही, ९.३. २६०-९५

२६. जै.प्र. पृ. १३९

२७. वही, पृ. १३९-४०, त्रि.श.पु.च. १०.१.३-२४

२८. *वही*, ४.१.११०-५८ २९. *वही*, ४.१. ३५४-४१४

३०. *वही*, ९०.३. १-१४ ३१. *वही*, १०.१. १११-४६

३२. *वही*, १०. ३. २२५-८०, ५४४-६६

३३. *वही*, १०.४. १८४-२८१ ३४. *वही*, १०.४. ५१६-६००

३५. *वही*, १०. २. ८८-१२४ ३६. *जै. प्र.* १४३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रीलंका में जैनधर्म

*डॉ. अरविन्द महाजन**

प्राचीन जैनग्रन्थों में श्रीलंका का उल्लेख सिंहलद्वीप के रूप में हुआ है और इसकी गणना अनार्य देशों में हुई है।[१] जैनग्रन्थों के अनुसार, भरत चक्रवर्ती ने सिंहल-विजय किया था[२] और सम्भवत: उन्होंने ही वहाँ आर्य-संस्कृति का भी बीजारोपण किया। प्राचीन काल में भारत का दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों से व्यापारिक सम्बन्ध था और भारतीय व्यापारी जलमार्ग (समुद्रमार्ग) से दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों की यात्रा किया करते थे। यात्रा के मध्य में सिंहलद्वीप उनकी विश्रामस्थली थी।[३] श्रीलंका के प्राचीन इतिहास से ज्ञात होता है की आर्यों के आगमन से पूर्व वहाँ अनार्यों का वास था।[४] बाद के काल में जम्बूद्वीप (भारत) से आर्यों की अनेक जातियाँ वहाँ जाकर बसीं। कहा जाता है कि सर्वप्रथम भारत के वंग-प्रदेश से असुर जाति का वररोज नामक सरदार असुर, यक्ष, नाग और नर जाति के लोगों को लेकर सिंहलद्वीप पहुँचा और वहाँ बस गया। रावण उसके पश्चात् सिंहल का राज्याधिकारी हुआ था। इसके काफी समय के बाद लगभग भगवान् महावीर के काल में उड़ीसा के सिंहपुर से विजय नामक राजकुमार सिंहलद्वीप पहुँचा और अपना शासन स्थापित किया। २३६ ई. के पहले श्रीलंका में बौद्ध धर्म का प्रचार हो गया था। जैनग्रन्थों में भी सिंहलद्वीप में सुर, किन्नर, खेचर आदि लोगों के वास का उल्लेख है। ये सभी विद्याधर मानव थे।

जैनग्रन्थों में सिंहलद्वीप का उल्लेख विविध प्रकार से हुआ है। 'करकण्डुचरित्र' के अनुसार करकण्डुनरेश सिंहलद्वीप गये, जहाँ सुर-खेचर-किन्नर विचरण करते थे और जहाँ स्त्रियाँ साक्षात् रति रूप थीं। उन्होंने वहाँ की राजकुमारी से विवाह किया और वहाँ से जलपोतों के द्वारा वापस भारत आये।[५]। श्रीदशभकत्यादि महाशास्त्र में भी सिंहलद्वीप की स्त्रियों का सौन्दर्य-वर्णन है और उन्हें पद्मिनी कहा गया है।[६] भारत के राजा सिंहल की राजकुमारियों से विवाह के लिए लालायित रहते थे। नारायण कृष्ण के समय सिंहलद्वीप के राजा श्लक्ष्णरोमा की पुत्री लक्ष्मणा रूपवती थी। कृष्ण लक्ष्मणा को हर लाये और उसे अपनी रानी बनाया।[७] जैन व्यापारियों का सिंहलद्वीप के साथ घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध था। मालवा के जैन व्यापारी शूरचन्द ने सिंहलद्वीप जाकर रत्नों का व्यापार किया और अकूत धन अर्जित किया।[८] उज्जैन के राजा गगनचन्द की मित्रता

* पटना-संग्रहालय, पटना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिंहलराज गगनादित्य से थी। सिंहलराज उज्जैन भी आये थे। सिंहलराज के पुत्रों ने विजय जैनमुनि से व्रत ग्रहण किये थे।[९]

महावंश से स्पष्ट है कि ई.पू. चौथी शताब्दी में सिंहलराज पाण्डुकाभय ने वहाँ की राजधानी अनुराधापुर में एक जैन मन्दिर और जैन मठ का निर्माण करवाया था।[१०] इसमें गिरि नामक जैन मुनि का संघ रहा करता था। ई.पू. चौथी शताब्दी में सिंहलराज का ध्यान जैन धर्म की ओर गया और उन्होंने जिन-मन्दिर का निर्माण करवाया। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जैन धर्म ई.पू. चौथी शताब्दी से पहले ही श्रीलंका में पहुँच चुका था। पाण्डुकाभय का बनवाया गया यह मन्दिर उनके बाद के इक्कीस राजाओं के शासनकाल तक विद्यमान रहा, परन्तु ई.पू. ३८ में सिंहलराज वट्टगामिनी ने उनको नष्ट कर उनके स्थान पर बौद्ध विहार का निर्माण करवाया।[११] इसके पश्चात् श्रीलंका में बौद्ध धर्म का जबरदस्त प्रभाव रहा। लेकिन इसके बावजूद जैनधर्म ने मध्यकाल तक वहाँ अपना प्रभाव बनाये रखा। मध्यकाल में जैन मुनि यशःकीर्त्ति इतने प्रभावशाली हुए कि तत्कालीन सिंहलराज ने उनके चरण-चिह्नों की अर्चना की।[१२] सम्भवतः मुनि यशःकीर्ति भारत से श्रीलंका गये। उन्होंने वहाँ लुप्त होते जैनधर्म को कुछ समय के लिए आधार प्रदान किया।[१३]

इस प्रकार, श्रीलंका का अनार्यत्व जैनों ने ही दूर किया और उसे सुसंस्कृत बनाया। किन्तु, आज वहाँ जैन धर्म का कोई चिह्न शेष नहीं है। इसका कारण सम्भवतः यह है कि जैन आचार्यों में संघ-विस्तार की भावना ही विलुप्त हो गई और फिर आचार्य-परम्परा का भी अभाव हो गया।

संदर्भ-स्रोत :

१. 'ये सिंहलावर्वरकाः किराता.....ऽनार्य वर्गेनिपन्ति सर्वे।'—वरांगचरित, पृ. ६६

२. आवश्यकचूर्णि, पृ. १९१ एवं आदिपुराण

३. लाइफ इन एंशियेण्ट इण्डिया, पृ. ३३४ : लेखक : जगदीशचन्द्र जैन

४. वरांगचरित, पृ. ६६

५. गउसिंहलदीवहो णिवसमाणु, करंकडुणराहि उणर पहारणु। जहिं पाउलपिल्लहमणु हरंति, सुरखेचर किरंभर जहिं रमंति।गयलीलहं महिलउ जहिं चलंति, णियरूवे रहि, उर विखलति (७.४) इत्यादि

६. द्वीपे सिहंलनाम्नि सागर तटाः सद्भृत मुक्ताफलाः, शैला निर्मल पद्मरागमण्योऽ-ख्यानि सेमनिच। तहेशोदमवविश्ववामनयनाः श्री पद्मिनी जातिजाः, राजन्ते महिपाः सदागतभताचारास्तदुत्पतिकाः।— प्रशस्तिसंग्रह, पृ. १३४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७. उत्तरपुराण ४३.२०-२४
८. बृहत्कथाकोष, पृ. ४६
९. वही, पृ. ८
९. वही, पृ. ८
१०. एन. बुल्हरः डियनसेक ऑफ दि जैनाज पृ. ६८
११. वही
१२. जैन शिलालेख-संग्रह (मा. ग्र.), पृ. ११२
१३. वही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खण्ड : २

प्राकृत-जैनशास्त्र : भाषा और साहित्य

Prakrit Language & Literature

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जटासिंहनन्दी का 'वरांगचरित' और उसकी परम्परा

*प्रो. सागरमल जैन**

जटासिंहनन्दी और उनके 'वरांगचरित' के दिगम्बर-परम्परा से भिन्न यापनीय अथवा कूर्चक-संघ से सम्बन्धित होने के कुछ प्रमाण उपलब्ध होते हैं। यद्यपि श्रीमती कुसुम पटोरिया के अनुसार वरांगचरित में ऐसा कोई भी अन्तरंग साक्ष्य उपलब्ध नहीं है[१], जिससे जटासिंहनन्दी और उनके ग्रन्थ को यापनीय कहा जा सके, किन्तु मेरी दृष्टि में श्रीमती कुसुम पटोरिया का यह कथन समुचित नहीं है। सम्भवतः उन्होंने मूल ग्रन्थ को देखने का प्रयत्न ही नहीं किया और द्वितीयक स्रोतों से उपलब्ध सूचनाओं के आधार पर ऐसा मानस बना लिया। मैंने यथासम्भव मूल ग्रन्थ को देखने का प्रयास किया है और उसमें मुझे ऐसे अनेक तत्त्व मिले हैं, जिनके आधार पर वरांगचरित और उसके कर्त्ता जटिलमुनि या जटासिंहनन्दी को दिगम्बर-परम्परा से इतर यापनीय अथवा कूर्चक-परम्परा से सम्बद्ध माना जा सकता है। इस विवेचन में सर्वप्रथम तो मैं श्रीमती कुसुम पटोरिया के द्वारा प्रस्तुत उन बाह्य साक्ष्यों की चर्चा करूँगा, जिनके आधार पर जटासिंहनन्दी यापनीय होने की सम्भावना को पुष्ट किया जाता है। उसके पश्चात् मूलग्रन्थ में मुझे दिगम्बर मान्यताओं से भिन्न, जो तथ्य उपलब्ध हुए हैं, उनकी चर्चा करके यह दिखाने का प्रयत्न करूँगा कि जटासिंहनन्दी यापनीय अथवा कूर्चक-परम्परा में से किसी एक से सम्बद्ध रहे होंगे।

जटासिंहनन्दी यापनीय-संघ से सम्बन्धित थे या कूर्चक-संघ से, इस सम्बन्ध में तो अभी और भी सूक्ष्म अध्ययन की आवश्यकता है, किन्तु इतना निश्चित है कि वे दिगम्बर-परम्परा से भिन्न अन्य किसी परम्परा से सम्बन्धित हैं; क्योंकि उनकी अनेक मान्यताएँ वर्तमान दिगम्बर-परम्परा के विरोध में जाती हैं। हम यहाँ इन्हीं तथ्यों की समीक्षा करें :

(१) जिनसेन प्रथम (पुन्नाटसंघीय) ने अपने हरिवंशपुराण (ई. सन् ७८३) में[२], जिनसेन द्वितीय (पंचस्तूपान्वयी) ने अपने आदिपुराण में,[३] उद्योतनसूरि (श्वे. आचार्य) ने अपनी कुवलयमाला (ई. सन् ७७८) में.[४] रायमल्ल ने अपने कन्नड़ गद्य-ग्रन्थ त्रिषष्ठि-शलाकापुरुष (ई. सन् ९७४-८४) में[५], धवल कवि ने अपभ्रंश-भाषा में रचित अपने

* निदेशक, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध-संस्थान, वाराणसी-२२१००५ (उ. प्र.)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हरिवंश में[६] जटिलमुनि अथवा उनके वरांगचरित का उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त भी पम्प ने अपने आदिपुराण (ई. सन् ९४२)[७] में, नयनसेन ने अपने धर्मामृत (ई. सन् ११११२)[८] में और पार्श्वपण्डित ने अपने पार्श्वपुराण (ई. सन् १२०५) मे,[९] जन्न ने अपने अनन्तनाथपुराण (ई. सन् १२०९) में,[१०] गुणवर्ग द्वितीय ने अपने पुष्पदन्तपुराण (ई. सन् ११३०)[११] में, कमलभवन ने अपने शान्तिनाथपुराण (ई. सन् १२३३)[१२] में और महाबल कवि ने अपने नेमिनाथपुराण (ई. सन् १२५४) में[१३] जटासिंहनन्दी का उल्लेख किया है। इन सभी उल्लेखों से यह ज्ञात होता है कि जटासिंहनन्दी यापनीय, श्वेताम्बर और दिगम्बर तीनों ही परम्पराओं में मान्य रहे हैं। फिर भी सर्वप्रथम पुन्नाटसंघीय जिनसेन द्वारा जटासिंहनन्दी का आदरपूर्वक उल्लेख यह बताता है कि वे सम्भवतः यापनीय परम्परा से सम्बन्धित रहे हों[१४]। क्योंकि, पुन्नाटसंघ का विकास यापनीय पुन्नागवृक्षमूलगण से ही हुआ है।[१५] पुनः श्वेताम्बर आचार्य उद्योतनसूरि ने यापनीय आचार्य रविषेण और उनके ग्रन्थ पद्मचरित के साथ-साथ जटासिंहनन्दी के 'वरांगचरित' का उल्लेख किया है। इससे ऐसी कल्पना की जा सकती है कि दोनों एक ही परम्परा के और समकालिक रहे होंगे। पुनः श्वेताम्बर और यापनीयों में एक-दूसरे के ग्रन्थों के अध्ययन की परम्परा रही है। यापनीय आचार्य प्राचीन श्वेताम्बर आचार्यों के ग्रन्थ पढ़ते थे। जटासिंहनन्दी के द्वारा प्रकीर्णकों, आवश्यकनिर्युक्ति तथा सिद्धसेन और पउमचरिय का अनुसरण यही बताता है कि वे यापनीय सम्प्रदाय से सम्बन्धित रहे होंगे। क्योंकि, यापनीयों द्वारा इन ग्रन्थों का अध्ययन-अध्यापन एवं अनुसरण किया जाता था, इसके अनेक प्रमाण दिये जा सकते हैं। यह हो सकता है कि जटासिंहनन्दी यापनीय न होकर कूर्चक-सम्प्रदाय से सम्बन्धित रहे हों और यह कूर्चक-सम्प्रदाय भी यापनीयों की भाँति श्वेताम्बरों के अति निकट रहा हो। यद्यपि इस सम्बन्ध में विस्तृत गवेषण अभी अपेक्षित है।

(२) जटासिंहनन्दी यापनीय परम्परा से सम्बद्ध रहे हैं, इस सम्बन्ध में जो बाह्य साक्ष्य उपलब्ध हैं, उनमें प्रथम यह है कि कन्नड़ कवि जन्न ने जटासिंहनन्दी को 'काणूरगण' का बताया है। अनेक अभिलेखों से यह सिद्ध होता है कि यह काणूरगण प्रारम्भ में यापनीय परम्परा का एक गण था। इस गण का सर्वप्रथम उल्लेख सौदन्ती के ई. सन् दसवीं शती (९८०) के एक अभिलेख में मिलता है। इस अभिलेख में गण के साथ यापनीय संघ का भी स्पष्ट निर्देश है।[१६] यह सम्भव है कि इस गण का अस्तित्व इसके पूर्व सातवीं-आठवीं शती में भी रहा हो। डॉ. उपाध्ये जन्न के इस अभिलेख को शंका की दृष्टि से देखते हैं। उनकी इस शंका के दो कारण हैं—एक तो यह कि गणों की उत्पत्ति और इतिहास के विषय में पर्याप्त जानकारी का अभाव है, दूसरे जटासिंहनन्दी जन्न के समकालीन भी नहीं हैं।[१७] यह सत्य है कि दोनों में लगभग पाँच सौ वर्षों का अन्तराल है। किन्तु मात्र कालभेद के कारण जन्न का काल भ्रान्त हो, डा. उपाध्ये के इस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मन्तव्य से हम सहमत नहीं हैं। यह ठीक है कि यापनीय परम्परा के काणूर आदि कुछ गणों का उल्लेख आगे चलकर मूलसंघ और कुन्दकुन्दान्वय के साथ भी हुआ है[१८], किन्तु इससे उनका मूल में यापनीय होना अप्रमाणित नहीं हो जाता। काणूरगण के ही १२वीं शताब्दी तक के अभिलेखों में यापनीय संघ के उल्लेख उपलब्ध होते हैं (देखें : जैनशिलालेखसंग्रह, भाग ५, लेखक्रमांक १.७)। इसके अतिरिक्त स्वयं डॉ. उपाध्ये ने १२वीं शताब्दी के पूर्वार्ध के कुछ शिलालेखों में काणूरगण के सिंहनन्दी के उल्लेख को स्वीकार किया है।[१९] यद्यपि इन लेखों में काणूरगण के इन सिंहनन्दी को कहीं मूलसंघ और कहीं कुन्दकुन्दान्वय का बताया गया है। लेकिन स्मरण रखना होगा कि यह लेख उस समय का है, जिस समय यापनीय गण भी अपने को मूलसंघ से जोड़ने लगे थे। पुनः इन लेखों में सिंहनन्दी का काणूरगण के आद्याचार्य के रूप में उल्लेख है। उनकी परम्परा में प्रभाचन्द्र, गुणचन्द्र, माघनन्दी प्रभाचन्द्र, अनन्तवीर्य, मुनिचन्द्र, प्रभाचंद आदि का उल्लेख है—यह लेख तो बहुत समय पश्चात् लिखा गया है। पुनः इन लेखों में भी प्रारम्भ में जटासिंहनन्दी आचार्य का उल्लेख है, वहाँ न तो मूलसंघ का उल्लेख है और न कुन्दकुन्दान्वय का। वहाँ मात्र काणूरगण का उल्लेख है। यह काणूरगण प्रारम्भ में यापनीय गण था। अतः, सिद्ध है कि जटासिंहनन्दी काणूरगण के आद्याचार्य रहे होंगे। इन शिलालेखों में सिंहनन्दी को गंगवंश का समुद्धारक कहा गया है। यदि गंगवंश का प्रारम्भ ई. सन् चतुर्थ शती माना जाता है, तो गंगवंश के संस्थापक सिंहनन्दी को जटासिंहनन्दी से भिन्न होना चाहिए। पुनः काणूरगण का अस्तित्व भी ई. सन् की ७वीं-८वीं शती के पूर्व ज्ञात नहीं होता है। सम्भावना यही है कि जटासिंहनन्दी काणूरगण के आद्याचार्य रहे होंगे और उनका गंगवंश पर अधिक प्रभाव रहा हो। अतः, आगे चलकर उन्हें गंगवंश का उद्धारक मान लिया गया हो तथा गंगवंश के उद्धार की कथा उनसे जोड़ दी गई हो।

(३) जन्न ने अनन्तनाथपुराण में न केवल जटासिंहनन्दी का उल्लेख किया है, अपितु उनके साथ-साथ ही काणूरगण के इन्द्रनन्दी आचार्य का भी उल्लेख किया है।[२०] हम छेदपिण्ड शास्त्र की परम्परा की चर्चा करते समय अनेक प्रमाणों से यह सिद्ध कर चुके हैं कि जटासिंहनन्दी के समकालीन या उनसे किंचित् परवर्ती ये इन्द्रनन्दी रहे हैं,[२१] जिनका उल्लेख शाकटायन आदि अनेक यापनीय आचार्यों ने किया है। जन्न ने जटासिंहनन्दी और इन्द्रनन्दी दोनों को काणूरगण का बताया है। इससे उनके कथन में अविश्वसनीयता जैसी कोई बात नहीं लगती है।

(४) कोप्पल में पुरानी कन्नड़ में एक लेख भी उपलब्ध होता है, जिसके अनुसार जटासिंहनन्दी के चरण-चिह्नों को चाव्वय ने बनवाया था।[२२] इससे यह सिद्ध होता है कि जटासिंहनन्दी का समाधिमरण सम्भवतः कोप्पल में हुआ हो। पुनः डॉ. उपाध्ये ने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'गणभेद' नामक अप्रकाशित कन्नड़ग्रन्थ के आधार पर यह भी मान लिया है कि कोप्पल या कोपन यापनीयों का मुख्य पीठ था।[२३] अतः कोप्पल या कोपन से सम्बन्धित होने के कारण जटासिंहनन्दी के यापनीय होने की सम्भावना अधिक प्रबल प्रतीत होती है।

(५) यापनीय-परम्परा में मुनि के लिए 'यति' का प्रयोग अधिक प्रचलित रहा है। यापनीय आचार्य पाल्यकीर्ति शाकटायन को 'यतिग्रामाग्रणी' कहा गया है। हम देखते हैं कि जटासिंहनन्दी के इस 'वरांगचरित' में भी मुनि के लिए यति शब्द का प्रयोग बहुतायत से हुआ हैं।[२४] ग्रन्थकार की यह प्रवृत्ति उसके यापनीय होने का संकेत करती है।

(६) 'वरांगचरित' में सिद्धसेन के 'सन्मतितर्क' का बहुत अधिक अनुसरण देखा जाता है। अनेक आधारों से यह सिद्ध होता हैं कि 'सन्मतितर्क' के कर्त्ता सिद्धसेन किसी भी स्थिति में दिगम्बर-परम्परा से सम्बद्ध नहीं रहे हैं। यदि वे ५वीं शती के पश्चात् हुए हैं, तो निश्चित ही श्वेताम्बर हैं और यदि उसके पूर्व हुए हैं, तो अधिक-से-अधिक श्वेताम्बर और यापनीय परम्परा की पूर्वज उत्तरभारतीय निर्ग्रन्थ धारा से सम्बद्ध रहे। उनके 'सन्मतितर्क' में क्रमवाद के साथ-साथ युगपद्वाद की समीक्षा, आगमिक परम्परा का अनुसरण, कृति का महाराष्ट्री प्राकृत में होना आदि तथ्य इसी सम्भावना को पुष्ट करते हैं। 'वरांगचरित' के २६वें सर्ग के अनेक श्लोक 'सन्मतितर्क' के प्रथम और तृतीय काण्ड की गाथाओं का संस्कृत रूपान्तरण-मात्र लगते हैं।

देखें :

वरांगचरित	*सन्मतितर्क*
२६.५२	१.६
२६.५३	१.९
२६.५४	१.११
२६.५५	१.१२
२६.५७	१.१७
२६.५८	१.१८
२६.६०	१.२१
२६.६१	१.२२
२६.६२	१.२३-२४
२६.६३	१.२५
२६.६४	१.५१
२६.६५	१.५२
२६.६९	३.४७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२६.७०	३.५४
२६.७१	३.५५
२६.७२	३.५३
२६.७८	३.६९
२६.९०	३.६९
२६.९९	३.६७
२६.१००	३.६८

वरांगचरितकार जटासिंहनन्दी द्वारा सिद्धसेन का यह अनुसरण इस बात का सूचक है कि वे सिद्धसेन से निकट रूप से जुड़े हुए हैं। सिद्धसेन का प्रभाव श्वेताम्बरों के साथ-साथ यापनीयों और यापनीयों के कारण पुन्नाटसंघीय आचार्यों एवं पंचस्तूपान्वय के आचार्यों पर भी देखा जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि जटासिंहनन्दी उस यापनीय अथवा कूर्चक-परम्परा से सम्बन्धित रहे होंगे, जो अनेक बातों में श्वेताम्बरों की आगमिक परम्परा के निकट थी। यदि सिद्धसेन श्वेताम्बर और यापनीयों के पूर्वज आचार्य हैं, तो यापनीय आचार्यों के द्वारा उनका अनुसरण सम्भव है।

यद्यपि 'वरांगचरित' के इसी सर्ग की निम्न दो गाथाओं पर समन्तभद्र का प्रभाव देखा जाता है, किन्तु सिद्धसेन की अपेक्षा यह प्रभाव अल्प मात्रा में है।[२५]

(७) 'वरांगचरित' में अनेक संदर्भों में आगमों, प्रकीर्णकों एवं निर्युक्तियों का अनुसरण किया गया है। सर्वप्रथम तो उसमें कहा गया है—'उन वरांगमुनि ने अल्पकाल में ही आचारांग और अनेक प्रकीर्णकों का सम्यक् अध्ययन करके क्रमपूर्वक अंगों एवं पूर्वों का अध्ययन किया'।[२६] इस प्रसंग में प्रकीर्णकों का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है। विषयवस्तु की दृष्टि से तो इसके अनेक सर्गों में आगमों का अनुसरण देखा जाता है। विशेषरूप से स्वर्ग, नरक, कर्म-सिद्धान्त आदि सम्बन्धी विवरण में 'उत्तराध्ययनसूत्र' का अनुसरण हुआ है। जटासिंहनन्दी ने चतुर्थ सर्ग में जो कर्म-सिद्धान्त का विवरण दिया है, उसके अनेक श्लोक अपने प्राकृत रूप में उत्तराध्ययन के तीसवें 'कर्मप्रकृति' नामक अध्ययन में यथावत् मिलते हैं:

उत्तराध्ययन	*वरांगचरित*
३०.२-३	४.२-३
३०.५-६	४.२४-२५
३०.८-९	४.२५-२६-२७
३०.१०-११	४.२८-२९
३०.१२	४.३३ (आंशिक)
३०.१३	४.३५ (आंशिक)
३०.१५	४.३७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यद्यपि सम्पूर्ण विवरण की दृष्टि से 'वरांगचरित' का कर्मसिद्धान्त-सम्बन्धी विवरण उत्तराध्ययन की अपेक्षा विकसित प्रतीत होता है। इसी प्रकार की समानता स्वर्ग-नरक के विवरण में देखी जाती है। उत्तराध्ययन में ३६वें अध्ययन की गाथा क्रमांक २०४ से २९६ तक वरांगचरित के नवें सर्ग के श्लोक १ से १२ तक किंचित् शाब्दिक परिवर्तन के साथ संस्कृत रूप में पाई जाती हैं। आश्चर्य की बात यह है कि जटासिंहनन्दी भी आगमों के अनुरूप बारह देवलोकों की चर्चा करते हैं।

इसी प्रकार प्रकीर्णक-साहित्य की भी अनेक गाथाएँ 'वरांगचरित' में अपने संस्कृत-रूपान्तर के साथ पाई जाती हैं। देखें :

दंसणभट्ठो भट्ठो, न हु भट्ठो होइ चरणपब्भट्ठो।
दंसणमणुपत्तस्स उ परियडणं नत्थि संसारे ॥६५॥
दसणभट्ठो भट्ठो, दंसणभट्ठस्स नत्थि निव्वाणं।
सिज्झंति चरणरहिया, दंसणरहिया न सिज्झंति ॥६६॥

—भक्तपरिज्ञा

तुलनीय :

दर्शनाद्भ्रष्ट एवानुभ्रष्ट इत्यभिधीयते ।
न हि चारित्रविभ्रष्टो भ्रष्ट इत्युच्यते बुधैः ॥९६॥
महता तपसा युक्तो मिथ्यादृष्टिरसंयतः ।
तस्य सर्वज्ञसंदृष्ट्वा संसारोऽनन्त उच्यते ॥९७॥

—वरांगचरित, सर्ग २६

इसी प्रकार 'वरांगचरित' के निम्न श्लोक 'आतुरप्रत्याख्यान' में पाये जाते हैं :

एकस्तु मे शाश्वतिकः स आत्मा सद्दृष्टिसज्ज्ञानगुणैरुपेतः।
शेषाश्च मे बाह्यतमाश्च भावाः संयोगसल्लक्षणलक्षितास्ते ॥१०१॥
संयोगतो दोषमवाप जीवः परस्परं नैकविधानुबन्धि ।
तस्माद्द्विसंयोगमतो दुरन्तमाजीवितान्तादहमुत्सृजामि ॥१०२॥
सर्वेषु भूतेषु मनः समं मे वैरं न मे केनचिदस्ति किंचित्।
आशां पुनः क्लेशसहस्रमूलां हित्वा समाधिं लघु संप्रपद्ये ॥१०३॥

—वरांगचरित, सर्ग ३१

तुलनीय :

एगो मे सासओ अप्पा नाण-दंसणसंजुओ ।
ऐसा मे बहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥२६॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संजोगमूला जीवेणं पत्ता दुक्खपरंपरा ।
तम्हा संजोगसंबंधं सव्वं भावेण वोसिरे ॥२८॥

सम्मं मे सव्वभूएसु वेरं मज्झ न केणई ।
आसाओ वोसिरित्ताणं समाहिं पडिवज्जए ॥२२॥

—आतुरप्रत्याख्यान

ये तीनों गाथाएँ 'आतुरप्रत्याख्यान' से सीधे 'वरांगचरित' में गईं या 'मूलाचार' के माध्यम से 'वरांगचरित' में गई, यह एक अलग प्रश्न है। मूलाचार यापनीय ग्रन्थ है, अतः यदि ये गाथाएँ मूलाचार से भी ली गईं हों, तो भी जटासिंहनन्दी और उनके ग्रन्थ 'वरांगचरित' के यापनीय होने की ही पुष्टि होती है यद्यपि कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में भी ये गाथाएँ पाई जाती हैं, किन्तु इतना निश्चित है कि कुन्दकुन्द ने भी ये गाथाएँ मूलाचार से ही ली होंगी। पुनः मूलाचार में आतुरप्रत्याख्यान की लगभग सभी गाथाएँ समाहित कर ली गई हैं, अतः अन्ततोगत्वा तो ये गाथाएँ आतुरप्रत्याख्यान से ही ली गई हैं।

'आवश्यकनिर्युक्ति' की भी निम्नांकित दो गाथाएँ वरांगचरित में मिलती हैं :

हयं नाणं कियाहीणं, हया अन्नाणओ किया ।
पासंतो पंगुलो दड्ढो धावमाणो अ अंधओ ॥१॥

संजोगसिद्धीइ फलं वयंति, न हु एगचक्केण रहो पयाइ।
अंधो य पंगू य वणे समिच्चा, ते संपउत्ता नगरं पविट्ठा ॥२॥

तुलनीय :

क्रियाहीनं च यज्ज्ञानं न तु सिद्धिं प्रयच्छति ।
परिपश्यन्यथा पङ्गुर्मुग्धो दग्धो दवाग्निना ॥९९॥

तौ यथा संप्रयुक्तौ तु दवाग्निमधिगच्छतः ।
तथा ज्ञानचरित्राभ्यां संसारान्मुच्यते पुमान् ॥१०१॥

— वरांगचरित, सर्ग २६

आगम, प्रकीर्णक और निर्युक्ति-साहित्य का यह अनुसरण जटासिंहनन्दी और उनके ग्रन्थ को दिगम्बरेतर यापनीय या कूर्चक-सम्प्रदाय का सिद्ध करता है।

(८) जटासिंहनन्दी ने न केवल सिद्धसेन का अनुसरण किया है, अपितु उन्होंने विमलसूरि के पउमचरिय का भी अनुसरण किया है। चाहे यह अनुसरण उन्होंने सीधे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रूप से किया हो या रविषेण के पद्मचरित के माध्यम से किया हो, किन्तु इतना सत्य है कि उनपर यह प्रभाव आया है। 'वरांगचरित' में श्रावक के व्रतों की जो विवेचना उपलब्ध होती है, वह न तो पूर्णतः श्वेताम्बर-परम्परा के उपासकदशासूत्र के निकट है और न पूर्णतः दिगम्बर-परम्परा द्वारा मान्य तत्त्वार्थ के पूज्यपाद देवनन्दी की 'सर्वार्थसिद्धि' के मूलपाठ के निकट है। अपितु, वह विमलसूरि के पउमचरिय के निकट है। पउमचरिय के समान ही इसमें भी देशावकाशिक व्रत का अन्तर्भाव दिग्व्रत में मानकर उस रिक्त स्थान की पूर्ति के लिए संलेखना को बारहवाँ शिक्षाव्रत माना गया है।[२७] कुन्दकुन्द ने भी इस परम्परा का अनुसरण किया है[२८], किन्तु कुन्दकुन्द विमलसूरि से तो निश्चित ही परवर्ती हैं और सम्भवतः जटासिंहनन्दी से भी। अतः उनके द्वारा किया गया यह अनुसरण अस्वाभाविक भी नहीं है। स्मरण रहे कि कुन्दकुन्द ने त्रस-स्थावर के वर्गीकरण, चतुर्विध मोक्षमार्ग आदि के सम्बन्ध में भी आगमिक परम्परा का अनुसरण किया है और उनके ग्रन्थों में प्रकीर्णकों की अनेक गाथाएँ मिलती हैं। स्पष्ट है कि विमलसूरि के पउमचरिय का अनुसरण रविषेण, स्वयम्भू आदि अनेक यापनीय आचार्यों ने किया है अतः जटासिंहनन्दी के यापनीय होने की सम्भावना प्रबल प्रतीत होती है।

(९) जटासिंहनन्दी ने 'वरांगचरित' के नवें सर्ग में कल्पवासी देवों के प्रकारों का जो विवरण प्रस्तुत किया है, वह दिगम्बर-परम्परा से भिन्न है। वैमानिक देवों के भेद को लेकर श्वेताम्बर और दिगम्बर-परम्परा में स्पष्ट रूप से मतभेद है। जहाँ श्वेताम्बर- परम्परा वैमानिक देवों के १२ विभाग मानती है, वहाँ दिगम्बर-परम्परा उनके १६ विभाग मानती है। इस सन्दर्भ में जटासिंहनन्दी स्पष्ट रूप से श्वेताम्बर या आगमिक परम्परा के निकट हैं। वे नवें सर्ग के द्वितीय श्लोक में स्पष्ट रूप से यह कहते हैं कि कल्पवासी देवों के बारह भेद हैं।[२९] पुनः इसी सर्ग के सातवें श्लोक से नवें श्लोक तक 'उत्तराध्ययनसूत्र' के समान उन १२ देवलोकों के नाम भी गिनाते हैं।[३०] यहाँ वे स्पष्ट रूप से न केवल दिगम्बर-परम्परा से भिन्न होते हैं, बल्कि किसी सीमा तक यापनीयों से भिन्न प्रतीत होते हैं। यद्यपि स्मरण रखना होगा कि यापनीयों में प्रारम्भ में आगमों का अनुसरण करते हुए १२ भेद मानने की प्रवृत्ति रही होगी, किंतु बाद में दिगम्बर-परम्परा या अन्य किसी प्रभाव से उनमें १६ भेद मानने की परम्परा विकसित हुई होगी। 'तत्त्वार्थसूत्र' के सर्वार्थसिद्धिमान्य पाठ में तथा 'तिलोयपण्णत्ति' में इन दोनों ही परम्पराओं के बीज देखे जाते हैं। तत्त्वार्थसूत्र का सर्वार्थसिद्धि-मान्य यापनीय पाठ जहाँ देवों के प्रकारों की चर्चा करता है, वहाँ वह १२ का निर्देश करता है किन्तु जहाँ वह उनके नामों का विवरण प्रस्तुत करता है तो वहाँ १६ नाम प्रस्तुत करता है।[३१] यतिवृषभ की 'तिलोयपण्णत्ति' में भी १२ और १६ दोनों प्रकार की मान्यताएँ होने का स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है।[३२] इससे साफ जाहिर है कि प्रारम्भ में आगमिक मान्यता का अनुसरण करते हुए यापनीयों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में और यदि जटासिंहनन्दी कूर्चक हैं तो कूर्चकों में भी कल्पवासी देवों के १२ प्रकार मानने की परम्परा रही होगी। आगे यापनीयों में १६ देवलोकों की मान्यता किसी अन्य परम्परा के प्रभाव से आई होगी।

(१०) 'वरांगचरित' में वरांगकुमार की दीक्षा का विवरण देते हुए लिखा गया है कि : 'श्रमण और आर्यिकाओं के समीप जाकर तथा उनका विनयोपचार (वन्दन) करके वैराग्ययुक्त वरांगकुमार ने एकान्त में जा सुन्दर आभूषणों का त्याग किया तथा गुण, शील, तप एवं प्रबुद्ध तत्त्व-रूपी सम्यक् श्रेष्ठ आभूषण तथा श्वेत शुभ्र वस्त्रों को ग्रहण करके वे जिनेन्द्र द्वारा प्रतिपादित मार्ग में अग्रसर हुए'।[३३] दीक्षित होते समय मात्र आभूषणों का त्याग करना तथा श्वेत शुभ्र वस्त्रों को ग्रहण करना दिगम्बर-परम्परा के विरोध में जाता है। इससे ऐसा लगता है कि जटासिंहनन्दी दिगम्बर-परम्परा से भिन्न किसी अन्य परम्परा का अनुसरण करनेवाले थे। यापनीयों में अपवाद-मार्ग में दीक्षित होते समय राजा आदि का नग्न होना आवश्यक नहीं माना गया था। चूँकि वरांगकुमार राजा थे, इसलिए सम्भव है कि उन्हें सवस्त्र ही दीक्षित होते दिखाया गया हो। यापनीय ग्रन्थ 'भगवती आराधना' एवं उस की अपराजिता टीका में हमें ऐसे निर्देश मिलते हैं कि राजा आदि कुलीन पुरुषों के दीक्षित होते समय या संथारा ग्रहण करते समय अपवाद लिंग (सवस्त्र) रख सकते हैं।[३४] पुनः 'वरांगचरित' में हमें मुनि की चर्या के प्रसंग में हेमन्त-काल में शीत-परिषह सहते समय मुनि के लिए मात्र एक बार दिगम्बर शब्द का प्रयोग मिला है।[३५] सामान्यतया 'विशीर्णवस्त्रा' शब्द का प्रयोग हुआ है। एक स्थल पर अवश्य मुनियों को 'निरस्त्रभूषा' कहा गया है[३६], किन्तु निरस्त्रभूषा का अर्थ साज-सज्जा से रहित होता है, नग्न नहीं। ये कुछ ऐसे तथ्य हैं, जिनपर 'वरांगचरित' की परम्परा का निर्धारण करते समय गम्भीरता से विचार किया जाना चाहिए। मैं चाहूँगा कि आगे आनेवाले विद्वान् सम्पूर्ण ग्रन्थ का गम्भीरतापूर्वक आलोडन करके इस समस्या पर विचार करें।

साध्वियों के प्रसंग में चर्चा करते समय उन्हें जीर्ण-शीर्ण वस्त्रों को धारण करनेवाली अथवा विशीर्ण वस्त्रों से आवृत देहवाली कहा गया है।[३७] इससे भी यह सिद्ध होता है कि वरांगचरितकार जटासिंहनन्दी को स्त्री-दीक्षा और सवस्त्र दीक्षा मान्य थी। जबकि कुन्दकुन्द स्त्री-दीक्षा का सवर्था निषेध करते हैं।[३८]

(११) 'वरांगचरित' में स्त्रियों की दीक्षा का स्पष्ट उल्लेख है[३९] उसमें कहीं भी ऐसा उल्लेख नहीं है कि स्त्री को उपचार से महाव्रत होते हैं, जैसा कि दिगम्बर-परम्परा मानती है। इस ग्रन्थ में उन्हें तपोधना, अमितप्रभावी, गणाग्रणी, संयमनायिका जैसे सम्मानित पदों से अभिहित किया गया है।[४०] साध्वी-वर्ग के प्रति ऐसा आदरभाव कोई श्वेताम्बर या यापनीय आचार्य ही प्रस्तुत कर सकता है। अतः, इतना निश्चित है कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जटासिंहनन्दी का 'वरांगचरित' कुन्दकुन्द की दिगम्बर-परम्परा का ग्रन्थ नहीं हो सकता, जो स्त्रियों की दीक्षा निषेध करती हो या उनके उपचार से ही महाव्रत कहे गये हैं, ऐसा मानती हो। कुन्दकुन्द ने सूत्रप्राभृत गाथाक्रमांक २५ में एवं लिङ्गप्राभृत गाथाक्रमांक २० में स्त्रीदीक्षा का स्पष्ट निषेध किया है, यह हम पूर्व में दिखा चुके हैं।

(१२) 'वरांगचरित' में श्रमणों और आर्यिकाओं को वस्त्रदान की चर्चा है। यह तथ्य दिगम्बर-परम्परा के विपरीत है। उसमें लिखा है कि "वह नृपति मुनिपुंगवों को आहारदान, श्रमणों और आर्यिकाओं को वस्त्र और अन्नदान तथा दरिद्रों को याचित दान (किमिच्छदानं) देकर कृतार्थ हुआ।"[४१] यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि मूल श्लोक में जहाँ मुनिपुंगवों के लिए आहारदान का उल्लेख किया गया है, वहाँ श्रमण और आर्यिकाओं के लिए वस्त्र और अन्न (आहार) के दान का प्रयोग हुआ है। सम्भवतः, यहाँ अचेल मुनियों के लिए ही 'मुनिपुंङ्गव' शब्द का प्रयोग हुआ है और सचेल मुनि के लिए 'श्रमण'। 'भगवती आराधना' एवं उसकी अपराजित की टीका से यह स्पष्ट है कि यापनीय परम्परा में अपवाद-मार्ग में मुनि के लिए वस्त्र-पात्र ग्रहण करने का निर्देश है।[४२]

वस्त्रादि के सन्दर्भ में उपर्युक्त सभी तथ्यों को दृष्टिगत रखते हुए यह कहा जा सकता है कि जटासिंहनन्दी और उनका 'वरांगचरित' भी यापनीय/कूर्चक-परम्परा से सम्बद्ध रहा है।

सन्दर्भ-स्रोत :

१. यापनीय और उनका साहित्य : डॉ. कुसुम पटोरिया, पृ. १५७-१५८

२. वराङ्गनेय सर्वाङ्गैर्वराङ्गचरितार्थवाक्।
कस्य नोत्पादयेद्गाढमनुरागं स्वगोचरम्॥

—*हरिवंशपुराण (जिनसेन), १.३४-३५*

३. काव्यानुचिन्तने यस्य जटाः प्रचलवृत्तयः
अर्थान्स्मानुवदन्तीव जटाचार्यः स नोऽवतात्॥

—*आदिपुराण (जिनसेन), १.५०*

४. जेहिं कए रमणिज्जे वरंग-पउमाण चरियवित्थारे।
कह वण सलाहणिज्जे ते कइणो जडिय-रविसेणो॥

—*कुवलयमाला*

५. ऐदने य श्रोतृ वबों जटासिंहनन्द्याचार्यर वृत्तं

—*उद्धृत वरांगचरित, भूमिका पृ. ११*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६. गुणिमहसेणु सुलोयणु जेण पउमचरिउ गुणिरविसेणेण ।
जिणसेणेण हरिवंसु पवित्तु जडिलमुणिणा वरंगचरित्तु ।

— *हरिवंश, उद्धृत वरांगचरित, भूमिका पृ. १०*

७. आर्यनुत-गृध्रपिंछा—
चार्य-जटाचार्य-विश्रतश्रुतकीर्त्याचार्य-
पुरस्सरमप्पा-चार्य परपरॆयँ कुडुगॆ भव्योत्सवमं ।

आदिपुराण, १.१२

८. वर्यलोकोत्तमर्भाविसुवॊडनधरत्युन्नतकॊडकुंदाचार्यचारित्ररत्नाकररधिकगुणर्सज्जटा
सिंहनंद्याचार्यश्रीकूचिभट्टारकरुदितयशर्मिक्कपेपिंगॆ लोकाश्चर्यनिष्कर्मरॆम्मं
पॊरमडिसुगॆ संसार कांतारदिंदं ॥

—*धर्मामृत, १.१३*

९. बिदिरपोदर् तॊलॆयॆनॆ तू—गिदॊडाबिदिजिनमुनिप—जटाचार्यर धैर्यद
पॆपु गॆल्दुदु पसर्गदलुर्केयेनॆनिसि नॆगॆदुमिगॆ सोगयिसिदं ।

—*पार्श्वपुराण, १.१४*

१०. वंद्यर्जटासिंहणंद्याचार्यादींद्रणंद्याचार्यादिमुनिपराकाणूर्गणद्यर्पृथिवियलगॆल्ल ।

—*अनन्तनाथपुराण,१.१ ७*

११. नडवलियोलू तन्नं समं बडॆदारुं नडॆदरिल्ल गडमॆतेर्देयुं ।
नुडियुं नडॆदुवो पदुळिके यॆडॆगॆ जटासिंहणंदि मुनिपुंगवना ।

—*पार्श्व पुष्पदंत-पुराण, १.२९*

१२. कार्यविदर्हद्वल्या—चार्य—जटासिंहनंदि नामोद्यामाचार्यवरगृध्रपिंछा—
चार्यर चरणारविंदवृंदस्तोत्रं ।

—*शांतिनाथपुराण, १.१९*

१३. धैर्यपरगृध्रपिंछा—चार्यर जटासिंहनंदि जगतीख्याता
—चार्यर प्रभावमत्याश्चर्यमदं पॊगळूवडब्जजंगमसाध्यं ।

—*नेमिनाथपुराण,१.१४*

१४. हरिवंश (जिनसेन), १.३५

१५. देखें : जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय : प्रो. सागरमलजैन

१६. यापनीयसंघ प्रतीतकण्डूर्ग्गणाविध.. ।
जैन शिलालेख संग्रह भाग-२ लेख-क्रमांक १६०

१७. देखें : वरांगचरित, भूमिका (अँग्रेजी) पृ. १६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१८. देखें : जैनशिलालेखसंग्रह भाग २ लेख क्रमांक २६७, २७७, २९९

१९. वही : भाग २ लेखक्रमांक २६७, २७७, २९९
ज्ञातव्य है कि काणूरगण को मूलसंघ, कुन्दकुन्दान्तय और मेष पाषाण गच्छ। से जोड़नेवाले ये लेख न केवल परवर्ती हैं, अपितु इनमें एकरूपता भी नहीं है।

२०. वरांगचरित : सं. ए. एन. उपाध्ये, भूमिका (अंग्रेजी) पृ. १६ पर उद्धृत
वंद्यर् जटासिंहणदयाचार्यदींद्रणंद्याचार्यादि मुनि परा काणूर्गणं।

—*अनन्तनाथपुराण, १.१७*

२१. देखें : जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय : प्रो. सागरमल जैन पृ. १४५-१४६

२२. देखें : वरांगचरितः सं. ए. एन. उपाध्ये, भूमिका (अंग्रेजी) पृ. १७

२३. देखें : यापनीय संघ पर कुछ और प्रकाश : ए.एन. उपाध्ये, 'अनेकान्त', वीर निर्वाण-विशेषांक, १९७५ ई.

२४. यतीनां (३.७), यतीन्द्र (३.४३), यत्तिपतिना (५.११३), यति (५.११४), यतिना(८.६८), यतिः (वीरचर्या यतयोबभूवुः (३०.६१), यतिपति (३०.९९), यतिः (३१.२१)

२५. देखे : वरांगचरित, २६/८२-८३; तुलनीय स्वयम्भूस्तोत्र (समन्तभद्र), १०२-१०३

२६. आचारमादौ समधीत्य धीमान्प्रकीर्णकाध्यायमनेकभेदम्।
अङ्गानि पूर्वाश्च यथानुपूर्व्यामल्पैरहोभिः सममध्यगीष्ट॥

—*वरांगचरित, ३१.१८*

२७. स्थूलामहिंसामपि सत्यवाक्यमचोरतादाररतिव्रतं च।
भोगोपभोगार्थपरिप्रमाणमन्वर्थदिग्देशनिवृत्तितां च॥
सामायिकं प्रोषधपात्रदानं सल्लेखनां जीवितसंशये च।
गृहस्थधर्मस्य हि सार एषः संक्षेपतस्तेऽभिनिगद्यते स्म॥

—*वरांगचरित, २२.२९-३०*

देखिए :

वरांगचरित सर्ग १५, श्लोक १११-१२५

तुलनीय :

पञ्च य अणुव्वयाइं, तिण्णेव गुणव्वयाइ भणियाइं।
सिक्खावयाणि एत्तो, चत्तारि जिणोवइट्ठाणि॥११२॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

थूलपरं पाणिवहं, मूसावायं अदत्तदाणं च ।
परजुवईण निवित्ती, संतोसवयं च पञ्चमयं ॥११३ ॥

दिसिविदिसाण य नियमो, अणत्थदण्डस्स वज्जणं चेव ।
उवभोगंपरीमाणं, तिण्णेव गुणव्वया एए ॥११४ ॥

सामाइयं च उववासपोसहो अतिहिंसविभागो य ।
अन्तेसमाहि-मरणं, सिक्खासु वयाईं चत्तारि ॥११५ ॥

—*पउमचरिय, उद्देशक १४ ।*

२८. पंचेवषुव्वयाणु गुणव्वयाइं हवंति तह तिण्णि ।
सिक्खावय चत्तारि य संजमचरणं च सायारं ॥
थूले तसकायवहे थूले मोसे अदत्तथूले य ।
परिहरो परमहिला परिग्गहारंभ परिमाणं ॥

२९. दशप्रकारा भवनाधिपानां ते व्यन्तरास्त्वष्टविधा भवन्तिः ।
ज्योतिर्गणाश्चापि दशार्धभेदा द्विषट्प्रकाराः खलु कल्पवासाः ॥

—*वरांगचरित, ९.२*

३०. सौधर्मकल्पः प्रथमोपदिष्ट ऐशानकल्पश्च पुनर्द्वितीयः ।
सनत्कुमारो द्युतिमांस्तृतीयो माहेन्द्रकल्पश्च चतुर्थ उक्तः ॥
ब्राह्मं पुनः पञ्चममाहुरार्यास्ते लान्तवं षष्ठमुदाहरन्ति ।
स सप्तमः शुक्र इति प्ररूढः कल्पः सहस्रार इतोऽष्टमस्तु ॥
यमानतं तन्नवमं वदन्ति स प्राणतो यो दशमस्तु वर्ण्यः ।
एकादशं त्वारणमामनन्ति तमारणं द्वादशमच्युतान्तम् ॥

—*वरांगचरित ९.७-८-९*

३१. दशाष्टपञ्चद्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यन्ताः ।

—*तत्त्वार्थसूत्र (विवेचक : पं. फूलचन्द्रशास्त्री) पृ. ११८*

देखें : ४.१९ में १६ कल्पों का निर्देश है ।

३२. वारस कप्पा केई केई सोलस वदंति आइरिया ॥११५ ॥
सोहम्मीसाणसणक्कुमारमाहिंदबम्हलंतवया ।
महसुक्कसहस्सारा आणदपाणदयआरणच्चुदया ॥१२० ॥

—*तिलोयपण्णत्ति आठवाँ अधिकार*

३३. ततो हि गत्वा श्रमणार्जिकानां समीपमभ्येत्य कृतोपचाराः ।
विविक्तदेशे विगतानुरागा जहुर्वराङ्ग्यो वर भूषणानि ॥९३ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुणांश्च शीलानि तपांसि चैव प्रबुद्धतत्त्वाः सितशुभ्रवस्त्राः ।
संगृह्य सम्यग्वरभूषणानि जिनेन्दमार्गाभिरता बभूवुः ॥९४ ॥

— वरांगचरित २९.९३-९४

३४. आवसधे वा अप्पाउग्गे जो वा *महड्ढिओ* हिरिमं ॥
मिच्छजणे सजणे वा तस्स होज्ज अववादियं लिंगं ॥७८ ॥
आगे इसकी टीका देखें— 'अपवादिकलिंगं सचेललिंगं'

—भगवती आराधना, भाग १ अपराजिता टीका पृ. ११४

३५. हेमन्तकाले धृतिवद्धकक्षा दिगम्बरा ह्यभ्रवकाशयोगाः ।

—वरांगचरित, ३०.३२

३६. निरस्तभूषाः कृतकेशलोचाः ।

—वही, ३०.२

३७. विशीर्णवस्त्रावृतगात्रयष्टयस्ताः काष्ठमात्रप्रतिमा बभूवुः ।

—वही, ३१.१३

३८. (अ) इत्थीसु ण पावया भणिया ।

—सूत्रप्राभृत, २५

(ब) दंसणणांणवचरिते महिला वागम्मि देहि. वि वीसट्ठो ।
पासत्थ वि हु णियट्ठो भावविणट्ठो ण सो समणो ॥

—लिंगपाहुड, २०

३९.(अ)नरेन्द्रपत्न्यःश्रुतिशीलभूषा—प्रतिपन्नदीक्षास्तदा बभूवुःपरिपूर्णकामाः ३१.१
दीक्षाधिराज्यश्रियमभ्युपेता— ॥३१.२ ॥

(ब) नरवरवनिता विमुच्य साध्वीयमुपययुः स्वपुराणि भूमिपालाः ।२९.९९ ॥

(स) व्रतानि शालान्यमृतोपमानि— ॥३१.४ ॥

(द) महेन्द्रपत्न्यः श्रमणत्वमाप्य— ॥३१.११३ ॥

—वरांगचरित ।

४०. तपोधनानाम्मितप्रभावा गणाग्रणी संयमनायका सा ।

—वरांगचरित, ३१.६

४१. आहारदानं मुनि पुङ्गवेभ्यो, वस्त्रान्नदानं श्रमणार्यिकाभ्यः ।
किमिच्छदानं खलु दुर्गतेभ्यो दत्वाकृतार्थो नृपतिर्बभूव ॥

—वरांगचरित, २३.९२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४२. (अ) आपवादिक लिंगं सचेललिंगं. . . ।

—*भगवती आराधना-टीका, पृ. ११४*

(ब) चत्तारिजणा भत्तं उवकप्पेंति . . . ।
चत्तारिजणा रक्खन्ति दवियमुवकप्पियं तयं तेहि ।

—*भगवती आराधना, ६६१ एवं ६६३*

■

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वसुदेवहिण्डी की खण्डकथाएँ

*डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव**

'वसुदेवहिण्डी' आचार्य संघदासगणी (ई. तृतीय-चतुर्थ शती) की ऐसी पार्यन्तिक कथाकृति है, जिसे हम महाकवि गुणाढ्य (ईसवी प्रथम शती) की पैशाची में निबद्ध बृहत्कथा (बड्डकहा) का प्राकृत-नव्योद्भावन कहेंगे, तो अधिक संगत होगा।

संघदासगणी ने 'वसुदेवहिण्डी' की मूलकथा के विकास के लिए जो खण्डकथाएँ जोड़ी हैं, उनकी संज्ञाएँ विभिन्न रूपों में रखी हैं। ये संज्ञाएँ इस प्रकार हैं : कहाणय (कथानक), कहा (कथा), संबंध (सम्बन्ध), कहासंबंध (कथासम्बन्ध), दिट्ठंत (दृष्टान्त), णाय (ज्ञात), उदंत (उदन्त), अक्खाणय (आख्यानक), परिचय, चरिय (चरित), पसंग (प्रसंग), अप्पकहा या अत्तकहा (आत्मकथा), आहरण और उदाहरण। ये सभी संज्ञाएँ प्रायः एक दूसरे की पर्यायवाची हैं, फिर भी कथा की प्रकृति की दृष्टि से इनमें सूक्ष्म भेद लक्षणीय हैं। इसीलिए खण्डकथाओं को विभिन्न संज्ञाओं के साथ उपन्यस्त करने में कथाकार का विशिष्ट उद्देश्य या अभिप्राय परिलक्षित होता है। अन्यथा, सभी खण्डकथाओं या उपकथाओं की संज्ञा एक ही रखते। अवश्य ही, इन सभी संज्ञाओं से तत्कालीन कथाओं के चारित्रिक विकास की बहुमुखता की सूचना मिलती है।

संघदासगणी ने अपनी इस बृहत्कथा में दो खण्डकथाओं का 'कथानक' शब्द से निर्देश किया है। वे हैं : 'विशेषपरिण्णाए इब्भपुत्तकहाणयं' (८.१२) * तथा 'एगभवम्मि वि संबंधविचिन्तताए कुबेरदत्त-कुबेरदत्ता कहाणयं, (२७.७)। इन कथानक-संज्ञक दोनों खण्डकथाओं में दो गणिकाओं की कथाएँ गुम्फित की गई हैं, जिनकी परिणति धर्मकथा में हुई है। पहली खण्डकथा में एक इभ्यपुत्र की एक ऐसी गणिका के साथ प्रेम-प्रसंग की कथा है, जो अपने ग्राहकों को विदा करते समय स्मृति चिह्न-स्वरूप अपना कोई आभूषण उपहार में देती थी। दूसरी कथानक-संज्ञक खण्डकथा में एक भव में ही सम्बन्ध की विचित्रता के प्रतिपादन के निमित्त उपन्यस्त हुई है। इसमें भी कुबेरसेना नाम की गणिका की कथा का परिगुम्फन हुआ है, जिसमें गणिका द्वारा परित्यक्त उसके बेटे और बेटी का अज्ञात परिस्थिति में आपस में विवाह हो जाता है। कुबेरदत्ता को उसी समय

---

* पी. एन. सिन्हा कॉलोनी, भिखनापहाड़ी, पटना-८०० ००६

* पृष्ठ और पंक्तिसंख्या का निर्देश इन पंक्तियों के लेखक के, पं. रामप्रताप शास्त्री चेरिटेबुल ट्रस्ट, ब्यावर (राजस्थान) से प्रकाशित 'वसुदेवहिण्डी' के मूल-सह-हिन्दी-अनुवाद-संस्करण के अनुसार हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अवधिज्ञान उत्पन्न होता है और वह विरक्त होकर भिक्षुणी बन जाती है, किन्तु कुबेरदत्त पुनः अपनी माता कुबेरसेना गणिका के घर आकर उसके साथ भोगलिप्त होकर एक पुत्र को जन्म देता है। पुनः कुबेरदत्ता द्वारा वस्तुस्थिति का ज्ञान कराने पर कुबेरदत्त विरक्त हो उठता है और तपस्या द्वारा अपने शरीर का क्षय करके देवत्व को प्राप्त करता है।

इस प्रकार, उक्त दोनों कथानकों का कामकथा से धर्मकथा में उदात्तीकरण हुआ है। इससे स्पष्ट है कि कथाकार ने उक्त प्रकार की कथाओं को 'कथानक' कोटि में वर्गीकृत किया है, जो आगमिक कथा-सिद्धान्त के अनुसार 'विकथा' है।

क्रान्तदर्शी कथाकार ने 'वसुदेवहिण्डी' की सात उपकथाओं को 'कथा' शब्द से निर्देशित किया है। इनमें पहली कथा (दुल्लहाए धम्मपत्तीए मित्ताणं' कहा : १०.८) जम्बू के माता-पिता के साथ संवाद-क्रम में ही कही गई है, जिसमें कुछ युवा मित्रों ने एक तीर्थंकर के दर्शन करने और उनका प्रवचन सुनने के बाद, समवसरण में ही प्रव्रजित होकर दुर्लभ धर्म प्राप्त किया। इसी प्रसंग में ही दूसरी 'कथा' (इंदियविसयपसत्तीए निहणोवगयवाणरकहा : १३.१२) आई है। इसमें एक ऐसे वानर-यूथपति की कथा है, जो अपने दल के एक बलिष्ठ वानर से पराजित होकर पहाड़ पर भाग गया और वहाँ उसने एक गुफा की शरण ली। गुफा में शिलाजतु का रस बह रहा था। प्यासा वानरनायक उसे पानी समझकर पीने लगा और उसी में चिपककर मर गया। कथा के उपसंहार में बताया गया है कि इन्द्रिय-विषयों में फँसकर मनुष्य वानर-यूथपति की भाँति दुःखमय मृत्यु को प्राप्त करता है।

तीसरी 'कथा' (पमत्ताए लद्धमहिसजम्मणो माहणदारयस्स कहा : ५९-४) जम्बू-प्रभव-संवाद के प्रसंग में प्रस्तुत की गई है। इस कथा में देव-भव में स्थित ब्राह्मण पिता ने महिष-भव को प्राप्त अपने पुत्र को धर्ममार्ग पर ले आने के निमित्त उसे, अपनी मति से एक कसाई का निर्माण कर उससे उत्पीड़ित कराया है और इस प्रकार, प्रति-बोधित करके पिता ने पुत्र का तिर्यग्गति से उद्धार किया है।

चौथी 'कथा' (सकयकम्मविवागे कोंकणय-बंभणकहा : ८०.४) 'धम्मिल्लचरित' में कही गई है। इसमें मगध-जनपद के पलाशग्राम के कोंकणक नामक ब्राह्मण की कथा है, जो कर्मविपाकवश (शमीवृक्ष के नीचे स्थापित देव को बकरे की बलि चढ़ाने के कारण) मरने के बाद स्वयं अपने घर में ही बकरे के रूप में उत्पन्न हुआ। कुछ दिनों बाद कोंकणक का पुत्र उस बकरे को, अपने मृत पिता के लिए भोग के उद्देश्य से, मारने के निमित्त ले चला। परन्तु, एक सिद्ध साधु के वस्तुस्थिति समझाने पर कोंकणक के पुत्र ने उस बकरे को मुक्त कर दिया। कथा के उपसंहार में बताया गया है कि स्वयंकृत कर्म

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के कारण ही मनुष्य इस संसार में दुःख पाता है और वह साधु की कृपा से ही ज्ञान प्राप्त कर दुःखमुक्त हो सकता है।

पाँचवीं 'कथा' (राहुगपुव्वभवकहा : २५०.९) पीठिका-प्रकरण में प्रद्युम्न के पूर्वभव की कथा के सम्बन्ध में उपन्यस्त की गई है। इसमें जबरदस्ती गूँगा बने राहुक के विभिन्न पूर्वभवों की विचित्रता की कथा कही गई है। सत्यवादी सत्य नामक साधु के उपदेश से ही उसे आत्मस्वीकृत गूँगेपन से छुटकारा मिला। कथाकार ने पूर्वभव की सिद्धि के क्रम में इस कथा का विनियोग किया है।

छठीं कथा (परलोगपच्चए धम्मफलपच्चए य सुमित्ताकहा : ३४६.१३) को शरीर-प्रकरण में उपस्थित किया गया है। इसमें भी परलोक और धर्मफल के अस्तित्व की सिद्धि के लिए वाराणसी के राजा हतशत्रु की पुत्री सुमित्रा के बाल्यभाव में ही पूर्वजन्म के स्मरण हो आने का रोचक वृत्तान्त उपन्यस्त किया गया है।

सातवीं 'कथा' (आइच्चाइमुणिचउक्ककहा : ८९१.१) अट्ठारहवें प्रियंगुसुन्दरीलम्भ में आई है। इसमें एक मुनि ने रमणीय ग्राम के ग्रामस्वामी देवदत्त से सारस्वत, आदित्य, वह्नि और वरुण नामक मुनियों के ब्रह्मलोक से च्युत होकर दक्षिणार्द्ध भारत के यथाक्रम ऋषभपुर, सिंहपुर, चक्रपुर तथा गजपुर नामक नगरों में आदित्य, सोमवीर्य, शत्रूत्तम और शत्रुदमन राजाओं के रूप में पुनर्जन्म ग्रहण करने की कथा कही है। यह कथा भी पूर्वभव और परभव के सम्बन्धों की विचित्रता को बताने के उद्देश्य से ही गुम्फित की गई है। इस प्रकार उपरिवर्णित सातों खण्डकथाएँ विशुद्ध धर्मकथा की कोटि में आती हैं, इसलिए कथाकार ने इन्हें 'कथा' की संज्ञा प्रदान की है।

कथाकार ने 'सम्बन्ध' या 'कथासम्बन्ध'-संज्ञक अनेक कथाएँ उपन्यस्त की हैं, जिनकी संख्या लगभग पैंतीस है। इस कथाग्रन्थ की खण्डकथाओं में 'सम्बन्ध'-संज्ञक कथाएँ सर्वाधिक हैं और इनकी विविधता और बहुलता भी मिलती है। ये कथाएँ 'कथा' और 'विकथा', अर्थात् धर्मकथा और कामकथा और फिर अर्थकथा तथा मिश्रकथा के रूपों में वर्गीकृत की जा सकती हैं। 'सम्बन्ध' या 'कथासम्बन्ध'-संज्ञक प्रायः सभी कथाएँ अपने नाम की अन्वर्थता के अनुसार, कहीं कथा के पूर्वापर-सम्बन्ध को जोड़ने के लिए प्रस्तुत की गई हैं, तो कहीं मूलकथा के प्रसंग में , कथाविस्तार के निमित्त विनियोजित हुई हैं। कुल मिलाकर, 'सम्बन्ध'-संज्ञा से संवलित प्रायः सभी कथाओं का संगुम्फन विभिन्न कथा-पात्रों और पात्रियों के पूर्वभव और परभव के परस्पर सम्बन्ध और उनके कार्यों की विचित्रता और विलक्षणता के प्रदर्शन के लिए किया गया है।

संघदासगणी ने अपनी बृहत्कथाकृति में 'दृष्टान्त'-संज्ञक कथाओं का भी विन्यास किया है। यथाविन्यस्त दृष्टान्त-कथाएँ संख्या की दृष्टि से कुल दो ही हैं : 'विसयसुहोवमाए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महुबिंदुदिट्ठंतं', (१९.६) तथा 'दुक्खे सुहकप्पणाए विलुत्तभंडस्स वाणियगस्स दिट्ठंतं' (३९.१२)। 'दृष्टान्त' की शाब्दिक व्याख्या के अनुसार, परिणाम को प्रदर्शित करनेवाली कथाएँ ही 'दृष्टान्त' (जिसका अन्त या परिणाम देखा गया हो = दृष्टः अन्तो यस्याः सा दृष्टान्तकथा) की संज्ञा प्राप्त करती हैं। मूलतः इस प्रकार की कथाएँ नीतिकथाएँ होती हैं। विषय-सुख में लिप्त मनुष्य विषय के तादात्विक सुख की अनुभूति में ही अपने जीवन की सार्थकता का अनुभव करता है, उसके भावी दुःखमय परिणाम का ज्ञान उसे नहीं रहता। संसारी मनुष्य भय-संकट की स्थिति में भी अपने को अज्ञानतावश निर्भय समझता है, वस्तुतः उसका सुख एकमात्र कल्पना ही होता है। कथाकार द्वारा उपन्यस्त मधुबिन्दु का दृष्टान्त श्रमण और ब्राह्मण-परम्परा के परवर्त्ती ग्रन्थकारों द्वारा भी बहुशः आवृत्त हुआ है।

दूसरी दृष्टान्त-कथा में मधुबिन्दु के लोभी पुरुष की भाँति दुःख में सुख की कल्पना करनेवाले एक विलुप्तभाण्ड बनिये की कथा उपस्थापित की गई है। कथा का सारांश है कि दुःखपरिणामी वर्त्तमान सुख को ही सुख माननेवाले बनिये को अपने एक करोड़ के माल से हाथ धोना पड़ा। इसलिए, नीति यही है कि भावी सुख के लिए वर्त्तमान में दुःख उठाना ही श्रेयस्कर है, अन्यथा वर्त्तमान सुख सही मानी में दुःख है, और वर्त्तमान दुःख में सुख की कल्पना भविष्य के लिए हानिकारक होती है। इस प्रकार, कथाकार द्वारा रची गई उक्त दोनों दृष्टान्त-कथाएँ विशुद्ध रूप से नीतिपरक कथाएँ हैं।

'वसुदेवहिण्डी' में 'णाय'-संज्ञक कुल तीन कथाएँ हैं : 'गब्भवासदुक्खे ललियंगयणायं' (२२.५); 'दढसीलयाए धणसिरीणायं' (१३८.१३) तथा 'सच्छंदयाए रिवुदमणनरवइणायं' (१०४.३)। 'णाय' या 'ज्ञात'-संज्ञक कथाओं की गणना भी विकथा में की जा सकती है; क्योंकि इनका सम्बन्ध भी कामकथा से जुड़ा हुआ है। कथाकार द्वारा प्रस्तुत अन्तःसाक्ष्य के अनुसार 'णाय'-संज्ञक कथाएँ 'दृष्टान्त'-संज्ञक कथाओं के ही भेद हैं। कथाकार ने उक्त तीनों ज्ञातकथाओं में विषयासक्त मनुष्य की दुर्गति की ओर संकेत किया है। पहली कथा में ललितांगद और दूसरी कथा में डिण्डी यौनसुख की आसक्ति रखते थे, पुनः तीसरी कथा में राजा रिपुदमन अपनी रानी के साथ यान-विहार की आसक्ति में पड़ गया था। इस प्रकार ये तीनों ज्ञातकथाएँ विशुद्ध कामकथाएँ हैं।

'वसुदेवहिण्डी' में 'उदन्त'-संज्ञक दो कथाओं का उल्लेख हुआ है। प्रथम 'कथोत्पत्ति-प्रकरण' में 'अत्थविणिओगविरूवयाए गोवदारगोदंतं' (३२.१०) तथा द्वितीय 'धम्मिल्लहिण्डी' में 'नागरियछलिअस्स सागडिअस्य उदंतं' (१६१.१)। प्रथम कथा में देवी द्वारा प्रतिबोधित गोपदारक वेश्या के भ्रम में मातृगमन के अकृत्य से बच गया है, साथ ही वेश्या का उसकी माँ के रूप में पहचान भी प्रस्तुत हुई है। द्वितीय कथा में एक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नागरिक गन्धिपुत्र द्वारा गाड़ीवान के और फिर गाड़ीवान द्वारा उस नागरिक के छले जाने का वर्णन हुआ है। नागरिक ने वाक्छल से एक कार्षापण में तीतर-समेत गाड़ी ले ली और पुनः गाड़ीवान ने कुलपुत्र द्वारा प्रदर्शित उपाय से दो पैली सत्तू के साथ उसकी स्त्री को भी हथिया लिया। अन्त में, मुकदमे के द्वारा दोनों में निबटारा हुआ।

इस प्रकार, उक्त दोनों 'उदन्त'-संज्ञक कथाओं में गुप्तवार्त्ता की ओर संकेत किया गया है। कोशकार आप्टे महोदय ने 'उदन्त' का अर्थ 'गुप्तवार्त्ता' भी किया है। इसीलिए शब्दशास्त्रज्ञ कथाकार संघदासगणी ने उक्त दोनों कथाओं को 'उदन्त' संज्ञा से अभिहित किया है।

'वसुदेवहिण्डी' में 'आख्यानक'-संज्ञक कुल तीन कथाएँ हैं : 'लोगधम्मासंगययाए महेसरदत्तक्खाणयं, (३६.३) 'चिंतयत्थविवज्जासे वसुभूईबंभणक्खाणयं' (८३.९) और 'कयग्घाए वायसक्खाणयं' (९०.५)। पहली कथा की घटना है कि मृत पिता की सद्गति के उद्देश्य से आयोजित श्राद्ध में महेश्वरदत्त स्वयं महिषयोनि में उत्पन्न अपने पिता को ही काटकर उसके मांस से भोज का आयोजन करता है। द्वितीय आख्यानक की कथावस्तु का सार है कि मनुष्य सोचता कुछ और है, लेकिन हो जाता है कुछ और ही। वसुभूति ने खेत में धान रोपा, लेकिन देखरेख के अभाव में धान की जगह घास उग आई। उसकी रोहिणी नामक गाय का गर्भ असमय ही गिरकर नष्ट हो गया, इसलिए वह बच्चा न दे सकी। वसुभूति ब्राह्मण का बेटा सोमशर्मा नट की संगति में पड़कर नष्ट हो गया और ब्राह्मणपुत्री सोमशर्माणी किसी धूर्त्त के फेर में पड़कर क्वाँरेपन में ही गर्भिणी हो गई। इस प्रकार, ब्राह्मण द्वारा चिन्तित अर्थ का विपर्यास या अन्यथात्व हो गया। तीसरे, कौए के आख्यान में यह निर्देश किया गया है कि कपिंजलों ने मामा मानकर कौओं की खातिरदारी की और कृतघ्न कौए अपने भगिनों (कपिंजलों) को लांछन लगाकर चले गये।

इस प्रकार, कथाकार ने चिन्तित अर्थ के विपर्यास या अन्यथात्व को संज्ञापित करनेवाली कथाओं को 'आख्यानक' नाम से उपस्थापित किया है।

'परिचय'-संज्ञक कथाएँ अपने नाम के अनुसार ही पात्र-पात्रियों के परिचय प्रस्तुत करने के लिए उपन्यस्त की गई हैं। इनमें प्रायः मूलकथा के विशिष्ट पात्रों के ही परिचय परिनिबद्ध हैं। संख्या की दृष्टि से परिचय-कथाएँ कुल चौदह हैं।

कथाकार ने 'चरित'-संज्ञक कथाओं में शलाकापुरुषों के चरित उपन्यस्त किये हैं। मूल 'वसुदेवचरित' के अन्तर्गत कुल ग्यारह चरितकथाएँ गुम्फित हुई हैं, जिनमें धर्म, अर्थ और काम के प्रयोजन से सम्बद्ध दृष्ट, श्रुत और अनुभूत कथाओं का वर्णन हुआ है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशिष्ट रूप से किसी कथा की प्रत्यासत्ति की स्थिति में कथाकार ने उस कथा को 'प्रसंग' नाम से प्रस्तुत किया है। इस सन्दर्भ में कुल एकमात्र कथा 'वसंततिलयागणियापसंगो' (७७.६) शीर्षक से उपलब्ध होती है। यह कथा धम्मिल्ल के चरित भी प्रत्यासत्ति में, प्रसंग के पल्लवन के लिए, कथावस्तु के मध्य की कड़ी की भाँति उपनिबद्ध हुई है। इसमें वेश्यासक्त धम्मिल्ल के दुष्परिणाम का मार्मिक चित्रण हुआ है।

कथाकार ने 'आत्मकथा' अत्तकहा की संज्ञा से कुल नौ कथाएँ उपन्यस्त की हैं। जैसा कि प्रत्येक कथाशीर्ष से स्पष्ट है, इन कथाओं में पात्रों ने अपनी-अपनी आत्मकथा कही है, इसलिए कथाकार ने इन्हें 'आत्मकथा' की सार्थक संज्ञा प्रदान की है।

कथा की उक्त संज्ञाओं के अतिरिक्त, कथाकार ने 'आहरण' और 'उदाहरण'-संज्ञक कथाओं की भी रचना की है। 'वसुदेवहिण्डी' में 'आहरण'-संज्ञक कुल आठ कथाएँ और 'उदाहरण'-संज्ञक कुल तीन कथाएँ उपलब्ध हैं। कहना न होगा कि 'आहरण' और 'उदाहरण'-संज्ञक कथाएँ प्रायः एक ही कोटि की हैं; क्योंकि अन्तःसाक्ष्य से भी यह सिद्ध है कि कथाकार उक्त दोनों कथाविधाओं को एक ही श्रेणी की मानते हैं। तभी तो उन्होंने 'अदिण्णादाण'-विषयक मेरु की कथा को 'आहरण' की संज्ञा दी है और पुनः इसी क्रम में 'अदिण्णादाण'-विषयक दूसरी जिनदास की कथा को 'उदाहरण' कहा है। 'आहरण' और 'उदाहरण'-संज्ञक कथाओं में दृष्टान्त और नीतिकथाओं का भी अन्तर्भाव उपलब्ध होता है। ये कथाएँ प्रायः सम्बद्ध पात्रों के गुण-दोष तथा लोक-परलोक के विवेचन के क्रम में सन्दर्भित हुई हैं, साथ ही इनमें पाँच महाव्रतों के उत्कर्ष की सिद्धि का भी विनियोग हुआ है।

उपरिविवृत खण्डकथाओं या उपकथाओं के अन्तर्गत महान् कथाकोविद संघदासगणी ने अनेक पात्रों की उत्पत्ति, भव और पूर्वभव की भी मनोरंजक कथाओं का उपन्यास किया है। इन तीनों प्रकार की कथाओं के साथ ही पूर्वविवृत 'सम्बन्ध'-संज्ञक कथाएँ ही 'वसुदेवहिण्डी' की महत्कथा की स्नायुभूत हैं, जिनके माध्यम से सम्पूर्ण मूलकथा में आह्लादकारी कथारस उच्छलित हुआ है।

■

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महावीर और बुद्ध के जीवन और उनकी चिन्तन-दृष्टि

*डॉ. सुरेन्द्रनाथ दीक्षित**

जैनधर्म और बौद्धधर्म एशिया के महान् धर्मों में हैं। दोनों ही धर्मों ने अपने गहन मानवीय चिन्तन से भारतीय धर्म-साधना को बहुत दूर तक प्रभावित किया है और सदियों तक विश्व के विशाल भू-भाग के निवासियों की सोच-समझ और जीवन-शैली को गढ़ा और सँवारा है। इन दोनों धर्मों ने एक धर्म ने एक ऐसी मानवीय सभ्यता को इस धरती पर चरितार्थ किया, जिसका आदर्श अहिंसा, तप, त्याग, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह और तृष्णा का क्षय रहा। बौद्ध धर्म के प्रवर्तक गौतम बुद्ध अब से ढाई हजार वर्ष पहले हुए। यद्यपि उनसे पूर्व भी अनेक लोकोपकारी बोधिसत्त्वों की परिकल्पना की गई। उन्हीं की परिणति पूर्ण बुद्ध के रूप में हुई। उन्होंने पहले-पहल सारनाथ में धर्मचक्र का प्रवर्तन किया। यही बात जैन धर्म के बारे में नहीं कही जा सकती; क्योंकि वर्द्धमान महावीर जैनधर्म के मूल प्रवर्तक नहीं, अपितु वे चौबीसवें और अन्तिम तीर्थंकर थे। उनसे पूर्व पार्श्वनाथ तक तेईस तीर्थंकर हो चुके थे, जबकि गौतम बुद्ध से पूर्व बोधिसत्त्व हुए। आदिनाथ के रूप में भी प्रसिद्ध प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का उल्लेख श्रीमद्भागवत और विष्णुपुराण में मिलता है। अनेक जैन विद्वानों के अनुसार जैनधर्म न केवल बौद्ध धर्म की अपेक्षा कहीं अधिक प्राचीनतर है, अपितु वैदिकधर्म का यदि वह पूर्ववर्ती न हो, तो भी उसका पार्श्ववर्ती तो निश्चित रूप से है। जैन परम्परा के अनुसार जैनसंघ के बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ महाभारत-काल में वर्तमान थे और कृष्ण के समकालीन और उसी यादव-वंश के थे।[१]

भारतीय धर्म-साधना और चिन्तन-यात्रा पर दृष्टि डालें तो यह साफ जाहिर होता है कि भारत के इस विशाल भू-भाग में वैदिक काल में भी भोगमूलक और त्यागमूलक संस्कृति में परस्पर विरोध और संघर्ष का भाव रहा है। दोनों ही जीवनदृष्टियों का प्रतिपादन ऋग्वेद से अथर्ववेद काल तक दिखाई देता है। यज्ञों में पशुओं और मनुष्यों की बलि तक की बात इतिहासकारों ने कही है और फिर भोग-त्याग पर बल देते हुए 'वेदवादरतो' की निन्दा भी की गई है। उपनिषद् और गीता का गहन ज्ञान उसी चिन्तन-सूत्र की व्याख्या करते हैं, जिसे जैनों ने 'साम्य' कहा। इस सन्दर्भ में यह भी

* गनीपुर, मुजफ्फरपुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उल्लेखनीय है कि पश्चिमी भाग के आर्यों ने जहाँ भोगमूलक संस्कृति पर बल दिया, वहाँ पूर्वी भारत के चिन्तन के आधार अहिंसा और त्याग मुख्य रूप से थे। जैनधर्म एवं बौद्धधर्म के प्रवर्तक दोनों ही पूर्वी भारत के थे। यही नहीं, बुद्ध और महावीर के अवतरण से पूर्व वैदिक यज्ञों में बलि की प्रथा प्रचलित थी। पूरी समाज-व्यवस्था शोषक और शोषितों के बीच विकसित हो रही थी। पशुओं की बलि से कृषि का विकास और वाणिज्य-व्यवसाय बाधित था। परवर्ती वैदिक सभ्यता का सूत्र समाज के सर्वोच्च वर्ण ब्राह्मणों के हाथों में था, जबकि उस ब्रह्मण्य-संस्कृति का विरोध उपनिषद्-कालीन चिन्तक ऋषियों ने किया। कठोपनिषद् में यम और नाचिकेता के संवाद इस मर्म का उद्घाटन करते हैं कि जीवन के स्थूल भोगों का सुख, वह स्वर्ग में हो या पृथ्वीलोक में, मनुष्य-जीवन का प्राप्तव्य लक्ष्य नहीं है। मानव-जीवन का लक्ष्य श्रेष्ठतर है, सत्य, अमृत और अविनश्वरता की दृष्टि का चरम विकास। महावीर वर्द्धमान और गौतमबुद्ध ने इसी जीवनव्यापी दृष्टि का उन्मेष किया। धार्मिक और सामाजिक व्यवस्था की रूढ़ियों को चुनौती दी। धर्म और समाज की नई दृष्टि का प्रवर्तन किया।

यह इतिहास का विलक्षण संयोग है कि गौतम बुद्ध और महावीर वर्द्धमान समकालीन थे, उनके जीवन और परिस्थितियों में समानता है और चिन्तन के सूत्रों में भी समानता के अनेक प्रोज्ज्वल बिन्दु हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि ये दोनों महापुरुष अपने चिन्तन और जीवन की घटनाओं के सन्दर्भ में एक दूसरे से जुड़े, एक दूसरे के प्रतिरूप हैं। नहीं, कई बातों और कई चिन्तन-सूत्रों के सन्दर्भ में दोनों एक दूसरे से एकदम पृथक और मौलिक रूप से स्वतन्त्र हैं। दोनों धर्मों के विशाल साहित्य के अनुशीलन से यह तथ्य बहुत स्पष्ट रूप से प्रतिभासित होता है। दोनों के पूर्वी भारत में मुख्यरूप से 'धम्म' का प्रचार, एक ही क्षेत्र में धर्मोपदेश करने के बावजूद (वैशाली, नालन्दा आदि) उनके शिष्य एक दूसरे से तो मिलते हैं, प्रभावित होते हैं, पर स्वयं बुद्ध और महावीर समानान्तर रेखा की भाँति कभी एक दूसरे से मिल नहीं सके। इस सन्दर्भ में अगले कुछ पृष्ठों में महापुरुषों के जीवन और उनकी चिन्तन-दृष्टि के साम्य और वैषम्यमूलक बिंदुओं पर प्रमुख रूप से प्रकाश-निक्षेप किया जा रहा है।

जन्मकथा :

वर्द्धमान महावीर और गौतम बुद्ध के जन्म को लेकर अनेक कथाएँ प्रचलित हैं। बुद्ध और महावीर की माताओं ने उनके जन्म के सन्दर्भ में स्वप्न देखे। सिद्धार्थ (बुद्ध) की माता महामाया ने आषाढ़ पूर्णिमा के दिन स्वप्न देखा कि बोधिसत्त्व श्वेत हाथी के रूप में उनकी कोख में प्रवेश कर गया। इसी प्रकार महावीर की माता त्रिशला ने स्वप्न में चौदह शुभ शकुनों को देखा। उनमें पहला तो 'हाथी' ही है, अन्य स्वप्नों में बैल,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिंह, लक्ष्मी, सूर्य, चन्द्र, निर्धूम अग्नि आदि हैं, जो उनकी जितेन्द्रियता और ज्ञान के अमृत प्रकाश के प्रतीक हैं। महावीर के जन्म लेने के क्रम में जैन साहित्य में महावीर के गर्भापहरण की घटना का भी उल्लेख है, जिसके अनुसार ब्राह्मण कुण्डग्राम में कोडाल गोत्र का ब्राह्मण ऋषभदत्त के घर देवान्दा की कोख में उत्पन्न हुए, जिन्हें इन्द्र के आदेश से हरिमैगमेष क्षत्रियकुण्डग्राम के सिद्धार्थ की पत्नी त्रिशला के गर्भ में रखा गया।[२] उनके माध्यम से महावीर का जन्म चैत्र शुक्ल त्रयोदशी को ईसापूर्व ५२७ वर्ष पूर्व वैशाली के बासोकुण्ड में हुआ। बुद्ध का जन्म कपिलवस्तु के स्वामी शुद्धोदन और महामाया के माध्यम से धरती पर हुआ। गर्भापहरण तथा दोनों के जन्म लेने की घटनाओं में स्वप्न के अतिरिक्त भी किंचित् साम्य है। महामाया की कुक्षि में हाथी के रूप में बोधिसत्त्व का प्रवेश होता है। महावीर देवानन्दा ब्राह्मणी के गर्भ में आये, पर गर्भापहरण के माध्यम से क्षत्रियाणी त्रिशला के गर्भ से उत्पन्न हुए। इसके पीछे सम्भवतः यह भावना काम करती है कि ब्राह्मण की अपेक्षा क्षत्रियत्व की श्रेष्ठता प्रमाणित की जाय। फिर ब्राह्मण ऋषभदेव से जन्मदातृत्व का सम्बन्ध जोड़कर ब्राह्मणत्व का प्रत्यर्पण भी हो जाता है, जो परम्परा से ज्ञान के स्रोत माने जाते थे। फिर ऋषभनाथ जैनों के आदिनाथ भी तो कहे जाते थे।

जीवन में घटनाओं का साम्य :

महावीर वर्द्धमान और गौतम बुद्ध दोनों ही के जीवन में बाल्यकाल की शिक्षा-दीक्षा को लेकर भी बहुत समानताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। दोनों के ही बाल्यकाल में निमित्त-द्रष्टा ज्योतिषियों ने उन दोनों के महान् प्राज्ञ अथवा चक्रवर्ती राजा होने की भविष्यवाणी की थी। जब कुछ बड़े हुए, तब वर्द्धमान महावीर और सिद्धार्थ (या सर्वार्थसिद्ध) दोनों को विद्याशाला में शिक्षा के लिए भेजा गया। वे दोनों ही गुरु की अपेक्षा कहीं अधिक विभिन्न विद्याओं में पारंगत निकले। इन विलक्षणताओं का उल्लेख जैन और बौद्ध ग्रन्थों में पर्याप्त अतिशयोक्तिपूर्ण शैली में मिलता है। एक जैन स्रोत[३] के अनुसार इन्द्र ने ब्राह्मण-वेश धारण कर बालक वर्द्धमान से प्रश्न पूछे और उनका उत्तर जो मिला, वही 'ऐन्द्र व्याकरण' के रूप में प्रचलित हो गया। 'ललितविस्तर' में तो यह उल्लेख मिलता है कि आचार्य विश्वामित्र ने ब्राह्मी लिपि में गायत्री मन्त्र लिखने के लिए दिया तो उन्होंने चीनी और खस आदि विभिन्न लिपियों में वह मन्त्र लिख दिया।[४]

दोनों ही भावी महापुरुषों का कौमार्य निर्भीकता, वीरता और करुणा-प्रदर्शन की घटनाओं से ओतप्रोत है। सिद्धार्थकुमार के मन में करुणा का भाव बालपन से ही उठता दिखाई देता है। वे देवदत्त द्वारा आहत हंस की प्राणरक्षा के लिए अन्त तक निर्भीकता के साथ संघर्ष करते हैं तो वर्द्धमान महावीर खेल-खेल में विशाल सर्प को वश में कर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लेते हैं। विवाह के पूर्व दोनों के ही जीवन में एक दूसरे से मिलती-जुलती घटनाएँ घटती हैं।[५] महावीर और सिद्धार्थ दोनों के जीवन में वैराग्य के भाव उठते रहे थे, फिर भी माता-पिता का मान रखने के लिए दोनों का विवाह होता है। महावीर की पत्नी का नाम 'यशोदा' है तो सिद्धार्थ कुमार की पत्नी का नाम 'यशोधरा'। दोनों ही कुलीन सामन्त परिवार की थीं। दोनों ही नामों और उनके अर्थों में भी अतिशय समानता है। जैनधर्म के श्वेताम्बर ग्रथों में महावीर-यशोदा के विवाह का उल्लेख तो है, पर दिगम्बर-सम्प्रदाय में महावीर को अविवाहित माना गया है। पद्मपुराण, पउमचरिय आदि जैन ग्रथों में महावीर के महाभिनिष्क्रमण की वेला में उनके लिए 'कुमार' शब्द का प्रयोग किया गया है।[६] 'कुमार' शब्द से यह शंका उठती है कि इन तीर्थंकरों ने कौमार्यकाल में महाभिनिष्क्रमण किया। दिगम्बर-सम्प्रदाय की धारणा है कि महावीर वर्द्धमान ने अविवाहित अवस्था में दीक्षा के लिए गृहत्याग किया, परन्तु बुद्ध के जीवन के प्रभाव की छाया में ही सभवतः श्वेताम्बर-सम्प्रदाय के विद्वानों ने महावीर वर्द्धमान के विवाह की परिकल्पना की और उनकी पत्नी का नाम भी तदनुरूप 'यशोदा' रखा। महावीर के विवाहित या अविवाहित अवस्था में दीक्षा लेने के प्रश्न पर दोनों ही सम्प्रदायों में मतभेद है। मेरी ऐसी धारणा है कि कल्पसूत्र में प्रयुक्त 'भारिया जसोया कोडिण्णा गुत्तेणं' से ही महावीर के विवाहित होने का आधार बनता है। सम्भव है, कुमारावस्था में ही दीक्षा के लिए उन्होंने निष्क्रमण किया हो। सिद्धार्थ कुमार के विवाह के सम्बम्ध में किसी प्रकार की कोई भ्रान्त धारणा नहीं है। जब ज्ञान की तलाश में निकले, तब वे विवाहित थे और उन्होंने महाभिनिष्क्रमण उस दिन किया, जिस दिन उनका पुत्र राहुल उत्पन्न हुआ। जिसे उन्होंने बाद के वर्षों में छह वर्ष की अल्पायु में ही 'धर्म' की शरण में प्रतिष्ठित किया। श्वेताम्बर जैन परम्परा के अनुसार महावीर वर्द्धमान की एक पुत्री प्रियदर्शना थी, जिसके विवाह का भी उल्लेख उनकी बहन के पुत्र जमालि के साथ हुआ है। बाद के वर्षों में प्रियदर्शना ने भी महावीर की प्रधानशिष्या आर्या चन्दना के साथ श्रामण्य जीवन को स्वीकार किया। दोनों ही महापुरुषों की सन्तानों के श्रामण्य को स्वीकार करने में समानता है, वहाँ उनकी पत्नियों के श्रामण्य जीवन के स्वीकार करने के सम्बन्ध में अन्तर है। यशोधरा वैशाली में महाप्रजावती गौतमी के साथ बौद्धधर्म और संघ की शरण में गई, पर महावीर की पत्नी यशोदा के बारे में ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता। इसीलिए इस धारणा को बल मिलता है कि उन्होंने अविवाहित अवस्था में ही महाभिनिष्क्रमण किया हो।

महाभिनिष्क्रमण :

महाभिनिष्क्रमण दोनों ही महापुरुषों के जीवन की अत्यन्त मार्मिक घटना है, किन्तु परम्परानुसार दोनों की इस घटना को लेकर थोड़ा अन्तर तो है ही। महावीर वर्द्धमान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पहले से ही लौकिक जीवन की आसक्तियों के प्रति उदास होते जा रहे थे। इस बीच माता-पिता का देहान्त हो गया, उसने वैराग्य-भाव को ततोऽधिक प्रज्ज्वलित कर दिया। अपने भाई नन्दिवर्धन के अनुरोध को स्वीकार कर दो वर्षों तक घर में रहकर भी अनागार साधु की तरह संयम और साधना के प्रति समर्पित ही रहे और तीस वर्ष की आयु में पूरे उत्साह की लहर में मंगलवाद्यों की ध्वनि के बीच दीक्षा लेने के लिए वे अनागारी हो गये। नन्दिवर्धन ने इसके लिए अनुमति दी, आशीर्वाद देकर विदा किया। तब महावीर वर्द्धमान की आयु तीस वर्ष की थी और सिद्धार्थ कुमार की आयु उनतीस की। राष्ट्र कवि मैथिलीशरण गुप्त ने अपने 'यशोधरा' नामक काव्य में यशोधरा की ओर से यह भाव यों प्रस्तुत किया है :

सिद्धि हेतु स्वामी गये यह गौरव की बात,
पर चोरी-चोरी गये यही बड़ा व्याघात।
सखि, वे मुझसे कह कर जाते। *(यशोधरा)*

परन्तु, बौद्ध स्रोतों के अनुसार सिद्धार्थ कुमार के हृदय में अन्तर्मन्थन चल ही रहा था। उन्होंने अपने पिता से अक्षय यौवन, सदा स्वस्थ शरीर और जीवन के लिए अमृतत्व की याचना की थी। इस याचना को नश्वरशील मनुष्य भला कैसे पूरा करता। शुद्धोदन ने जब इन याचनाओं को पूरा करने में असमर्थता प्रकट की, तब उन्होंने गृह-त्याग कर प्रव्रजित हो जन्म-मरण के बन्धन से मोक्ष की प्राप्ति का आशीर्वाद माँगा। हाँ, उन्होंने अपनी पत्नी को न तो पूर्व-सूचना दी और न अनुमति ही माँगी। जरा, रोग, मृत्यु और अमरता से सम्बद्ध घटनाओं ने सिद्धार्थकुमार के जीवन को बड़ा ही करुण और मर्मस्पर्शी बना दिया है। विशेष कर वह घटना-प्रसंग तो बहुत ही मर्मन्तुद है, जब कुमार अपनी पत्नी यशोधरा के कक्ष के द्वार पर अपने नवजात शिशु के दर्शन के लिए उपस्थित होकर भी पुत्र-मोह की दुर्बलता पर विजय पा सहसा लौट आते हैं और महल छोड़ प्रव्रज्या के लिए पूरे संकल्प के साथ निर्मम हो चल पड़ते है।[७] सिद्धार्थ कुमार के महाभिनिष्क्रमण के ये प्रसंग सदियों तक भारत और एशिया के कलाकारों, मूर्तिकारों और चित्रकारों की सृजनधर्मी चेतना को स्पन्दित करते रहे हैं। इन दृश्यों के तक्षण और अंकन से भारतीय मूर्तिकला, चित्रकला और काव्यकला प्राणवन्त हुआ है।

इसी प्रकार सिद्धार्थकुमार के महाभिनिष्क्रमण के प्रसंग में छन्दक (सारथि) और[८] कन्थक (घोड़ा) के कुमार के विना लौटने पर भी शोक के सैलाब उमड़ने का अद्भुत कारुणिक दृश्य बौद्ध साहित्य में चित्रित हुआ है :

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विलोक्य भूयश्चाकरोत् स्वरं सः हयं भुजाभ्यामुपगुह्य कन्थकम्।
ततो निराशो विलपन्मुहुर्मुहुः ययौ शरीरेण पुरं न चेतसा ॥९॥

छन्दक कन्थक से लिपटकर हताश हो फूट-फूटकर रोने लगता है। अनोमा नदी के तट पर अपने कौशेय वस्त्रों को त्याग, केशों को काटकर कुमार ने प्रवज्या ली। वहीं अटूट संकल्प किया कि कृतार्थ होकर ही लौटूँगा, नहीं तो अग्नि में प्रवेश कर जीवन-लीला को समाप्त कर दूँगा।[१०] अमृत पद की तलाश ही उनके जीवन का लक्ष्य हो गया। महावीर वर्द्धमान की अपेक्षा सिद्धार्थकुमार के जीवन के प्रसंग कहीं अधिक मानवीय संवेदना के संस्पर्श से तरल हैं।

महाभिनिष्क्रमण और कठोर तपस्या :

दोनों ही महापुरुषों के जीवन में महाभिनिष्क्रमण और ज्ञानप्राप्ति की अवधि कठोर तप, ध्यान और समाधि की शिक्षा, योगाभ्यास की साधना अकल्पनीय विघ्न-बाधाओं से भरी एक कठिन जीवन-यात्रा है। यों, कैवल्य-प्राप्ति में महावीर वर्द्धमान को बारह वर्ष लगते हैं। इन वर्षों में अपने श्रेष्ठतर लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए उन्होंने कौन-सा कठोर तप न किया, कौन-सा दुःख और अपमान न सहा! महावीर के लम्बे तपस्या-काल में विघ्न-बाधाएँ तो अनेक आईं, पर उनमें कठपूतना राक्षसी द्वारा ठण्ड से ठिठुरती रात में शरीर को छेदनेवाली शीतल बूँदों की वर्षा, संगमक देव द्वारा इर्ष्यापीड़ित हो महावीर के समक्ष आँधी-तूफान ले आना, अप्सराओं के नृत्य और उनके कोमल अंगों की मोहक भाव-भंगिमाओं के प्रदर्शन द्वारा तपस्या और समाधि में विघ्न उपस्थित करने की निष्फल चेष्टा तथा समाधिमग्न महावीर के कानों में सरकण्डों को ठोंका जाना और वैद्य द्वारा उन्हें प्रयत्नपूर्वक निकालना और महावीर वर्द्धमान का उस असह्य पीड़ा को सहना आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।[११]

महावीर वर्द्धमान और सिद्धार्थकुमार के कैवल्य-ज्ञान और बोधि प्राप्त होने की अवधि में तो अन्तर है। महावीर को बारह वर्षों का समय लगता है और सिद्धार्थकुमार को बुद्ध होने में छह वर्षों का समय। परन्तु तपस्या के क्रम में महावीर वर्द्धमान की भाँति सिद्धार्थकुमार भी उन्हीं भयानक विपत्तियों से अटूट भाव से जूझते हैं। मार ने अपनी पुत्रियों को उनके पास भेजा। नाना प्रकार के उत्तेजक दृश्यों का प्रस्तुत कर उन्हें तपस्या के मार्ग से डिगाने का प्रयास किया है। पर वे तो अपनी तपश्चर्या में अडिग रहे। छः वर्षों तक कठोर तपस्या एक आसन पर की। उनकी हड्डियाँ, पसलियाँ साफ गिनी जातीं। चरवाहे कान और नाक के सुराख से आर-पार तिनके निकाल लेते। तपस्या के क्रम में सिद्धार्थ कुमार ने सुजाता से खीर का आहार ग्रहण किया।[१२] ग्यारहवें चातुर्मास में, संगमक देव महावीर की क्षमाशीलता से पूर्णतः पराभूत हो गया। वे व्रजग्राम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में गये। वहाँ छह महीनों बाद एक वत्सपालक वृद्धा के हाथ से खीर की पारण किया। बारहवें चातुर्मास में वे वैशाली होते हुए कौशाम्बी आये। यहीं पर छह महीने पूरे होने में पाँच दिन शेष रह गये थे। चन्दना के हाथों उबाले हुए कुल्माष से पारण किया। यही चन्दना बाद में चलकर महावीर वर्द्धमान की प्रथम साध्वी हुई।[१३]

कैवल्य और सम्बोधि की प्राप्ति :

कठोर तपस्या और साधना के बाद ही महावीर वर्द्धमान को कैवल्य-ज्ञान प्राप्त हुआ और सिद्धार्थ को अमृत-पद का ज्ञान। दोनों ने अपने अमृत-तत्त्व का ज्ञान तत्काल प्रकाशित नहीं किया। कैवल्य-ज्ञान की प्राप्ति वैशाख शुक्ल दशमी, रविवार को हुई और उसका प्रकाशन छियासठ दिनों बाद आषाढ़ पूर्णिमा को हुआ, जब इन्द्रभूति, वायुभूति और अग्निभूति जैसे विद्वान् ज्ञानपिपासु अल्पेच्छु उसके लिए प्रस्तुत हो सके। ये तीनों ही चौदह पारम्परिक विद्याओं में पारंगत थे। तीनों ही भाई थे। इनके अतिरिक्त अन्य आठ विद्वान् अव्यक्त, सुधर्मा, अचल, भ्राता, प्रभास आदि को पावापुरी-राजगृह के मध्य कहीं हुआ। महावीर वर्द्धमान ने ज्ञान की जिन उदात्त किरणों का आलोक-दान किया, वे मनुष्य ही नहीं, प्राणिमात्र के हित और जन्म-मरण के दुःखदायक बन्धन से मोक्ष के लिए था। उन्होंने जीव की नित्यता, अनन्तता, जीव और देह की भिन्नता और कर्म की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए उन ग्यारह शिष्यों की शंकाओं का समाधान किया। इन्हीं उज्ज्वल चिन्तन-बिन्दुओं के अन्तर्गत स्याद्वाद, अनेकान्तवाद, परमाणुवाद जैसी गहन विचार-सरणि का प्रवर्तन हुआ, जो आज भी जैनधर्म की महत्ता और प्रतिष्ठा के आलोकस्तम्भ हैं।

तपस्या के पश्चात् सिद्धार्थकुमार ने ज्ञान प्राप्त किया प्रतीत्यसमुत्पाद का, मध्यम मार्ग के चिन्तन का—वीणा के तारों को इतना न ऐंठो कि वह टूट जाय और न इतना शिथिल करो कि उसके तारों से आनन्दोल्लसित करनेवाला स्वर का नाद ही न उद्भूत हो। जीवन के सुखों में एक दम डूबे न रहो और न सुख का नितान्त त्याग कर जीवन को दुःखमय ही बनाओ। भोग और त्याग, संयम और राग के दो कुलों के बीच से मानव जीवन-धारा विकसित होती है। जीवन दुःखमय है, दुःख के कारण हैं, उन दुःखों पर विजय पाने के उपाय भी हैं। आर्य अष्टांगिक मार्ग के अनुसरण करने से ही वह दुर्लभ ज्ञान प्राप्त होता है। जैन और बौद्ध दोनों ही धर्म-परम्पराओं में ब्रह्मचर्य पर बहुत बल दिया गया है।

गौतम बुद्ध ने भी ज्ञान प्राप्त कर तुरन्त ही ज्ञानोपदेश नहीं किया। सात सप्ताह तक अचल समाधि पुनः ली। तब वे ऋषियों की भूमि सारनाथ आये। वही, 'धर्मचक्र प्रवर्तन' के नाम से विख्यात हुआ। दोनों के ही ज्ञानोपदेश की घटनाओं के सन्दर्भ में अद्भुत साम्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दृष्टिगोचर होता है। यदि इन्द्रभूति, अग्निभूति और वायुभूति आदि महावीर के आदि गणधर शिष्य ब्राह्मण-परम्परा में पारंगत हैं, तो बुद्ध के गया काश्यप, जटिल काश्यप और उरुवेल काश्यप भी शिष्यों की उसी प्रकार ब्राह्मण-विद्या में पारंगत हैं। वे भी बुद्ध के प्रभाव में आकर हजारों मण्डली के साथ बौद्धधर्म की शरण में प्रतिष्ठित होते हैं। इन विद्वानों द्वारा बौद्धधर्म की दीक्षा लेने के बाद समस्त मगध-साम्राज्य में बौद्धधर्म के अनुकूल परिवेश तैयार हो जाता है। महावीर वर्द्धमान के एकादश गणधरों की भाँति धर्मचक्र प्रवर्तन के बाद बुद्ध की प्रमुख शिष्य मण्डली प्रभावशाली रूप में उभरती दिखाई देती है, उनकी संख्या भी ग्यारह ही है। *पाँच* भद्रवर्गीय भिक्षुओं के अतिरिक्त *तीन* कश्यप-बन्धु *दो* युगल मित्र—सारिपुत्त-मौद्गल्यायन और एक महाकश्यप = कुल ग्यारह होते हैं।

धर्मप्रचार के समान क्षेत्र :

दोनों ही महापुरुषों की तपस्या और ज्ञान-प्राप्ति के बाद धर्मप्रचार के क्षेत्र भी लगभग एक ही है। वैशाली, राजगृह, नालन्दा, पावापुरी, श्रावस्ती, कौशाम्बी, काशी, चम्पा, उज्जैन, मिथिला, पूर्वी उत्तरप्रदेश के बहुत से छोटे-बड़े नगरों में दोनों ही महापुरुष जाते हैं। गौतम बुद्ध का तपस्या-काल छह वर्षों का था, और इस अल्प अवधि में उनकी यात्रा मुख्य रूप से वैशाली और मगध के बीच हुई। महावीर को कैवल्य-ज्ञानप्राप्ति में बारह वर्ष लगे, स्वभावतः उनकी तपस्या की अवधि और समय कहीं दूर तक फैला लगता है। गौतम बुद्ध की अपेक्षा महावीर की तपस्या कहीं कठोर और दीर्घकालव्यापी रही है। उन्होंने बारह वर्षों की लम्बी तपस्या के क्रम में केवल ३५० दिन पारण किया और शेष दिनों में निर्जल उपवास किया। निर्जल उपवास के दिनों की संख्या चार हजार तेईस दिनों की होती है। अन्तर का अटूट संकल्प ही इस निष्ठावान् पुरुष को जीवित रख सका।

निर्वाण :

गौतम बुद्ध ने कुल पैंतालीस वर्ष धर्मोपदेश किया, जिसमें स्थायी रूप से पचीस वर्ष श्रावस्ती में रहे। उनका निर्वाण कुशीनगर में अस्सी वर्ष की ढलती आयु में हुआ। उनका मन थका न था, पर शरीर जराजीर्ण होकर झुर्रियों भरा था। सम्भव है, वे लाठी का सहारा ले वैशाली से कुशीनगर गये हों। बुढ़ापा तो आ चुका था। अतिसार रोग से भी इस लम्बी यात्रा में इतना परेशान हुए कि कुशीनगर के मल्लों के शालवन में अपनी इहलीला पूरी करते हुए उन्होंने एक ही उपदेश दिया—भिक्षुओं ! प्रमाद-रहित हो अपने कर्त्तव्य का सम्पादन करो।

वर्द्धमान महावीर कुल ३२ वर्ष धर्मोपदेश कर सके। जहाँ उन्होंने ज्ञान प्राप्त किया, उसी के निकटवर्ती पावापुरी में ५२७ ईसापूर्व में बहत्तर वर्ष की आयु में उनका परिनिर्वाण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दीपावली के दिन हुआ। मगध के इस क्षेत्र में उनके ग्यारहों गणधर थे। गणधरों में इन्द्रभूति और श्राविकाओं में आर्या चन्दना प्रमुख थी। ये सभी गणधर वर्द्धमान महावीर की शरण में आने से पूर्व वेदविद्, यज्ञवादी राजमान्य ब्राह्मण थे। उनके श्रोताओं में मगधराज श्रेणिक बिम्बिसार प्रमुख थे। यद्यपि बौद्ध साहित्य के स्रोतों के अनुसार बिम्बिसार और उसका पुत्र, अजातशत्रु भी उनके विनम्र श्रावकों में थे।

आचरण और चिन्तन की समानभूमि :

दोनों ही महापुरुषों के चिन्तन और आचरण पर युग की परिस्थितियों का प्रभाव पड़ा। वैदिक चिन्तन में जड़ता और स्थूल सुखोपभोगों के प्रति चिन्तन गहरी आसक्ति आ गई थी, जिसके विरुद्ध कई अवैदिक मतों का प्रचार हो रहा था, जिनमें अक्रियावादी पूर्ण कश्यप, अणुवादी पकुध कच्चायन, आजीवक सम्प्रदाय के मक्खलि गोशाल आदि मुख्य थे। इन आचार्यों ने वेदों की प्रामाणिकता पर प्रहार किया। महावीर और बुद्धपूर्व भारत में यज्ञ की परम्परा बहुत समृद्ध हुई और अनेक अवसरों पर यज्ञों में बलि दी जाने लगी थी। समाज क्रूरता और शोषण का शिकार हो रहा था। उन्हें पशुबलि के आधार पर स्वर्ग का मानों टिकट दिया जाने लगा। पूरा समाज तब हिंसा और शोषण का शिकार हो रहा था। मक्खलि गोशाल तथा अन्य अनेक धर्मप्रचारकों ने इन झूठे आडम्बरों और शोषण का विरोध किया ही था। पर इन दोनों महापुरुषों ने चिन्तन और तदनुरूप आचरण के क्षेत्र में आदर्श प्रस्तुत किया। इसका आधार मुख्य रूप से अहिंसा था। जब उन्हें यह बताया गया कि वेदों में हिंसा विहित है, तब ऐसी हिंसावृत्ति का प्रतिपादन करनेवाले वेदों को इन महापुरुषों नें प्रामाणिक मानने से भी इनकार कर दिया।

दोनों ही महापुरुषों की कर्मभूमि, सामाजिक और धार्मिक परिवेश और उपदेश के तात्त्विक चिन्तन में बहुत कुछ समानता है। यह बात अलग है कि जैनधर्म की परम्परा सदियों पहले से भारतीय समाज में चली आ रही थी और बौद्धधर्म का प्रवर्तन गौतम बुद्ध ने स्वयं किया था। जैनों और बौद्धों ने समानरूप से जितेन्द्रियता या ब्रह्मचर्य-पालन पर बल दिया था। इस दृष्टि से दो बातों पर हमारा ध्यान जाता है कि महावीर और बुद्धपूर्व भारत में यदि तथाकथित यज्ञों में स्वर्गोपभोग की कामना से बलिप्रथा प्रचलित थी तो समानान्तर रूप में इन स्थूल भौतिक उपलब्धियों के खिलाफ उपनिषद् की सुदीर्घ और चिन्तन-समृद्ध परम्परा भी मिलती है, जिनमें 'प्रेय' जीवन की तुलना में 'श्रेय' जीवन को श्रेष्ठतर माना गया है। कठोपनिषद् में 'नाचिकेता' और 'यम' के संवादों में इस परम सत्य का, अमृत तत्त्व का प्रकाश हुआ है।[१४] आत्मविद्या, ब्रह्मज्ञान, सत्य, आत्मप्रसार जैसे उदात्त चिन्तन का व्याख्यान कालातीत और विश्वव्यापी है। उपनिषदों के अक्षर-अक्षर में उसी अक्षर ब्रह्म का प्रतिपादन है। इन उपनिषदों में मनुष्य की आन्तरिक शक्ति के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाश पर बल दिया गया है। वे इसी अर्थ में अमृत-पुत्र माने गये हैं। उपनिषदों का लक्ष्य है मनुष्य की पशु-प्रवृत्तियों का शमन कर उसके अन्तर में निहित ईश्वरीय शक्तियों का विकास। उपनिषदों में इस नैतिकता का तर्कसंगत आधार प्रस्तुत किया गया है कि हम दूसरों की भलाई क्यों करें। क्योंकि हम सब एक हैं। दूसरों की सहायता कर अपनी ही सहायता करते हैं और दूसरों पर आघात कर खुद को चोट पहुँचाते हैं। ईशोपनिषद् का यह चिन्तन कि जो सभी प्राणियों को अपनी आत्मा में महसूस करता है, सब प्राणियों में अपने-आपको देखता है, वह चरम स्थिति को प्राप्त कर लेता है। एकता की इस अनुभूति से उसके कोई मोह और शोक नहीं रह जाता।[१६] नश्वरशील जीवन का सच्चा आनन्द अक्षर ब्रह्म में ही है (नाल्पे सुखमस्ति भूमा वै सुखम्) । इसका एक कण भी प्राणियों के लिए अमृत-तुल्य है। उपनिषदों ने आत्मज्ञान पर बल दिया। इस ज्ञान को वे अमृत का सेतु मानते हैं। उसका साधन वे ब्रह्मचर्य और तप को मानते हैं (ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत)।

दोनों ही महापुरुषों के चिन्तन का सर्वोपरि लक्ष्य है कैवल्य अथवा बोध। पारम्परिक शैली में उस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए ब्रह्मचर्य पालन पर बल दिया गया है। 'ब्रह्मचर्य' बहुत ही व्यापक शब्द है, यह जितेन्द्रियता अथवा 'जिन' का पर्याय है। इन्द्रियों की, मन की तमाम तृष्णाओं पर विजय पाने पर आत्मप्रकाश दीप्त होकर 'अक्षर' 'परब्रह्म' का पूर्ण प्रकाश होता है। गीता में इसी उत्तमोत्तम अवस्था का उल्लेख हुआ है :

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥[१७]

निष्पाप ऋषि सब प्राणियों के हित में समर्पित हो, द्वैतता को विलीन कर ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करते हैं। यह 'निर्वाण' शब्द भारतीय तत्त्वविद्या, जैन और बौद्ध साहित्य में बहुत ही लोकप्रिय है। निर्वाण का अर्थ होता है तृष्णाओं का शमन या बुझना, यही मनुष्यत्व का चरम लक्ष्य होता है। महावीर और बुद्ध दोनों की ही वाणियों में निर्वाण को परम पद का, मोक्ष का पर्याय माना गया है :

निब्बाणं ति अवाहंति, सिद्धी लोगग्गमेव य।
खमे सिवं अणावाहं जं चरंति महेसिनो॥[१८]

(उस स्थान के निर्वाण, अबाध, सिद्धि, लोकाग्र, क्षेम, शिव अनाबाध आदि अनेक नाम हैं। वहाँ महर्षिगण ही विचरण कर सकते हैं)।

यह सब सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य के बिना सम्भव नहीं है। इन तीनों के विना मोक्ष नहीं, कर्म-बन्धन से मुक्ति के विना निर्वाण की प्राप्ति होती ही नहीं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नादंसणिस्सं नाणं नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स णत्थि मोक्खो, णत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं।[१९]

तथागत ने महावीर की भाँति अपने उपदेशों में इस बात पर बार-बार बल दिया है कि निष्काम जीवन बिताकर ही मानव जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य 'निर्वाण' को प्राप्त कर सकता है :

एतमत्थवसं ञत्वा पंडितो सीलसंवुतो।
निब्बाणा-गमनं मग्गं खिप्पमेव विसोधये॥[२०]

उच्छिन्द सिनेहमत्तनो, कुमुदं सारदिकं व पाणिना।
सन्तिमग्गमेव ब्रूहय, निव्वाणं सुगनेनदेसितम्॥[२१]

निर्वाण को चरम लक्ष्य दोनों ही धर्म-मार्गों का है। उसकी अवधारणा में तो समानता है ही। उसके साधनों—सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य से ही निर्वाण या मोक्ष जैनदृष्टि से सम्भव है। उसी प्रकार बौद्ध चिन्तन में आर्य अष्टांगिक मार्ग—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव (शील), सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि। वहाँ साधन चार हैं तो यहाँ आठ। इन्हीं आठों के माध्यम से दुःख-निरोध या निर्वाण-पद मनुष्य प्राप्त करता है। यह उल्लेखनीय है कि 'दृष्टि' शब्द ज्ञानवाचक है। मनुष्य को जब कुशल (अहिंसा, अचौर, अव्यभिचार, अमृषावचन, अपिशुनवचन, अपुरुषवचन, असम्प्रलाप) और अकुशल (हिंसा, चोरी, व्यभिचार, झूठ, चुगलखोरी, कठोरवचन, सम्प्रलाप) कर्मों का ज्ञान हो जाता है, कुशल कर्मों के सम्पादन का प्रबल संकल्प दृढ़तर होता जाता है। उत्तरोत्तर सिद्धिगामी सीढ़ियों से गुजरता हुआ साधक निर्वाण-पद प्राप्त करता है। इसीलिए धर्मपद में कहा गया है—मार्गों में अष्टांगिक श्रेष्ठ है, लोक के सत्यों में चार आर्य सत्य श्रेष्ठ हैं :

मग्गानट्ठंगिको सेट्ठो सच्चानं चतुरो पदा।[२२]

बौद्ध चिन्तन की गहनता का सार धर्मपद के इन तीन अमृत उपदेशों में सम्पुटित है :

सब्बपापस्स अकरणं कुसलस्स उपसंपदा।
सचित्तपरियोदपनं एतं बुद्धस्स शासनम्॥[२३]

सब पापों को न करना, कुशल कर्मों का उपसम्पादन और चित्त की शुद्धि, बुद्ध का यही शासन है।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विचारों की भाषा और अभिव्यक्ति :

महावीर वर्द्धमान और गौतम बुद्ध के निर्वाण-सम्बन्धी चिन्तन में ही समानता के दर्शन नहीं होते, अपितु उस युग के विचार और कर्मभूमि को बहुत सारे प्रश्न प्रभावित कर रहे थे, उनके प्रति समाधान की दृष्टि में साम्य ही नहीं, तादात्म्य भी बड़ी गहराई तक दिखाई देता है। यहाँतक कि उन विचारों की भाषा और उनकी अभिव्यक्ति-प्रणाली में अद्भुत एकात्मता दिखाई देती है। पण्डित कौन है? ब्राह्मण कौन है? मूर्ख कौन है? देहानित्यत्व क्या है? तुला क्या है? संयम क्या है? अहिंसा क्या है? विजेता कौन है? आदि विचार-बिन्दुओं के सन्दर्भ जो समाधान प्रस्तुत किये गये हैं, उनमें कितना स्पष्ट साम्य है। बस एक की भाषा प्राकृत है, तो दूसरे की पाली। यह तो दोनों ही धर्म-प्रवर्तकों की स्पष्ट मान्यता थी, उनके उपदेश उस समय प्रचलित शिष्ट भाषा संस्कृत में न हो, अपितु लोकभाषा में हो। लोकभाषा का रूप स्थानभेद और कालभेद से बदलता रहता है। दोनों के कर्मक्षेत्र भी प्रायः एक-से रहे हैं, इस लिए दोनों के उपदेशों की भाषाएँ लोकभाषाएँ हैं, जो एक दूसरे की पार्श्ववर्ती हैं। यहाँ यह उल्लेख करना सर्वथा उचित होगा कि महावीर और बुद्ध की वाणियों की जो भाषा हमें उपलब्ध है, वह उसका लोकप्रचलित प्रकृत रूप तो कदापि नहीं है, उन लोकभाषाओं का मागधी और अर्धमागधी का परिष्कृत साहित्यिक रूप है, जिनका सम्पादन-संकलन मूल उपदेशों के प्रवर्तन के सदियों बाद हुआ।

श्रमण और समण :

श्रमण और समण ये शब्द दोनों ही धर्मों में बहुत प्रचलित हैं। उन शब्दों का आन्तर रस है—जो काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दुर्दमनीय वृत्तियों का, तृष्णा का शमन कर ले, वह श्रमण या शमन होता है। इस सन्दर्भ में दोनों ने ही समान भाव से विचार प्रकट किये हैं कि अक्रोध से क्रोध को जीते, सत्य से असत्य को जीते, असाधुता को साधुता से जीते, कृपणता को दानशीलता से जीते :

उवसमेण हने कोहं मानं मद्दवया जिने।
मामनज्जवभावेण लोभं सतोषओ जिने॥[२४]

साधक शान्ति से क्रोध का हनन करे, विनम्रता से मान को जीते, सरलता से मान का नाश करे और लोभ पर संतोष से विजय प्राप्त करे।

इससे एकदम मिलती-जुलती भावना बुद्धवाणी में यों प्रस्फुटित हुई है :

अक्कोधेन जिने क्रोधं असाधुं साधुना जिने।
जिने कदरियं दानेन, सच्चेन अलीकवादिनं॥[२५]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बुद्ध ने तो उसे ही 'सारथि' बताया, जो चढ़े हुए क्रोध के आवेग को भ्रान्त रथ के वेग की भाँति रोक लेता है। अन्य लोग तो लगाम पकड़नेवाले भर होते हैं :

यो वे उप्पतितं कोधं रथं भन्तं व धारये।
तमहं सारथिं बूमि, रस्मिग्गाहो इतरो जनो॥[२६]

इन विचारों से गीता के इस कथन का अद्भुत साम्य है :

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात्।
कामक्राधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥[२७]

काम-क्रोध से उत्पन्न वेग को जो सह सके, वही युक्त और सुखी मनुष्य है। दोनों के ही उपदेशों में मनुष्य की मूर्खता का बड़ा ही प्रभावोत्पादक वर्णन मिलता है। मूर्ख प्रतिमास कुश के नोक से भोजन करे, तोभी वह धर्मज्ञ के सोलहवें अंश जितना भी धर्म का भागी नहीं होता :

मासे मासे तु जो बाले, कुसग्गेणं तु भुंजए।
न सो सुयक्खाय धम्मस्स, कलं अग्घई सोलसि॥[२८]

तुलनीयः

मासे मासे कुसग्गेन बालो भुंजेनं भोजनं।
न सो संखतधम्मानं कलं अग्घति सोलसिं॥[२९]

दोनों ही महापुरुषों की ज्ञानप्राप्ति के लिए समर्पित भिक्षु की अवधारणा में अद्भुत साम्य है :

हत्थसञ्ञतो, पादसञ्ञतो वाचाय सञ्ञतो, सञ्ञतुत्तमो।
अज्झत्तरतो समाहितो, एको संतुसितो तमाहु भिक्खुं॥[३०]

तुलनीय :

हत्थ संजए पाय संजए, वायसंजए संज इंदिए।
अज्झपरये सुसमाहि अप्पा, सुत्तत्थं च वियाणइ जे स भिक्खु॥[३१]

जो हाथ, पाँव, वाणी तथा अन्य इन्द्रियों में संयत है, अध्यात्मरत, समाहित और सन्तुष्ट है, वह भिक्षु होता है। दोनों के चिन्तन में अद्भुत साम्य ही नहीं, भाषा और भाव की दृष्टि से भी दोनों एक हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधना-मार्गों में अप्रमत्तता का महत्त्व :

साधनारत जीवन के लिए दोनों ने ही अप्रमाद को अमृतपद का पर्याय माना है। अप्रमाद अथवा जागरूकता को लक्ष्य कर महावीर ने अनेक प्रेरक पदों में साधक को प्रमादमुक्त, अप्रमत्त होकर ही विचरण करने का उपदेश दिया है। तभी विवेक शीघ्रता से प्राप्त होता है। अतः आत्मानुरक्षी साधक लौकिक कामोपभोग त्याग मोक्षमार्ग पर चले :

रिवप्पं न सक्के विवेगमेउं, तम्हा समुट्ठाय पहाय कामे।
समिच्च लोयं समया महेसो, आयाणु रक्खी चरेप्पमत्तो॥
समयं गोयेम! मा पमाअए।[३२]

ठीक इसी शैली में तथागत ने कहा—न प्रमाद में लगे रहो, न कामासक्ति का ही गुणगान करो। प्रमादरहित ध्यान में लगा पुरुष निर्वाण का विपुल सुख पाता है :

मा पमादमनुयुञ्जथ मा कामरति-संभवं।
अप्पमत्तो हि झायंतो पप्पोति विपुलं सुखं॥[३३]

वस्तुतः, जिन दोषों को त्यागकर मनुष्य निर्वाण या कैवल्य के अमृत पद को प्राप्त कर सकता है, उसके सम्बन्ध में दोनों के चिन्तन में विलक्षण साम्य है। दोनों ने ही अकुशल कर्मों हिंसा, असत्य भाषण, प्रमाद, स्तेय, परिग्रह, तृष्णा आदि का कठोर निषेध किया है, तो अहिंसा, सत्य, सद्वचन, अप्रमाद, अस्तेय, अपरिग्रह और तृष्णाक्षय पर अपने उपदेश-वचनों में बल दिया है। चूँकि दोनों ही समकालीन थे। दोनों को एक-सी धार्मिक सामाजिक समस्याएँ, रूढ़ परम्पराओं की इस्पाती दीवारें चुनौती दे रही थीं। इसलिए उनके समाधान की दृष्टि में, जीवन-दृष्टि में, सोच-समझ में, कार्यशैली में साम्य ही नहीं, एकरूपता भी है।

निर्वाण क्या है ?

हाँ, दोनों महापुरुषों के चिन्तन में थोड़ी भिन्नता भी है। बुद्ध जीवन-जगत् को अनित्य और दुःखमय मानने के साथ ही आत्मा के अस्तित्व को नहीं स्वीकारते, परमात्मा या परब्रह्म को मानने का प्रश्न ही यहाँ नहीं हैं। वह तो अव्याकृत है। हाँ, उनका परमोच्च लक्ष्य है निर्वाण-प्राप्ति। वह आत्मा के परमात्मा से मिलन की परिकल्पना से सर्वथा भिन्न है। उसे वह मुक्ति नहीं मानते। अश्वघोष ने निर्वाण की अवधारणा को खूब ही स्पष्ट किया है—बुझा हुआ दीपक न धरती में जाता है न आकाश में उड़ जाता है दिशाओं में भी नहीं जाता वह, केवल तेल के न रहने से शान्ति पा जाता है, वैसे ही निर्वाण (वीतरागता) प्राप्त पुण्यात्मा धरती, आकाश और दिशाओं में नहीं समाता, क्लेशों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के क्षय से शान्ति पा जाता है। यह शान्ति या वीतरागता निर्वाण ही नहीं, उससे भी कहीं उच्च है। उन्होंने घोषित किया कि केवल अपने को मुक्त करने से क्या, यदि सब प्राणियों को दुःखजाल से मुक्त नहीं किया :

किं मे एकेन तिण्णेन पुरिसेन धम्मदसिना।
सव्वञ्ञुतं पापुणित्वा सांतारेस्सं सदेवकं॥[३५]

प्रारम्भिक बौद्ध चिन्तन नितान्त आडम्बरहीन था। बुद्ध ने अपने समय में विभाजित समाज को, जातिगत भेद को खण्डित कर सबको एकसूत्र में बाँधना चाहा। धर्म की साधना का अधिकार उन्होंने मनुष्य-मात्र को दिया। जातिगत विभाजक व्यवस्था के खिलाफ विद्रोह किया और सबसे बड़ी बात यह कि मैत्री और करुणादृष्टि के प्रसार पर बल दिया। यही कारण है कि अगली कुछ सदियों में ही, ईसामसीह के प्रादुर्भाव से पहले ही विश्वधर्म के पद पर प्रतिष्ठित हो गया बौद्धधर्म।

महावीर-प्रवर्तित जैनधर्म का परमोच्च लक्ष्य है कैवल्य-ज्ञान की प्राप्ति। वह कैवल्य पद या मोक्ष सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र की सतत साधना से ही सम्भव है।[३६] जैन चिन्तन में भी बौद्धधर्म की भाँति सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, कर्मविभाजन और आचरण की पवित्रता से मोक्षप्राप्ति की अवधारणा पर विशेष बल दिया गया है। गौतम बुद्ध ने अपने उपदेशों में जिन कुछ जटिल प्रश्नों को 'अव्याकृतानि' कहकर उपेक्षा की थी, महावीर वर्द्धमान ने उन जटिल प्रश्नों का समाधान बहुत ही तर्कसंगत ढंग से प्रस्तुत किया है। बौद्ध चिन्तन में जहाँ 'अनात्म' पर बहुत बल डाला गया है, वहाँ जैन चिन्तन में 'आत्मा' के अस्तित्व, उसकी अनन्तता और पुनर्जन्म का प्रतिपादन किया गया है। आत्मवादप्रधान जैन चिन्तन में कोई भी वस्तु न तो सर्वथा नित्य है और न अनित्य ही। संसार की समस्त वस्तुओं का निर्माण परमाणुओं के संगठन से होता है। परमाणुपुंज को 'स्कन्ध' कहते हैं। ये सादि, अनादि, अनन्त, नित्य, मूर्त और अमूर्त भी होते हैं। पृथ्वी, जल, तेज आदि सभी द्रव्य इन्हीं परमाणुओं के संघात हैं। इन परमाणुओं को जीवन में सक्रिय और नित्य परिवर्तनशील देखकर ही मनुष्य के अन्तर में जन्म-मरण के बन्धन से मुक्ति पाने की प्रेरणा जगती है। तभी वह जीव या आत्मा संवर (ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के संयम) द्वारा कर्मपरमाणुओं से मुक्त और निर्लिप्त हो, तृष्णाओं के बन्धन को छिन्न-भिन्न कर मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

जैन और औपनिषदिक चिन्तन :

जैन चिन्तन जीवात्मा के अस्तित्व और पुनर्जन्म का प्रतिपादन कर उपनिषद् की आत्मविद्या से जुड़ा हुआ है, वहीं सृष्टि का कर्ता ईश्वर को न मानकर 'प्राकृतिक तत्त्वों में विद्यमान परमाणुओं के सुनिश्चित नियमों के अनुसार सृष्टि-रचना होने के तथ्य का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रतिपादन करता है और इस प्रकार वह एक ओर सांख्य, बौद्ध और वैशेषिक दर्शन की गहन चिन्तन-रेखाओं से जुड़ा हुआ मालूम पड़ता है। परमाणुओं के सन्धान से भौतिक जगत् का सृजन यह चिन्तन आधुनिक वैज्ञानिक विचारधारा से भी बहुत कुछ मिलता जुलता है।

अनेकान्तवाद: स्याद्वाद:

'स्याद्वाद' जैन चिन्तन का मेरुदण्ड है। कोई भी वस्तु या व्यक्ति का स्वरूप या चरित्र-निर्धारण किसी एक को लेकर एकान्ततः नहीं होता, वह किसी अन्य की अपेक्षा से होता है। संसार की कोई भी वस्तु न तो नितान्त नित्य होती है और न नितान्त अनित्य ही। जिस तरह वेदान्त में 'ब्रह्म' की सत्यता और जगत् के मिथ्यात्व का प्रतिपादन वैचारिक जगत् में एक मौलिक देन है, वैसे ही स्याद्वाद या अनेकान्तवाद जैन चिन्तन की अत्यन्त गहन निष्पत्ति और महान् उपलब्धि है। जैन दार्शनिकों के अनुसार छोटे-से दीपक से विराट् आकाश तक का विश्लेषण स्याद्वाद-चिन्तन के अनुसार हो सकता है। स्याद्वाद की सप्तभंगी विवेचन-शैली से संसार की विविध नाम-रूप-गुणधर्मी वस्तुओं का ज्ञान होता है। आज के सापेक्षवाद के सहारे आधुनिक वैज्ञानिक भौतिक जगत् का वैज्ञानिक विश्लेषण करते हैं, परन्तु जैन दर्शन के स्याद्वाद के द्वारा तो पुद्गल (नश्वर जगत्) से आत्मा तक सबका समान रूप से तर्कसंगत विवेचन सम्भव है। आज का सापेक्षवाद केवल भौतिक जगत् का विश्लेषण करता है, वहाँ यह अध्यात्मजगत् का भी विवेचन करने की स्थिति में है। इसका क्षेत्र कहीं व्यापक है।

प्रतीत्यसमुत्पाद : शून्यवाद :

इस सन्दर्भ में हमारा ध्यान 'प्रतीत्यसमुत्पाद' से विकसित प्रसिद्ध बौद्ध चिन्तन 'शून्यवाद' की ओर जाता है। वह मेरी दृष्टि में जैन चिन्तन के मेरुदण्ड स्याद्वाद या अनेकान्तवाद के बहुत कुछ समानान्तर है। इस चिन्तन के प्रवर्तक द्वितीय शताब्दी के महान् बौद्ध विचारक नागार्जुन हैं। उन्होंने प्रतीत्यसमुत्पाद को ही 'शून्यवाद' कहा है।[३७] शून्यवाद के लिए दो और नामों का उन्होंने प्रयोग किया है : 'उपादाय-प्रज्ञप्ति' और 'मध्यमा प्रतिपद्'। इसके अनुसार कोई वस्तु अकेले नहीं हुआ करती। रथ एक प्रज्ञप्ति है, पर यह अकेला नहीं वह पहिया, उसके समूचे ढाँचे, बल्ली, रस्सी, जुआ आदि उपादानों को लेकर ही सम्पन्न हो पाता है। इसी प्रज्ञप्ति का विवेचन 'ललितविस्तर' में बीज और अंकुर के माध्यम से भी किया गया है। बीज होने पर अंकुर होता है, पर बीज ही अंकुर नहीं है और बीज से पृथक् अथवा उससे कुछ भिन्न कुछ और वस्तु भी अंकुर नहीं है। अतः बीज नित्य नहीं, पर वह अनित्य भी नहीं; क्योंकि अंकुर बीज का परिवर्तित रूप है।[३८] इस उदाहरण से इस सिद्धान्त की पुष्टि होती है कि प्रत्येक वस्तु के उत्पन्न होने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का कारण होता है। कारण से उत्पन्न कार्य न तो कारण से भिन्न होता है, न अभिन्न ही। अतः कोई भी वस्तु न तो शाश्वत है और न उसका नितान्त उच्छेद ही होता है। बौद्ध चिन्तनधारा का मूल स्रोत है अशाश्वतानुच्छेदवाद। कार्य के मूल में कारण तो रहता ही है, पर कार्य तो कारण का परिवर्तित रूप है। कोई भी कर्म कर्ता की अपेक्षा से और अन्य अनुकूल परिस्थितियों के सहयोग से सम्पन्न होता है। कर्म के लिए वैसे कर्ता की अपेक्षा होती है। कर्ता को भी कर्म की अपेक्षा होती है। दोनों को बिना सापेक्ष माने सिद्धि सम्भव नहीं है। नागार्जुन-सापेक्षता, सकारणता और परिवर्तन का अटूट नियम ही प्रतीत्य की समुत्पाद है। शून्यता कोई दृष्टि नहीं, अपितु कसौटी है, जिसपर विभिन्न दृष्टिकोणों का मूल्यांकन किया जाता है। वस्तुतः शून्यता एक प्रकार का तराजू है, जिस पर विभिन्न विचारों की सत्यता को हम तौलते हैं, परखते हैं। शून्यता के सहारे ही हम इस तथ्य को हृदयंगम कर सकते हैं कि प्रत्येक वस्तु या घटना के मूल में कोई निश्चित कारण होता है। कोई भी वस्तु आदिकाल से ही उत्पन्न होकर नहीं आता है, अपितु विभिन्न परिस्थितियों से उसका निर्माण होता है। संसार में निरन्तर परिवर्तन हो रहा है, जैसे दीये की लौ में। जगत् के पाँचों स्कन्ध दीये की लौ की तरह प्रतिक्षण बदल रहे हैं। विचार कर गहराई से देखें तो न कोई अन्त है, न कहीं आरम्भ, जैसे वृत्त आकार बिन्दुओं से बनता है, प्रत्येक बिन्दु अपने अगलेवाले की अपेक्षा सान्त है और पिछलेवाले की अपेक्षा अनन्त। उसी तरह परिवर्तन का यह चक्र एक दूसरे की अपेक्षा से सान्त भी है और अनन्त भी है।[३९] प्रतीत्यसमुत्पाद रूपी शून्यवाद के सहारे ही चार आर्य सत्यों की प्रतिष्ठा सम्भव है। प्रत्येक पदार्थ प्रतीत्यसमुत्पाद होने के कारण सापेक्ष सत् है, निरपेक्ष नहीं। निरपेक्ष सत्ता न मानने का नाम ही शून्यवाद है। इसीलिए यह स्याद्वाद या अनेकान्तवाद का समानान्तर है। प्रतीत्यसमुत्पाद या शून्यता के सिद्धान्त के सहारे जीवन और जगत् को समझा जा सकता है, इससे सत्य की सर्वोच्च लक्ष्य की प्राप्ति सम्भव है। वही निर्वाण की स्थिति है।

समाहार :

जैनचिन्तन में अनेकान्तवाद भी इसी प्रकार का सर्वथा तात्त्विक विचारदर्शन है। दर्शन का उद्देश्य है वस्तु का यथार्थ बोध। इसी बोध के द्वारा मनुष्य को मुक्ति या कैवल्य-पद प्राप्त होता है। महावीर वर्द्धमान द्वारा प्रतिपादित दर्शन और धर्म में बोध की गरिमा के मूल्यांकन का प्रतिमान (कसौटी) है अनेकान्तवाद। जैन दार्शनिकों के अनुसार अहिंसा धर्म और अनेकान्त जीवन-जगत् के प्रति चरम सत्य दृष्टि। सत्य के प्रति समर्पित दृष्टि ही ज्ञान है। ज्ञान तभी सार्थक है, जब वह अज्ञान को दूर कर प्रकाश की ओर मनुष्य को अग्रसर करे। सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन द्वारा ही सम्यक् चारित्र्य से मनुष्य सम्पन्न हो पाता है। पहले किसी वस्तु का या लक्ष्य का सम्यक् ज्ञान हो, उस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञान की दृढ़ प्रतीति हो और तदनुरूप जीवन में, अपने चरित्र में उस ज्ञान को उतारा जाय, तभी मनुष्य अपने उच्चतम लक्ष्य पर पहुँच सकता है। यही कारण है कि महावीर वर्द्धमान ने धर्म के प्रति अहिंसा को, दया को मूल्य देकर और चिन्तन के क्षेत्र में अनेकान्त के महत्त्व का प्रतिपादन कर आचार और विचार के क्षेत्र में समस्त मानव जाति को सुसभ्य और सुसंस्कृत बनाने का जो ऐतिहासिक महत्त्व का अवदान दिया, उसकी तुलना किसी अन्य धर्म और दर्शन से सम्भव नहीं। उनके विचारों के अमृत-तत्त्व का उल्लेख यों किया गया है :

जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ।
जे सव्वं से एगं जाणइ॥[४०]

जो एक पदार्थ को जानता है, वह सबको जान लेता है और जो सबको जानता है, वही एक को जान सकता है। इस जगत् के चेतनात्मक और अचेतनात्मक तत्त्व स्वभाव, गुण और पर्यायों में अनन्तता से सम्पन्न हैं। अचेतन मिट्टी के कण में बीज-वपन होने से नाना रूप-रंग के अस्वादु और स्वादु फल होते हैं। एक ही मनुष्य सम्बन्धों की अपेक्षा से पिता भी है, पुत्र भी है, भाई भी है। वह नाना सम्बन्धों से जुड़ा विभिन्न भूमिकाओं में प्रस्तुत होता है, उसके अलग अभिधान होते हैं। ठीक इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ में सत्ता-असत्ता, नित्यता-अनित्यता, एकता-अनेकता आदि धर्म होते हैं और उनमें परस्पर विरोध भी नहीं होता। इस जीव-रहस्य को हृदयंगम करने के लिए 'अनेकान्तवाद' एक कसौटी है।

इस दृष्टि से स्याद्वाद की सप्तभंगी-शैली से समन्वित जैन चिन्तन का अनेकान्त और बौद्ध चिन्तन का प्रतीत्यसमुत्पाद या शून्यवाद एक दूसरे के बहुत निकटवर्ती सिद्धान्त हैं। चूँकि दोनों की दृष्टि है सत्य की तलाश में एकांगी न होना और पूर्वाग्रहग्रस्त न होकर सही निष्कर्ष पर पहुँचना। यह ऐसी चिन्तन-शैली है जो खोजी को सत्यान्वेषण की ओर प्रवृत्त करती है। यह दृष्टि दोनों ही चिन्तनधाराओं को केवल करीब ही नहीं लाती अपितु विश्वधर्मों के इतिहास में इन दोनों ही भारतीय धर्मों का स्थान भी सर्वोच्च हो जाता है। गहराई से विचार कर देखें तो दोनों ही धर्मों में चिन्तन की दृष्टि से अहिंसा और तप की महिमा का विवेचन बार-बार किया गया है। कैवल्य या निर्वाण-पद की प्राप्ति के लिए अहिंसा और तप दोनों ही अनिवार्य साधन ही नहीं, नितान्त आवश्यकताएँ हैं। अहिंसा मन, वचन और कर्म से सम्पन्न हो। महावीर वर्द्धमान का स्पष्ट कथन है : जब सब को अपना प्राण प्रिय है, तो किसी की हिंसा करना कहाँ तक उचित है? किसी भी प्राणी की हिंसा न करनी चाहिए : सव्वे पाणा पियाउया सुहसाया दुक्खपडिकूला अप्पियवहा पियजीविणो, जीविउकामा सव्वेसिं जीवियं पियं।[४१]

महावीर की दृष्टि में अहिंसा शाश्वत धर्म है, यही विज्ञान है :

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं क्खु नाणिनो सारं, जं न हिंसइ किंचन।
अहिंसा समयं चेव, एयावंत वियाणिया॥[४२]

बुद्ध की दृष्टि में भी अहिंसा का वही महत्त्व है। उन्होंने अपने उपदेशों में स्पष्ट रूप से घोषित किया—प्राणियों की हिंसा करने से कोई आर्य नहीं होता। आर्य तो प्राणिमात्र की अहिंसा से ही कहा जाता है। अपने समान ही सबका सुख-दुःख जानकर न तो स्वयं ही किसी को मारे और न किसी को मारने के लिए प्रेरित करे :

न तेन अरियो होति येन पाणानि हिंसति ।
अहिंसा सव्वपाणानं अरियो ति पवुच्चति ॥
सब्बे तसंति दंडस्स, सव्वे भायंति मच्चुनो ।
अत्तानं उपमं कृत्वा न हनेय्य न घातये ॥[४३]

चिन्तन की दृष्टि से दोनों धर्मों की दृष्टि में निकटता है। बौद्ध चिन्तन में 'नैरात्म्य' पर विशेष बल दिया गया है, जब कि जैन चिन्तन में संसार में जीव और अजीव दो तत्त्व माने गये हैं और जीव नित्य और अनन्त हैं।

चिन्तन का महत्त्व :

विचार के क्षेत्र में दोनों ही धर्मों में जो भी मौलिक अन्तर हो, पर आचार की दृष्टि से दोनों और भी एक दूसरे के निकट हैं। लोक-कल्याण की साधना के लिए दोनों ने ही अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य को प्रमुखता प्रदान की थी। विचारणीय है कि क्या आज से पच्चीस सौ वर्ष पहले के परिवेश में दोनों ही धर्म-प्रवर्तकों ने नया जीवन-दर्शन और आचारसंहिता प्रस्तुत की। उसी के आलोक में अपना जीवन जीया और सदियों तक भारत और भारत के पार के साधकों को अपनी जीवन-दृष्टि से अनुप्रेरित किया। आज के बदले हुए सन्दर्भों में क्या उनकी अपेक्षा रह गई है?

इसका सीधा-सादा उत्तर यही है कि दोनों ही महापुरुषों ने उस समय की समग्र परिस्थिति के सन्दर्भ में चिन्तन प्रस्तुत किया। उसका महत्त्व तो है ही, पर वे चिन्तन और आचार-दर्शन शाश्वत जीवनमूल्यों से अनुप्रेरित हैं। प्राणिमात्र पर दया, निर्लोभता, निर्मोहता, अस्तेय और अपरिग्रह से मनुष्य की पशु-प्रवृत्तियों का 'शमन' होता है। आज की दुनिया का सबसे बड़ा रोग यही है कि लोग काम, वैभव और सत्ता की तृष्णा से पीड़ित हैं। महत्त्वाकाक्षांओं की आग में जल रहे हैं। कहीं निर्वैरता नहीं, कहीं परस्पर मैत्री नहीं। गहराई से विचार कर देखें तो बुद्ध और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महावीर दोनों के ही अमृतमय वचनों के अनुसार संसार में क्या आनन्द और क्या हँसना। चारों ओर अन्धकार छाया हुआ है, मनुष्य ज्ञान का दीप लेकर सत्य को क्यों नहीं तलाशता।[४४] लोभी मनुष्य के लिए सोने और चाँदी के कैलास की तरह असंख्य विशाल पर्वत प्राप्त होने पर भी कुंछ नहीं के बराबर है; क्योंकि मनुष्य की तृष्णा आकाश की तरह अनन्त है (महावीर) :

(क) कि नु हासो किमानंदो निच्चं प्रज्जलिते सति।
अंधकारेण ओनद्धा प्रदीपं न गवेसथ॥

(ख) सुवण्ण रूपस्स उ पव्वया भवे सियाहु केलास समा असंख्यया।
नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि, इच्छा हु आगाससमा अणंतिया॥

आधुनिक भारत और समस्त विश्व के समग्र कल्याण और ज्ञान-प्रकाश के लिए अहिंसामूलक जीवन-दर्शन को आचरण में ढालने की नितान्त आवश्यकता है।

सन्दर्भ-स्रोत :

१. द कल्चरल हेरिटेज ऑफ इण्डिया पृष्ठ ४००-४०१: हीरालाल जैन

२. आवश्यकनिर्युक्ति, पृष्ठ ८०-८३

३. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, पर्व १०, सर्ग २, श्लोक २२

४. ललितविस्तर : लिपिशाला-संदर्शन-परिवर्त

५. बुद्धचरितः पृष्ठ १४-१५. रामचन्द्र शुक्ल का हिन्दी-अनुवाद; आवश्यकचूर्णि, भाग १, पत्र-२४६

६. (क) वासुपूज्यो महावीरो मल्लिः पार्श्वो यदुत्तमः।
कुमारा निर्गता गेहात् पृथिवीपतयोऽपरे॥

—पद्मपुराण, २०.६७.

(ख) मल्ली आरिष्टनेमी पासो वीरो य वासुपूज्जो
एए कुमारसीहा गेहाओ निग्गया जिणवरिंदा॥

-पउमचरिय, वीसइमो उद्देशो, पत्र ९८-२

७. ललितविस्तर : अभिनिष्क्रमण परिवर्त

८. महाभिनिष्क्रमण का दृश्यांकन अजन्ता, अमरावती, साँची और नागर्जुनकोण्डा में

९. बुद्धचरित : ६/६७ अश्वघोष

१० अदृष्टतत्त्वो विषयोन्मुखेन्द्रियः श्रयेयं न त्वेव गृहात् पृथग्जनः : —बुद्धचरित ६९, अश्वघोष

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

११. सव्वेसु किर उवसग्गेासु दुयिवसहा कतरे ?
कडपूयणासींय कालचक्कं एतं चेव सल्लं कडिठढजलं,
अहवा जहन्नगाण उवरि कडपूयणासीतं,
मज्झिमाण कालचक्कं, उक्ककोसगाण उवरिं शल्लुद्धरणं ।

१२. ललितविस्तर : दुष्करचर्या परिवर्तः

१३.आवश्यकचूर्णि, प्रथम भाग पत्र ३२२ तथा आवश्यकनिर्युक्ति, पृष्ठ १००-१ एवं नेमिचन्द्र सूरि-रचित महावीरचरिय, १३५८-६५

१४. कठोपनिषद्

१५. मुण्डकोपनिषद्; श्वेताश्वेतर उप. ११.५

१६. ईशोपनिषद् छान्दोग्य उप., ७.२३

१७. श्रीमद्भगवद्गीता, ५.२४-२६

१८. जीवसूत्र, ३० महावीरवाणी

१९. जीवसूत्र, २१ महावीरवाणी

२०. धर्मपद

२१. धर्मपद, गाथा २८४-२८९

२२. धर्मपद, १८३

२३. धर्मपद, २७३

२४. महावीरवाणीः नरकसूत्र, ४४

२५. धर्मपदक्रोधवग्ग, २२३

२६. धर्मपद, क्रोधवग्ग. २२२

२७. श्रीमद्भगवद्गीता ५

२८. महावीरवाणी : बालसूत्र, ३

२९. धर्मपद, गाथा ३६२

३०. धर्मपद, भिक्खुवग्ग ३६२

३१. महावीरवाणी गाथा संख्या २८१

३२. महावीरवाणी : अप्रमाद सूत्र, ५-६

३३. धर्मपद : अप्रमादवग्ग, ७

३४. अश्वघोष

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३५. अश्वघोष

३६. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग, तत्त्वार्थसूत्र : उमास्वाति, सूत्र १

३७. यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यता तां प्रचक्ष्महे ।
सा प्रज्ञप्तिरूपमादाय प्रतिपमात्सैव मध्यमा ।— माध्यमिककारिका, २४.१८

३८. बीजस्य सतो यथाङ्कुरो न च यो बीज स चैव अंकुरो ।
न च अन्यु तनो न चैव तदेवमनुच्छेद अशाश्वत धर्मता ।
— ललितविस्तर, पृष्ठ २१०

३९. स्कन्धानामेव सन्तानो यस्माद् दरीपार्चिषामिव ।
प्रवर्तते तस्मात् नान्तातन्तत्वं च युज्यते ॥ — माध्यमिककारिका, २७.२२

४०. जैनधर्म, पृष्ठ १०२-१०३ : मुनि सुशीलकुमार

४१. श्रीमहावीरवचनामृत, पृष्ठ १२१

४२. महावीरवाणी : अहिंसासूत्र, ११

४३. धर्मपद, १.१९

४४. धर्मपद ८.८७; महावीरवाणी, कषायसूत्र, ८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राकृत-अपभ्रंश छन्द : परम्परा एवं विकास

*डॉ. गदाधर सिंह**

भारतीय वाङ्मय में छन्दःशास्त्र का महत्त्व प्रारम्भ से ही रहा है। वेद के अर्थज्ञान का उपकारक होने के कारण इसे 'षडंग' में स्थान दिया गया था। पाणिनीय शिक्षा के अनुसार छन्द वेद का पादवत् उपकारक है—छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते (पाणिनीय शिक्षा, चरणव्यूह खण्ड)। सायण ने भी वेदार्थ के ज्ञान में छन्दों की उपयोगिता को स्वीकार किया है। एतेषां च वेदार्थोपकारिणां षण्णां ग्रन्थानां वेदाङ्गत्वम्॥ भरतमुनि ने तो यहाँतक कह दिया है कि छन्द से रहित कोई शब्द नहीं और शब्द से रहित कोई छन्द नहीं।

छन्दहीनो न शब्दोऽस्ति, न छन्दः शब्दवर्जितम्। (नाट्यशास्त्र, १४.४५)

पिंगलछन्दःसूत्र के टीकाकार हलायुध भट्ट ने छन्द को कवियों की आँख माना है—*कवीनां नयनस्य च*॥ (१/३)

छन्द और छन्दस् पद की निरुक्ति क्षीरस्वामी ने 'छद्' धातु से बतलाई है। यास्क ने 'छन्दांसि छादनात् (निरुक्त, ७।१२) कहकर आच्छादन के अर्थ में 'छन्द' शब्द का अस्तित्व स्वीकार किया है। सायण ने ऋग्वेदभाष्यभूमिका में 'आच्छादकत्वाच्छन्दः' कथन द्वारा यास्क का समर्थन किया है। छान्दोग्योपनिषद् (१.४,२) की एक गाथा के अनुसार देवगणों ने मृत्यु के भय से बचने के लिए ऋक्, यजु और सामवेदों में प्रवेश किया और छन्दों ने उन्हें भय से बचाने के लिए उनका आच्छादन कर दिया। ऐतरेय आरण्यक के अनुसार स्तोता को आच्छादित करके छन्द पापकर्मों से रक्षित करते हैं (ऐतरेय आरण्यक, २.२)। वैदिक दर्शन के अनुसार छन्द 'वाक्-विराज' का नाम है, जिससे सम्पूर्ण विश्व विकसित होता है।

साहित्य में छन्द विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसे परिभाषित करते हुए कात्यायन ने 'ऋक्सर्वानुक्रमणी' में अक्षर के परिणाम को छन्द कहा है—*'यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः'* पिंगल के 'छन्दःसूत्रम्' की टीका में हलायुध ने उपर्युक्त बात की पुष्टि करते हुए लिखा है :

छन्दः शब्देनाक्षरसंख्यावच्छन्दोऽत्राभिधीयते। (२.३)

---

* युनिवर्सिटी प्रोफेसर, स्नातकोत्तर हिन्दी-विभाग, जैन कॉलेज, आरा (बिहार)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भरतमुनि ने 'छन्द' शब्द की परिभाषा दी है :

नियताक्षरसम्बन्धे छन्दोयतिसमन्वितम्।
निबद्धा तु पदं ज्ञेयं सतालपतनात्मकम्॥ (३२.२९)

नियत अक्षरों से युक्त, छन्दोयति से समन्वित और ताल के अवरोह से युक्त पद छन्द है। भावों का प्रकाशन तथा आह्लादन छन्द का मुख्य व्यापार है। अतः इसे लययुक्त होना आवश्यक होता है। इस दृष्टि से रुचिकर और लययुक्त वाणी ही छन्द है—छन्दयति आह्लादयति छन्द्यते अनेन इति छन्दः।[१]

छन्दःशास्त्र का उद्भव और विकास :

छन्दःशास्त्र उतना ही प्राचीन है, जितना वाङ्मय। यह कहना कठिन है कि छन्दोरचना का उद्भव कब, किस प्रकार और किसके द्वारा हुआ। भारतीय वाङ्मय में वेदों की प्राचीनता निःसन्दिग्ध है और कुछ लोगों ने छन्दःशास्त्र का आदिमूल वेद को ही माना है।[२] वैदिक साहित्य में छन्दोबद्धता है और उसमें कुछ छन्दों के नाम भी उल्लिखित हैं, किन्तु छन्दःशास्त्र की दृष्टि से उनमें छन्दों की व्याख्या का कोई प्रयास नहीं दिखाई पड़ता। इतना अवश्य है कि गायत्री, उष्णिक्, शक्वरी आदि नामों का उल्लेख उनमें जिस रूप में हुआ है, उससे स्पष्ट प्रतिभासित हो जाता है कि छन्दों के लक्षण-निरूपण की प्रक्रिया का आरम्भ अवश्य हो गया होगा, अन्यथा लक्षण-निरूपण के अभाव में छन्द-विशेष का नामकरण किया जाना सामान्यतया सम्भव नहीं है। वेदों को 'छन्दस्' अभिप्राय-विशेष से ही कहा गया होगा। 'मुण्डकोपनिषद्' में छन्द को वेद की तरह ही 'अपरा विद्या' में परिगणित किया गया है:

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः छन्दो ज्योतिषमिति॥

ब्राह्मण-ग्रन्थों में वैदिक छन्दों पर विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। श्रौतसूत्र, प्रातिशाख्य, सर्वानुक्रमणी, आरण्यक आदि में वैदिक छन्दों की विवेचना है। कात्यायन ने ऋग्वेद और यजुर्वेद की अनुक्रमणी में चौदह वैदिक छन्दों पर विचार किया है। शौनक ने 'ऋग्वेद प्रातिशाख्य' में भी अनेक वैदिक छन्दों का विवेचन प्रस्तुत किया है। इतना होते हुए भी इन ग्रन्थों को छन्दःशास्त्र की संज्ञा नहीं दी जा सकती; क्योंकि इनमें अन्य अनेक विषयों के वर्णन के क्रम में प्रसंगानुकूल छन्दों का भी विवेचन हो गया है। ये छन्दःशास्त्र के स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं हैं।

पाणिनि के गणपाठ में छन्दःशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थों के नाम प्रतिलिखित हैं। स्वयं 'पिंगलसूत्र' में तण्डी, यास्क, क्रौष्टुकि, सैतव, काश्यप, रात, माण्डव्य आदि आचार्यों के नाम आये हैं, किन्तु इनकी कोई भी रचना आज उपलब्ध नहीं है। अतः छन्दःशास्त्र के आदि प्रणेता के रूप में पिंगल का नाम ही सर्वोपरि है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में छन्दों के विवेचन का प्रथम प्रयास पिंगल के 'छन्दःसूत्रम्' में उपलब्ध होता है। भारतीय परम्परा नें कृतज्ञतावश इस शास्त्र-विशेष का नाम ही पिंगलशास्त्र रख दिया है। पिंगल के 'छन्दःसूत्रम्' में छन्दों के विवेचन के लिए जिस वैज्ञानिक प्रणाली का आश्रय लिया गया है, उससे स्पष्ट प्रतिभासित होता है कि यह ग्रन्थ एक चली आती हुई परम्परा का चरमतम विकास है, किन्तु दुःख है कि इसके पहले की कोई भी कृति आज उपलब्ध नहीं है। अपनी विशिष्ट महत्ता के कारण ही पिंगल के ग्रन्थ को छह वेदांगों में परिगणित किया गया है। छन्दःशास्त्र को गणितीय पद्धति पर आश्रित करना पिंगल की विशषताओं में एक है। अपने युग तक प्रचलित विविध छन्दों की प्रकृति का पूरा ज्ञान पिंगल को था। प्राकृत-युग में जिस गाहा छन्द को अत्यधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई, उसका भी नामोल्लेख पिंगल ने किया है। सम्भवतः यह लोकछन्द था, जिसकी उपेक्षा आचार्यों ने की थी, किन्तु पिंगल की लोकग्राहिणी दृष्टि ने उसे पहचान लिया और उसका उल्लेख अपने ग्रन्थ में किया। पिंगल की महत्ता का अनुमान इसी से किया जा सकता है कि प्रायः सभी परवर्ती कवियों एवं लक्षणकारों ने पिंगल का ऋण स्वीकार किया है। छन्दःशास्त्रीय अध्ययन की दिशा में भरत (२०० ई. पूर्व)-कृत नाट्यशास्त्र, वराहमिहिर (छठी शती)-कृत बृहत्संहिता, नारदीयपुराण, अग्निपुराण, गरुडपुराण (३७५-४१३ ई.) आदि के नाम लिये जा सकते हैं। इन सभी ग्रन्थों में अन्य विषयों के साथ-साथ प्रसंगवश छन्दों का विवेचन भी किया गया है। इन ग्रन्थों में पिंगल का ही अनुसरण है, अतः स्वतन्त्र मार्ग के अन्वेषण में इनका विशेष महत्त्व नहीं है।

पिंगल की परम्परा में संस्कृत में छन्दःशास्त्र पर अनेक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे गये, जिनमें अपनी विशेष दृष्टि के कारण कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। जैसे—जयदेव (६७० या ९०० ई.)-कृत 'जयदेवच्छन्द', कालिदास (८वीं शती)-रचित 'श्रुतबोध', जयकीर्त्ति (दसवीं शती)-रचित छन्दोनुशासन, केदारभट्ट (१०वीं या ११वीं शती)-कृत 'सुवृत्ततिलक', दामोदर (१४वीं शती का उत्तरार्द्ध)-रचित 'वाणीभूषण', गंगदास (१५वीं/१६वीं शती)-रचित 'छन्दोमंजरी', कृष्णकवि-कृत मन्दारंमरदचम्पू, अज्ञात लेखक (१७-१८वीं शती) द्वारा लिखित 'छन्दःकौस्तुभ', दुःखभंजन कवि(१८९४ई.)-कृत वाग्वल्लभ आदि। इन ग्रन्थों में या तो पिंगल के अनुसार सूत्रशैली का प्रयोग है या श्रुतबोध, अग्निपुराण या नाट्यशास्त्र में प्राप्त श्लोक-शैली का। कुछ ग्रन्थों में एकनिष्ठ शैली का भी प्रयोग है। इस शैली में उदाहृत छन्द में ही लक्षण निहित रहता है। मिश्रित शैली के भी ग्रन्थ मिलते हैं, जिनमें छन्दों के लक्षण अलग-अलग छन्दों में भी हैं और कहीं-कहीं उदाहृत छन्दों में भी। इन शैलियों का हिन्दी-छन्दःशास्त्र-विषयक रचनाओं पर प्रभूत प्रभाव पड़ा। श्रुतबोध की लक्षण-उदाहरण की तादात्म्य-शैली अत्यधिक लोकप्रिय हुई और हिन्दी के लक्षणकारों ने इसे अपनाया। इसी प्रकार क्षेमेन्द्र के 'सुवृत्ततिलक' का महत्त्व इस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ में है कि इसने छन्दःशास्त्र के क्षेत्र में भी औचित्य-तत्त्व की स्थापना कर आलोचना के एक नये द्वार का उद्‌घाटन किया। इनसे पहले और किसी ने इस तरह का विवेचन प्रस्तुत नहीं किया था।

प्राकृत-अपभ्रंश के छन्दोग्रन्थ :

लोक के बीच प्रचलित मात्रिक छन्दों का विवेचन प्राकृत-अपभ्रंश छन्दों की मुख्य विशेषता है। इनमें कुछ को छोड़कर शेष सभी में कुछ अंश प्राकृत और कुछ अंश अपभ्रंश भाषा में लिखित हैं। कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ इस प्रकार हैं :

१. जानाश्रयी छन्दोविचिति[३] :

इस ग्रन्थ के रचयिता के सम्बन्ध में मतभेद है। ऐसी मान्यता है कि इसके रचयिता कोई जनाश्रय कवि थे, जिनका समय छठी शताब्दी ई. है, लेकिन इसके कृतिकार ने जनाश्रय के प्रताप, प्रभाव एवं सम्पत्ति की प्रशंसा की है। इससे स्पष्ट है कि ग्रन्थ का रचयिता राजा जनाश्रय का आश्रित था और उस राजा ने ग्रन्थकार को ग्रन्थ-प्रणयन का आदेश दिया था। एम. रामकृष्ण कवि[४] का अनुमान है कि इस ग्रन्थ का रचयिता गणस्वामी था, जिसने स्वयं अपनी कृति पर भाष्य लिखा :

जानाश्रयीं छन्दोविचितिं गणस्वामिविरचितव्याख्यां व्याख्यास्यामः ॥१ ॥

यह ग्रन्थ संस्कृत में लिखित है। इसका अन्तिम अध्याय इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि यह प्राकृत छन्दों का विवेचन प्रस्तुत करता है। इस ग्रन्थ का महत्त्व इस दृष्टि से भी है कि इसके रचयिता ने पिंगल से भिन्न पथ का अनुसरण करने का प्रयास किया है। पिंगल ने आठ गण माने हैं और तीन अक्षरों के समूह को गण का आधार स्वीकार किया है। जनाश्रयी अठारह प्रकार के गण मानते हैं और दो से लेकर छह अक्षरों के समूह तक को गण का आधार घोषित करते हैं। यति को जितना महत्त्व पिंगल ने दिया है, उससे अधिक महत्त्व जनाश्रयी ने दिया है। इन्होंने बताया है कि यति-भेद से छन्द-भेद किस प्रकार हो जाता है। चन्द्रावर्त, माला और मणिगुणनिकर (जना.म ७४-७६) में भेद यति को लेकर ही है।

२. वृत्तजातिसमुच्चय[५] :

इसके रचयिता विरहांक हैं। डा. वेलंकर महोदय ने इनका समय छठी-आठवीं के बीच माना है[६], जब अपभ्रंश-भाषा साहित्यिक रूप धारण करने लगी थी और वल्लभी का राजा गुणसेन उसमें कविता करने लगा था। इस ग्रन्थ पर गोपाल ने टीका लिखी है, जिसका समय विरहांक से कुछ शताब्दी बाद है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह ग्रन्थ प्राकृत-भाषा में लिखित है। इसमें छह अध्याय हैं, जिसके प्रथम चार अध्यायों में प्राकृत के मात्रिक छन्दों का और पंचम अध्याय में संस्कृत के वर्णवृत्तों का विवेचन है। षष्ठ अध्याय में प्रस्तार आदि का विवेचन है। विरहांक ने लक्षण-उदाहरण-तादात्म्य शैली को अपनाया है, अर्थात् छन्दों के लक्षण उन्हीं छन्दों में दिये गये हैं, जिनका विवेचन अभीष्ट है। इसमें प्राकृत और संस्कृत के छन्दों का ही प्राधान्य है, अपभ्रंश के बहुत थोड़े छन्दों का उल्लेख इसमें हुआ है और जो हुआ भी है, वह आकस्मिक ही है। इसमें पिंगल की तरह सूत्रशैली का आश्रय न लेकर पूरे पद्य में छन्दों के लक्षण कहे गये हैं। द्विमात्रा, त्रिमात्रा, पंचमात्रा और उनके भेदों के नाम तकनीकी आधार पर रखे गये हैं, जैसे पंचमात्रा के लिए अशनि, प्रहरण, आयुध आदि, चतुर्मात्रा के लिए गज, तुरंग, तोमर, पदाति आदि। इस प्रकार का प्रयोग पिंगल ने भी किया है, किन्तु जिस प्रकार की पूर्णता का प्रदर्शन विरहांक में है, वैसी पूर्णता पिंगल में नहीं हैं।

गाथालक्षण[७] :

इसके रचयिता नन्दिताढ्य का नाम ग्रंथ के छन्द ३१ में आया है : तह नंदियड्ढमणिए जिह किह तिह पाइए नत्थि। ग्रन्थ के प्रारम्भ में कवि ने भगवान् नेमिनाथ की वन्दना की है। इससे स्पष्ट है कि नन्दिताढ्य जैन मुनि थे। डा. वेलंकर ने इनका समय १००० ई. के लगभग स्वीकार किया है।

गाथालक्षण प्राकृत में लिखित छन्दःशास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। ग्रन्थ के नाम से ही स्पष्ट है कि इसमें प्राकृत के महत्त्वपूर्ण छन्द गाथा का विवेचन है। इसमें कुल ९२ छन्द हैं, किन्तु डा. वेलंकर की मान्यता है कि इसके कुछ अंश अप्राप्य हैं और कुछ प्रक्षिप्त हैं। यद्यपि अपभ्रंश के कुछ छन्दों का इसमें अपभ्रंश-भाषा में ही विवेचन है, किन्तु ऐसा लगता है कि अपभ्रंश के प्रति रचनाकार की अरुचि है। छन्द ३१ में अपभ्रंश भाषा के शब्दों के प्रति अपनी अरुचि तथा प्राकृत के प्रति अपने मोह को उसने संकेतित भी कर दिया है।

स्वयम्भूच्छन्द[८] :

इसके रचयिता स्वयम्भू हैं। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन[९] ने स्वयम्भू को 'पउमचरिउ' के रचयिता से अभिन्न माना है, किन्तु डा. वेलंकर दोनों को भिन्न-भिन्न मानते हैं। डा. हीरालाल जैन[१०] राहुलजी के मत का समर्थन करते हैं। स्वयम्भू का समय लगभग १०वीं शती है।

स्वयम्भूच्छन्द की विशेषता इसमें निहित है कि स्वयम्भू ने संस्कृत के वर्णवृत्तों का लक्षण-निर्देश भी मात्रागणों के आधार पर किया है और उनके उदाहरण भी प्राकृत-काव्यों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से ही दिये हैं। इसकी एक विशेषता यह भी है कि छन्दों के उदाहरण के रूप में जिन कवियों के पद्य लिये गये हैं, उनके नामोल्लेख भी, कुछ को छोड़कर, इन्होंने कर दिया है। स्वयम्भू ने द्विमात्रिक, त्रिमात्रिक, चतुर्मात्रिक, पंचमात्रिक तथा षाण्मात्रिक गणों के बोध के लिए क्रमशः द, त, च, प तथा छ का प्रयोग किया है, जो अत्यधिक सुविधाजनक है। एक छन्द से दूसरा छन्द किस प्रकार बन जाता है, 'श्रुतबोध' की इस प्रणाली का उपयोग भी स्वयम्भू ने किया है।

छन्दशेखर[११] :

इस ग्रन्थ का केवल पंचम अध्याय ही उपलब्ध हो सका है, जिसका प्रकाशन डा. एच. डी. वेलंकर महोदय ने किया है। डा. वेलंकर ने इसके रचयिता राजशेखर का समय ११वीं शती ई. के मध्यभाग में निर्धारित किया है।

राजशेखर ने तीन प्रकार के छन्द माने हैं—संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के छन्द। स्वयम्भू से इनका अन्तर यह है कि स्वयम्भू ने दो प्रकार के ही छन्द माने हैं—प्राकृत और अपभ्रंश। इसका तात्पर्य है कि राजशेखर वर्णवृत्तों को संस्कृत का छन्द मानते हैं। इस ग्रन्थ के पंचम अध्याय में कुछ प्राकृत के छन्दों का और शेष अपभ्रंश के छन्दों का विवेचन है। राजशेखर ने स्वयम्भू का पूर्णतः अनुसरण किया है। दोनों में अन्तर मात्र इतना ही है कि जिस बात को स्वयम्भू ने प्राकृत में लिखा है, उसे राजशेखर संस्कृत में लिखते हैं। स्वयम्भू की तरह राजशेखर ने भी ६,५,४,३,२ मात्रा के प्रतीक रूप में ष,प,च,त और द वर्णों का प्रयोग किया है। पंचम अध्याय में कुल २३८ छन्द हैं।

कविदर्पण[१२] **:**

इस ग्रन्थ के लेखक और टीकाकार के विषय में विशेष ज्ञान नहीं है। ग्रन्थकर्ता ने अपना परिचय कहीं भी नहीं दिया है। डा. वेलंकर ने ग्रन्थ का रचनाकाल १३वीं शताब्दी निर्धारित किया है।

सम्पूर्ण ग्रन्थ छह उद्देश्यों में बँटा है। ग्रन्थकार ने छन्दों के तीन विभाग किये हैं—मात्रा, वर्ण और मिश्र। वर्णवृत्तों के लक्षण लक्षण-लक्ष्य शैली में एक या दो पंक्तियों में दिये हैं। मात्रिक छन्दों का विभाजन पादों के आधार पर किया गया है। छन्दों के ग्यारह विभाग किये गये हैं—द्विपदी, चतुष्पदी, पंचपदी, षट्पदी, सप्तपदी, अष्टपदी, नवपदी, दशपदी, एकादशपदी, द्वादशपदी और षोडशपदी। छन्दों के लक्षण क, च, ढ, त, प के द्वारा दिये गये हैं, जो क्रमशः द्विमात्रिक, त्रिमात्रिक, चतुर्मात्रिक, पंचमात्रिक और षाण्मात्रिक गणों के बोधक हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छन्दोऽनुशासन[१३] :

आचार्य हेमचन्द्र द्वारा विरचित यह ग्रन्थ संस्कृत-भाषा में लिखित है और संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के सभी छन्दों का सांगोपांग विवेचन करता है। यह सूत्रशैली में लिखित है, किन्तु ग्रन्थकार ने स्वयं इसकी विवृत्ति भी कर दी है। इसमें जितने छन्दों का विवेचन है, उतना अन्य किसी-भी ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होता। हेमचन्द्र सिद्धान्तवादी अधिक थे, इसलिए, उस युग में प्रचलित-अप्रचलित सभी छन्दों को उन्होंने अपनी विवेचना का आधार बनाया है। उन्होंने परम्परा से प्राप्त और लोक-व्यवहार में प्रचलित प्रायः सभी छन्दों का लक्षण, वर्गीकरण और उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। उनका प्रयास है कि उस समय तक प्राप्त कोई भी छन्द विवेचन के लिए छूटने न पाये। उनकी चिन्ता प्राकृत-अपभ्रंश को संस्कृत जितनी महत्ता दिलाने की थी, इसलिए उन्होंने प्राकृत के साथ-साथ पण्डितों द्वारा उपेक्षित उन अपभ्रंश छन्दों को भी महत्ता दी, जो लोक में प्रचलित थे। आचार्यश्री ने सरस उदाहरणों द्वारा उन्हें और भी लोकप्रिय बनाया। उन्होंने ऐसे अनेक छन्दों का उल्लेख किया है, जो पूर्ववर्त्ती किसी भी ग्रन्थ में नहीं मिलते। हेमचन्द्र ने मात्रिक छन्दों के लक्षण मात्रागणों (ष, प, च, त, द) द्वारा दिये हैं।

छन्दकोश[१४] :

इसके रचयिता रत्नशेखर हैं। यह एक छोटी पुस्तिका है और इसमें मात्र ७४ पद्य हैं, जिनमें प्राकृत और अपभ्रंश के छन्दों का विवेचन लक्षण-लक्ष्य शैली में किया गया है। इसका रचनाकाल अनुमानतः १४वीं शती है।

प्राकृतपैंगलम्[१५] :

इसके लेखक का नाम अज्ञात है। रचनाकाल अनुमानतः १४वीं शती है। ग्रन्थ में मात्रिक और वार्णिक दोनों प्रकार के छन्दों का विवेचन है। मात्रिक छन्दों के अध्ययन की दृष्टि से इस ग्रन्थ का महत्त्व अक्षुण्ण है। आचार्य हेमचन्द्र ने व्यवहार की अपेक्षा सिद्धान्त को अधिक महत्त्व दिया था, किन्तु इस ग्रन्थ में उन्हीं छन्दों का विवेचन है, जो उस युग के काव्यों में प्रयुक्त हो रहे थे। 'प्राकृतपैंगलम्' की एक विशेषता यह भी है कि छन्दों के लक्षण उसी छन्द में दिये गये हैं, जिनका लक्षण बताना रचनाकार को अभीष्ट है। विरहांक ने छन्दों के उदाहरण अलग से नहीं दिये हैं, बल्कि लक्षण ही उदाहरण का काम करते हैं; किन्तु प्राकृतपैंगलम् में विषय को स्पष्ट करने के लिए उदाहरण भी अलग से प्रस्तुत किये गये हैं। अपभ्रंश के कुछ प्रचलित छन्दों का, न जाने क्यों, स्वयम्भू एवं हेमचन्द्र ने स्पर्श नहीं किया था, जैसे दोहा या चौपाई। हेमचन्द्र ने दोहक, उपदोहक या स्वयम्भू ने द्विपदक के द्वारा इसे लक्षित किया था, किन्तु सर्वप्रथम 'प्राकृतपैंगलम्' में ही छन्दःशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में दोहा का विवेचन प्रस्तुत किया गया। 'प्राकृतपैंगलम्' के प्रभाव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का अनुमान इसी से किया जा सकता हैं कि परवर्ती हिन्दी-लक्षणकारों ने मात्रिक छन्दों के विवेचन के लिए एकमात्र इसी ग्रन्थ का ही अनुसरण किया है।

प्राकृत-अपभ्रंश छन्दों का विकास

छन्दों के दो प्रकार बताये गये हैं—वैदिक और लौकिक।[१६] वैदिक संहिताओं में प्रयुक्त गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्, जगती, पंक्ति, बृहती, विराट् आदि छन्दों को वैदिक छन्द कहा जाता है और छन्द-ग्रन्थों में वैदिक छन्द-प्रकरण के अन्तर्गत इन्हीं छन्दों का विवेचन हुआ है। महर्षि वाल्मीकि ने सर्वप्रथम अपने महाकाव्य रामायण में वैदिक छन्दों से भिन्न ऐसे छन्दों का प्रयोग किया, जो लोक में प्रचलित थे। इसी से उन्हें आदिकवि कहलाने का गौरव प्राप्त हुआ। वैदिक और लौकिक छन्दों की प्रकृति भिन्न है।

वैदिक छन्दों को अक्षर-वृत्त कहा जाता है; क्योंकि इसमें छन्दोगत या पादगत गणना का आधार अक्षर ही होते हैं, न कि लघु-गुरु का विन्यास या अक्षरों का निश्चित क्रम से विनियोग। उदाहरणार्थ, गायत्री के तीन पादों में प्रत्येक पाद में ८ अक्षर होते हैं। इसमें आठ वर्णों की ही गणना की जाती है, यह ध्यान में नहीं रखा जाता कि इन वर्णों का क्रम क्या है या इनकी पादगत स्थिति क्या है? इसीलिए पिंगलसूत्र के टीकाकार हलायुध भट्ट ने छन्द के लिए '*अक्षरसंख्यावत्*' का प्रयोग किया है : *छन्दः शब्देनाक्षर-संख्यावच्छन्दोऽत्राभिधीयते* (२.१ की वृत्ति)। महर्षि कात्यायन ने भी सर्वानुक्रमणी में इसी परिभाषा को स्वीकृत किया है :*यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः*।[१७]

वैदिक छन्दों में संगीत-तत्त्व का प्राधान्य होता था। अतः इसको ध्यान में रखकर उदात्त, अनुदात्त और स्वरित—इन तीन स्वर-निपातों का आधार ग्रहण किया गया। संगीत-सृष्टि के लिए या तो धीरे-धीरे स्वर-लहरियाँ उठायी जाती हैं या जोर से या बहुत जोर से। छन्द-संगीत के लिए स्वरों का आधार ग्रहण करने के कारण वैदिक छन्दों को 'स्वरवृत्त' भी कहा जाता है।

वैदिक ऋषि स्वतन्त्रता-प्रेमी थे। वे नियमों की जटिल श्रृंखलाओं में आबद्ध हो कर चलने के पक्षपाती नहीं थे। उनकी यह स्वातन्त्र्य-प्रियता छन्द के क्षेत्र में भी दृष्टिगोचर होती है। उदाहरणार्थ, गायत्री के प्रत्येक पाद में आठ वर्णों के हिसाब से उसमें कुल चौबीस वर्ण होते हैं, किन्तु सर्वत्र ऐसा नहीं होता। प्रसिद्ध गायत्री मन्त्र के प्रथम पाद '*तत्सवितुर्वरेण्यम्*' में सात अक्षर ही हैं। अतः इसके लिए 'तत्सवितुर्वरेणियम्' उच्चरित करने का विधान है। इससे आठ अक्षरों की गणना पूरी हो जाती है। कहीं-कहीं तो 'इन्द्र' को 'इन्दर' की तरह उच्चरित करने की व्यवस्था है। इसी कारण वैयाकरणों ने वैदिक छन्दों को 'छान्दस प्रयोग', अर्थात् 'नियम-शैथिल्य' की संज्ञा दी है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लौकिक संस्कृत में वैदिक छन्दों से भिन्न प्रणाली का आश्रय लिया जाता है। वैदिक छन्दों की मुख्य दो विशेषताएँ थीं—अक्षर-संख्या का प्राधान्य और स्वरों के उतार-चढ़ाव का नियमन। इसके विपरीत संस्कृत-वर्णवृत्त में निश्चित संख्या में वर्णों को रखकर और वर्ण-संख्या में एक निश्चित क्रम को रखते हुए छन्दों का रचना-विधान निर्मित किया जाता है। लघु-गुरु स्वर के विचार से यथाक्रम वर्णों को रखकर छन्द का निर्माण किया जाना संस्कृत-वृत्तों की विशेषता है। उदाहारणार्थ, आठ गुरु वर्णों को रख देने से 'विद्युन्माला' छन्द बन जाता है। इसी को शास्त्रीय शैली में कहा जाता है : *मो मो गो गो विद्युन्माला,* अर्थात् दो मगण और दो गुरु वर्णों के योग से यह छन्द निर्मित होता है। अतः निश्चित संख्या में लघु-गुरुवर्णों को एक निश्चित क्रम में संगठित करके और उनमें यथाक्रम वृद्धि के द्वारा विविध छन्दों का निर्माण और रचना-विधि का निर्धारण वार्णिक वृत्तों की मुख्य आधार-शिला है। इस प्रकार के लघु-गुरु के क्रमिक प्रयोग के द्वारा संगीत-सृष्टि की योजना वैदिक छन्दों में नहीं थी।

छन्द में लय, गति और लक्षण-निर्देश की सुविधा को दृष्टि में रखकर संस्कृत के छन्दःशास्त्रियों ने गणों की व्यवस्था की है। तीन वर्णों के नियत क्रमवाले समूह को गण कहते हैं : *त्रयाणामक्षराणां समूहो गण उच्यते।*[१८] आचार्य पिंगल ने 'छन्दःसूत्रम्' के प्रथम दस सूत्रों में आठ गणों एवं लघु-गुरु के स्वरूप का विवेचन किया है। म, भ, ज, स, न, य, र, त—ये आठ वर्ण ही गण हैं।

सर्वगुर्मौ मुखान्तलौ यरावन्तगतौ सलौ।
ग्मध्याद्यौज्मौ त्रिलोनोऽष्टौ भवन्त्यत्र गणास्त्रिकाः॥

(वृत्तरत्नाकर, १.७)

इन गणों के द्वारा पादगत वर्ण-संख्या तथा मात्रा-संख्या का बोध सहजरूप में हो जाता है।

छन्दों में गण-प्रयोग के दो रूप मिलते हैं। कुछ छन्द ऐसे होते हैं, जिनमें निश्चित संख्या में गण-व्यवस्था रहती है और उनमें आगे-पीछे कोई भी लघु या गुरु वर्ण नहीं रखा जा सकता। जैसे सवैया छन्द में आठ सगण रहते हैं। इनके द्वारा छन्द में लय एवं प्रवाह का निश्चित क्रम रहता है। यदि इसमें कुछ भी जोड़ दिया जाय, तो छन्द के लय में अन्तर आ जायगा।

गण-प्रयोग का एक दूसरा रूप यह है जिसमें किसी एक ही गण की आवृत्ति नहीं की जाती, वरन् भिन्न-भिन्न गणों को विशेष लय और प्रवाह के आधार पर सुनिश्चित किया जाता है। जैसे द्रुतविलम्बित में नगण, भगण, भगण और रगण का क्रम रहता है। इसमें भिन्न भिन्न गणों को निश्चित संख्या में एक विशेष क्रम के साथ व्यवस्थित किया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गया है। इन गणों के महत्त्व का अनुमान इसी से किया जा सकता है कि छन्दःशास्त्र के आचार्यों ने इसकी उत्पत्ति ब्रह्म से मानी है और 'वृत्तरत्नाकर' के अनुसार इन गणों से सम्पूर्ण वाङ्मय उसी प्रकार व्याप्त है, जिस प्रकार विष्णु से त्रैलोक्य।

संस्कृत वर्णवृत्तों में वैदिक ऋषियों की स्वातन्त्र्यप्रियता का स्थान नियमों की कठोरता ने ले लिया, जिसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि ये छन्द-प्रयोग शिक्षित लोगों की ही सम्पत्ति बनकर रह गये और जन-सामान्य इनसे दूर होता गया। जन-सामान्य ने अपनी भावयित्री प्रतिभा की सन्तुष्टि के लिए भिन्न मार्ग का आश्रय लिया, जिसकी स्वाभाविक परिणति प्राकृत और अपभ्रंश के छन्दों के रूप में हुई।

प्रारम्भ में प्राकृत जनसामान्य की बोली थी और उसमें काव्य-प्रणयन जनसामान्य के द्वारा ही होता था। भगवान् बुद्ध एवं महावीर ने अपना दिव्य उपदेश प्राकृत में ही दिया था। बाद में इसके लालित्य से प्रभावित होकर पण्डित-समुदाय भी इसकी ओर आकृष्ट हुआ और इसमें अबाध रूप से श्रेण्य साहित्य की सृष्टि होने लगी। आचार्यों ने भी जनसामान्य में लोकप्रिय छन्दों को शास्त्रीय जामा पहनाने की चेष्टा की। गाथा, जिसे संस्कृत में आर्या कहा गया, प्राकृत का सबसे पुराना छंन्द है। भरत ने अपने नाट्यशास्त्र (१६.१५१-१६३) में गाथा और इसके भेदोपभेदों का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया है। संस्कृत के आचार्यों ने आर्या के रूप में गाथा एवं अन्य छन्दों को अपना अवश्य लिया, किन्तु इनकी प्रकृति वार्णिक नहीं, बल्कि मात्रिक है। डा. वेलंकर की मान्यता है कि संस्कृत के अर्धसमवृत्तों का प्रचलन प्राकृत के अनुकरण पर ही हुआ है और कुछ नये मात्रावृत्त जो संस्कृत में आये, वे प्राकृत-छन्दों के असफल अनुकरण-मात्र हैं।

तालवृत्त

संस्कृत-छन्दों से भिन्न लोक में छन्द की जो प्रणाली विकसित हो रही थी, वह ताल पर आश्रित थी। इन छन्दों में गीतात्मकता अधिक होती थी और लोकरंजन के लिए ये लोककवियों या लोकनटों के द्वारा गाये जाते थे। ये छन्द ताल-प्रधान थे। संगीत में दो तत्त्व प्रधान होते हैं—स्वर और ताल। संगीतशास्त्री स्वर को अधिक महत्त्व देते हैं और जन-सामान्य ताल को। स्वर में सूक्ष्मता होती है और ताल में अपेक्षाकृत स्थूलता। आज भी जन-जातियाँ नृत्य-गीतादि में ताल को आधार बनाकर ही अपने हृदय की आनन्दानुभूति को अभिव्यक्त करती हैं। तालवृत्तों में ताल की बलाघातपूर्ण नियमित आवृत्ति होती है, स्वरों के आरोह-अवरोह को न्यून महत्त्व दिया जाता है। इसके अतिरिक्त अक्षरों, वर्णों या लघु-गुरु की नियमित आवृत्ति का भी, जैसा कि संस्कृत वर्णवृत्तों में होता है, इसमें कोई स्थान नहीं होता। वर्ण-संगीत और स्वर-संगीत शिक्षित वर्ग की चीज है और तालसंगीत लोक-सामान्य की। लोकनृत्य में जिस प्रकार ताल के आधार पर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अंग-संचालन होता है, इसी प्रकार तालवृत्त में ध्वनि की तालबद्धता होती है। इसका आधार कालमात्रा है। एक लघुवर्ण के उच्चारण में लगनेवाले समय को कालमात्रा कहते हैं। ताल समय या काल की निश्चित इकाई का सूचक होता है। इसीसे डा. वेलंकर ने ताल की परिभाषा दी है : "संगीत, नृत्य या छन्दोरचना में समान काल-परिमाण के अन्तर से बार-बार आनेवाली यति के बलाघात द्वारा नियन्त्रण को ताल कहते हैं।"[१९]

वर्णमात्रा में वर्णों का शुद्ध उच्चारण अपेक्षित होता है, किन्तु तालमात्रा में वर्णों का शुद्ध उच्चारण अनिवार्य नहीं है। इसमें ताल के आघात के हिसाब से वर्णों का उच्चारण होता है। कभी-कभी ताल के आग्रहवश वर्णों का उच्चारण नहीं भी होता है।

तालवृत्त को एक प्रकार का मुक्तछन्द कह सकते हैं, जिसमें सभी चरणों की लम्बाई एक समान नहीं होती। किसी चरण में दो ताल होते हैं तो किसी में अधिक या कम, किन्तु नियम यह है कि एक ही ताल की आवृत्ति बार-बार होनी चाहिए, जिससे ताल एवं लय में व्यवधान न हो।

प्राकृत-अपभ्रंश में ऐसे छन्दों की भरमार थी, जो मूलतः तालवृत्त थे, किन्तु आचार्यों ने उनका संस्कार कर उन्हें वर्णवृत्त या मात्रावृत्त का रूप दे दिया। दोहा, पज्झटिका, पादाकुलक आदि छन्द तालवृत्त ही थे, जो मात्रावृत्त के रूप में परिणत हो गये। इस प्रकार तालवृत्त जो प्रारम्भ में जनसमुदाय की चीज थी, आचार्यों के हाथों में पड़कर क्रमशः मात्रिक वृत्त का रूप धारण करने लगा।

मात्रावृत्त

किसी ध्वनि के उच्चारण में समय की जो मात्रा लगती है, उसे मात्रा या मात्राकाल कहते हैं। किसी ध्वनि के उच्चारण में कम समय लगता है, किसी में बहुत कम, किसी में अधिक और किसी में बहुत अधिक। कम समयवाली मात्रा ह्रस्व, अधिक समयवाली दीर्घ और उससे भी अधिक समयवाली प्लुत कही जाती है। इसी आधार पर मोटे रूप में मात्रा के पाँच भेद किये गये है : ह्रस्वार्ध, ह्रस्व, ईषत् दीर्घ, दीर्घ और प्लुत। ये विभाग मोटे रूप में हैं, मशीनों के आधार पर तो इसके पचासों भेद किये जा सकते हैं। नारदशिक्षा, ऋक्-प्रातिशाख्य और व्याकरण-ग्रन्थों में इनका सूक्ष्म अध्ययन किया गया है। छन्दःशास्त्र में इसके दो ही भेद किये गये हैं : ह्रस्व और दीर्घ। दीर्घ का उच्चारणकाल ह्रस्व की अपेक्षा दूना स्वीकार किया गया है। इस प्रकार ह्रस्व (।) अर्थात् लघुवर्ण में एक मात्रा और दीर्घ (ऽ) अर्थात् गुरु वर्ण में दो मात्राएँ गिनी जाती हैं।

मात्रा-गणना पर आधारित छन्द मात्रिक कहे जाते हैं। इनमें वर्णों की संख्या भिन्न हो सकती है, किन्तु मात्राओं की संख्या निश्चित होती है। प्राकृत-अपभ्रंश में मात्रा छन्दों का ही प्राधान्य रहा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मात्रिक छन्दों की प्रकृति वैदिक और लौकिक संस्कृत के छन्दों की प्रकृति से सर्वथा भिन्न है। छन्दोगत सांगीतिक सौन्दर्य की सृष्टि के लिए यह न तो वैदिक छन्दों की तरह स्वरों के उतार-चढ़ाव पर निर्भर है और न वार्णिक वृत्तों के समान लघु-गुरु वर्णों की निश्चित आवृत्ति पर, बल्कि इसका आधार गति या लय है। लय का अनुसरण ही मात्रिक छन्द में प्रधान रहता है। अतः संस्कृत वर्णवृत्तों की तरह गण इसकी इकाई नहीं है, बल्कि इसकी इकाई मात्रा है। इसलिए इसमें गणों का महत्त्व न्यून हो जाता है।

संस्कृत के आचार्यों ने तीन प्रकार के मात्रिक छन्दों की चर्चा की है—द्विपदी, चतुष्पदी और अर्धसमचतुष्पदी। द्विपदी का प्रतिनिधित्व गाथा छन्द करता है। चतुष्पदी मात्रावृत्त के अन्तर्गत मात्रासमक वर्ग में आनेवाले छन्दों की गणना की जाती है। जैसे उपचित्रा, विश्लोक, चित्रा, वानवासिका आदि। अर्धसमचतुष्पदी छन्दों का प्रतिनिधित्व वैतालीय वर्ग के छन्द करते हैं। कुछ ऐसे भी छन्द हैं, जो चतुष्पदी हैं, किन्तु मिश्रित वर्ग के हैं; जैसे नटचरण, नृत्तगति, अचलधृति, शिखा, खंज आदि। संस्कृत आचार्यों ने इन मात्रिक छन्दों के परिमापन के लिए चतुर्मात्रिक गणों (ऽऽ, ।ऽ ।, ऽ ॥, ॥ऽ, ॥ ॥) का प्रयोग किया है। आचार्य हेमचन्द्र ने अन्यमात्रिक गणों के मापन के लिए दो से छह मात्राओं तक के गण स्वीकार किये हैं :

द्वित्रिचतुः पञ्चषट्कला दतचपषा द्वित्रिपञ्चाष्टत्रयोदशभेदमात्रागणाः ॥ (छन्दोऽनु. १.३)

द गण—दो भेद (ऽ, ॥)

त गण—तीन भेद (।ऽ,ऽ ।, ।।।)

च गण—पाँच भेद (ऽऽ, ॥ऽ, ।ऽ ।, ऽ ॥, ।।।।)

प गण—आठ भेद (।ऽ ।, ऽ ।ऽ, ।।।ऽ, ऽऽ ।, ॥ऽ ।, ।ऽ ॥, ऽ ।।।, ।।।।।)

ष गण—तेरह भेद (ऽऽऽ, ॥ऽऽ, ।ऽ ।ऽ, ऽ ॥ऽ, ।।।।ऽ, ।ऽऽ ।, ऽ ।ऽ ।, ।।।ऽ ।, ऽऽ ॥, ।ऽ ।।।, ऽ ।।।।, ।।।।।।)

हेमचन्द्र ने द्विपदी, चतुष्पदी और षट्पदी का उल्लेख किया है। कविदर्पणकार ने इनसे विस्तृत फलक को स्वीकार करते हुए इसके ग्यारह भेद किये हैं : द्विपदी, चतुष्पदी, पंचपदी, षट्पदी, सप्तपदी, अष्टपदी, नवपदी, दशपदी, एकादशपदी, द्वादशपदी और षोडशपदी। इनमें कुछ ऐसे भी भेद हैं, जिन्हें मिश्र या प्रगाथ छन्द कहते हैं।

प्राकृत-अपभ्रंश में वर्णवृत्त :

प्राकृत-अपभ्रंश के छन्द मुख्य रूप में मात्रावृत्त ही हैं, किन्तु इनके कवियों ने संस्कृत के वर्णवृत्तों को भी अपने काव्यों में स्थान दिया है। वर्णवृत्तों में बृहत् समुदाय में से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन कवियों ने उन्हीं को स्वीकार किया है, जो तालवृत्त या मात्रावृत्त के रूप में परिवर्तित किये जा सकते हों। वर्णवृत्त को इन कवियों ने मात्रावृत्त के रूप में ही व्यवहृत किया है। उदाहरण के लिए भुजंगप्रयात छन्द को लिया जा सकता है। इस प्रसिद्ध वर्णवृत्त में चार यगण (।ऽऽ) होते हैं। अपभ्रंश कवियों ने एक गुरु के स्थान पर दो लघु रखने की स्वतन्त्रता सर्वत्र ली है। एक यगण में पाँच मात्राएँ होती हैं। अतः इसके एक चरण को पाँच मात्राओं के ताल में गाया जाता है और पाँच मात्रा के बाद ताल पड़ता है। इस तरह का प्रयोग कडवक-शैली में रचित प्रबन्ध-काव्यों में बहुत हुआ है।

अपभ्रंश-काव्यों में वर्णवृत्त-प्रयोग की एक विशिष्टता यह है कि उनमें यमक या अन्त्यानुप्रास की योजना सामान्यतः होती है। स्वयम्भू ने संस्कृत के वर्णवृत्तों को मात्रिक मानकर ही उनका विवेचन किया है, वर्णवृत्त मानकर नहीं।

वैदिक ऋषियों की तरह प्राकृत-अपभ्रंश के कवि भी छन्द के क्षेत्र में उन्मुक्तता के प्रेमी ही रहे। अपने अविकसित रूप में ये छन्द लोक में प्रचलित रहे होंगे, किन्तु जब पण्डितों ने इन्हें अपना लिया, तब इन्हें व्यवस्थित करने एवं चिरस्थायी रूप देने के लिए नियमों-उपनियमों द्वारा इन्हें नियन्त्रित करने की चेष्टा की । इतना होते हुए भी इन छन्दों को देखने से ऐसा लगता है कि इनकी मूल प्रकृति स्वतन्त्रता की है। नियन्त्रण-रेखा के भीतर रहते हुए भी इनकी रचनाविधि में कवियों ने कुछ-न-कुछ स्वतन्त्रता अवश्य रखी है। उदाहरण के लिए, प्राकृत-अपभ्रंश में लय को अक्षुण्ण रखने के लिए लघु को दीर्घ और दीर्घ को लघु मानकर पढ़ने की स्वतन्त्रता है। हरिगीतिका २८ मात्राओं का मात्रिक छन्द है, जिसमें १६-१२ मात्राओं पर यति रखी जाती है। कहीं-कहीं १४-१४ मात्राओं पर भी यति मानी गई है। एक विचार तो यह भी है कि ७-७ मात्राओं के चार समूह से भी इसका निर्माण हो जा सकता है। जैसे :

हरिगीतिका हरिगीतिका हरिगीतिका हरिगीतिका ।।

अपभ्रंश-कवियों की छन्दोरचनागत स्वतन्त्रता का एक रूप है दो विभिन्न छन्दों को मिलाकर नवीन छन्दों की सृष्टि। छप्पय, रड्डा, वस्तु, कुण्डलिया, अधिकाक्षर, सोपान, काव्य, चन्द्रायण, रासक आदि छन्द इसी प्रकार के हैं। इन्हें द्विभंगी (Stropic Couplets) भी कहते हैं।

प्राकृत-अपभ्रंश-साहित्य विषय एवं परिमाण, दोनों ही दृष्टियों से विशाल है। आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं, विशेषतः हिन्दी पर इसका कितना प्रभाव पड़ा है, यह बताना व्यर्थ है। इनके प्रभाव का अनुमान हम इसी से लगा सकते हैं कि अधिकांश ऐसे छन्द, जो हिन्दी में बहुत लोकप्रिय रहे हैं, सीधे अपभ्रंश से हिन्दी में आये हैं, संस्कृत से नहीं। दोहा, सोरठा, चौपाई, छप्पय, कुण्डलिया, पद्धरि आदि छन्दों का मूल उत्स

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपभ्रंश रहा है। संस्कृत में इनकी कोई परम्परा नहीं मिलती। अपभ्रंश-साहित्य में तीन प्रकार के बन्ध पाये जाते हैं—दोहाबन्ध, पद्धड़ियाबन्ध और गेय पदबन्ध। इनके अतिरिक्त छप्पयबन्ध और कुडलियाबन्ध भी मिल जाते हैं। इनकी सबकी पूरी परम्परा हिन्दी-साहित्य में जीवन्त रूप में उपलब्ध होती है। इसी से डा. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है:

"इस प्रकार हिन्दी-साहित्य में प्रायः पूरी परम्पराएँ ज्यों की त्यों सुरक्षित हैं। शायद ही किसी प्रान्तीय साहित्य में ये सारी-की-सारी विशेषताएँ इतनी मात्रा में और इस रूप में सुरक्षित हों।"[२०]

प्राकृत-अपभ्रंश में निहित छन्द— सम्बन्धी ज्ञान-भाण्डार हमारी संस्कृति एवं हमारे साहित्य की अमूल्य निधि हैं। इसका संरक्षण एवं संवर्धन हमारा राष्ट्रीय नैतिक उत्तरदायित्व है। इसके लिए आवश्यक है कि विश्वविद्यालयों की उच्च कक्षाओं के पाठ्यक्रम में छन्दःशास्त्र को भी स्थान दिया जाय तथा शिक्षण-संस्थाएँ इसके अध्ययन-अध्यापन की सम्यक् व्यवस्था करें। सम्यक् अध्ययन-अध्यापन के अभाव के कारण उच्च कक्षाओं से निकलनेवाले छात्र इस विषय से सर्वथा अनभिज्ञ रह जाते हैं। मुक्तछन्द के आन्दोलन ने भी ऐसी मनोवृत्ति को उत्पन्न करने में सहायता दी है।

आज हिन्दी में शताधिक शोधग्रन्थ प्रतिवर्ष प्रस्तुत हो रहे हैं, किन्तु इनमें से बहुत कम ऐसे हैं, जो छन्दःशास्त्र से सम्बन्धित हों। छन्दोविषयक विवेचनात्मक ग्रन्थ-प्रणयन की ओर से हमारे विद्वान् एकदम उदासीन हैं और यह उदासीनता हमारे साहित्य के विकास के लिए वांछनीय नहीं है।

कोशविज्ञान भाषाविज्ञान की एक महत्त्वपूर्ण इकाई होने के साथ-साथ उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त पूर्वजों की ज्ञान-सम्पत्ति को सुरक्षित रखने एवं प्रोन्नत-प्रचारित करने का महत्त्वपूर्ण माध्यम भी है। भारतवर्ष में कोशग्रन्थों के प्रणयन का इतिहास ईसा के एक हजार वर्ष पूर्व से ही प्राप्त होने लगता है। निघण्टुओं का रचनाकाल लगभग एक हजार वर्ष ईसा-पूर्व है। इसके बाद यहाँ सैकड़ों कोशग्रन्थों का निर्माण हुआ, जिनमें अमरकोश, मेदिनीकोश आदि आज भी महत्त्वपूर्ण हैं। आजकल प्रत्येक विषय के अलग-अलग कोशग्रन्थ प्रकाशित हो रहे हैं, जैसे इतिहास कोश, अलंकार-कोश, भाषाविज्ञान कोश, नाटक कोश, उपन्यासकोश आदि। इन कोशग्रन्थों में तद्विषयक पारिभाषिक शब्दों, घटनाओं एवं तथ्यों का विवरणात्मक एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया रहता है।

प्राकृत-अपभ्रंश-साहित्य के संरक्षण, संवर्द्धन एवं श्रीवृद्धि के लिए आवश्यक है कि जहाँ एक ओर साहित्य की विभिन्न शाखाओं के अध्ययन-अध्यापन की सम्यक्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यवस्था की जाय, वहीं ज्ञान की महत्त्वपूर्ण शाखा छन्दःशास्त्र-विषयक ग्रन्थों के प्रणयन एवं प्रकाशन को भी प्रोत्साहित किया जाय। छन्दःकोश की निर्मिति इस दिशा में एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि सिद्ध हो सकती है।

सन्दर्भ-स्रोत :

१. वाचस्पति गैरोला : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ. ११०

२. युधिष्ठिर मीमांसक : वैदिक छन्दोमीमांसा, पृ. ४३

३. द यूनिवर्सिटी मैनुस्क्रिप्ट्स लाइब्रेरी, त्रिवेन्द्रम्, १९४९ ई.

४. वही, भूमिका VII.

५. डॉ. वेलंकर द्वारा सम्पादित एवं राजस्थान प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान, जोधपुर से प्रकाशित

६. भूमिका, पृ. XXV

७. डॉ. वेलंकर द्वारा सम्पादित तथा कविदर्पण में संकलित

८. डॉ. वेलंकर द्वारा सम्पादित एवं राजस्थान प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान, जोधपुर से सन् १९६२ ई. में प्रकाशित।

९. हिन्दी-काव्यधारा, पृ. २२

१०. डा. हीरालाल जैन : स्वयम्भू एण्ड हिज टू पोएम्स इन अपभ्रंश, नागपुर यूनिवर्सिटी जर्नल नं.१, दिसम्बर १९३५ई., पृ. ७५

११. डा. वेलंकर द्वारा सम्पादित तथा स्वयम्भूच्छन्द में संकलित

१२. डॉ. वेलंकर द्वारा सम्पादित और प्राच्य वि. प्र., जोधपुर से प्रकाशित।

१३. डॉ. एच. डी. वेलंकर द्वारा सम्पादित और भारतीय विद्याभवन, बम्बई द्वारा प्रकाशित, १९६१ई.

१४. डॉ. वेलंकर द्वारा सम्पादित और कविदर्पण में संकलित

१५. प्राकृत-ग्रन्थ-परिषद्, वाराणसी से भोलाशंकर व्यास की टीका के साथ प्रकाशित

१६. पिंगलछन्दःसूत्रम्, ४.८ तथा नारदपुराण, पूर्वभाग २.५७.९

१७. सर्वानुक्रमणी, मैकडोनल-सम्पादित, भाग १

१८. सुवृत्ततिलकम् की प्रभाटीका, चौखम्भा प्रकाशन, प्रथम संस्करण

१९. छन्दोऽनुशासन की भूमिका

२०. हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास, वि. सं. २००९, पृ. १५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आध्यात्मिक रूपक-काव्य और हिन्दी के जैनकवि

श्री अनिलकुमार शर्मा *

आचार्यों ने बहुत सोच-समझकर यह सिद्धान्तवाक्य प्रस्तुत किया—'काव्येषु नाटकं रम्यम्।' वस्तुतः नाटक अरूप पर रूप की तथा निर्गुण पर सगुण की विजय-घोषणा है।

दृश्य-काव्य को रूपक कहते हैं। कारण स्पष्ट है। सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् रूप का विषय है। रंगमंच पर निर्मित सृष्टि भी रूप को आधार बनाकर खड़ी होती है। इस सृष्टि का आनन्द उठानेवाली चक्षुरिन्द्रिय का विषयरूप ही है। इसलिए इस काव्य को रूपक कहना सर्वथा साभिप्राय है।

यों तो रूपकों के भाग, डिम, व्यायोग आदि दस भेद बताये गये हैं तथा 'रूपक' शब्द का विशिष्ट अर्थों में विनियोग किया गया है, किन्तु मेरा तात्पर्य इन सबसे न होकर रूपक काव्य की उस विशिष्ट विधा से है, जिसमें अमूर्त्त भावों को नाटकीय पात्र के रूप में उपस्थित किया जाता है। इस साहित्य को रूपक-कथा के नाम से भी अभिहित किया गया है। संस्कृत का 'प्रबोधचन्द्रोदय', बनारसीदास का 'मोह-विवेक-युद्ध', पन्तजी की 'ज्योत्स्ना' आदि इसी कोटि की रचनाएँ हैं। इस शैली की रचना को सांकेतिक और अन्योक्ति-शैली की रचना भी कहा गया है। डॉ. दशरथ ओझा इसे प्रतीक नाटक (Allegorical Drama) कहते हैं।

रूपक-शैली का विकासात्मक रूप :

रचना की प्रक्रिया में रचनाकार का अनुभूत सत्य कभी-कभी इतना असीम हो जाता है कि भाषा की ससीमता उसे अपने में समाहित करने में असमर्थ हो जाती है। ऐसी परिस्थिति में कलाकार उस भाषा का प्रयोग करने लगता है, जो रहस्यात्मक होती है और ऊपरी अर्थ से भिन्न अभिप्राय को द्योतित करनेवाली होती है। इस प्रकार की भाषा रूपकात्मक, ध्वन्यात्मक और सांकेतिक होती है। अपनी एक कविता में किसी मरणासन्न महिला के वर्णन के प्रसंग में यीट्स लिखते हैं :

---

* ग्राम व पो. गउडाढ़, जिला : भोजपुर (बिहार)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"जब उस रमणी की आत्मा अपने निर्दिष्ट नृत्य-प्रदेश को उड़ चलती है, तब अपनी वाणी द्वारा नहीं, अपितु युवाकाल के स्वप्नों के बीच बनी असंस्कृत भाषा या संकेत, जिसके द्वारा मैं प्रकट कर सकता हूँ, उसे प्रत्यक्ष होने दो।"

इस प्रकार की भाषा ही निगूढ़ सत्य को काव्य का रूप प्रदान करती है। इस प्रकार की शिल्प-विधि भारतीय-साहित्य के लिए कोई नवीन बात नहीं है। वैदिक लौकिक संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश तथा आधुनिक आर्यभाषाओं के साहित्य में इस प्रकार की रूपक-शैली का क्रमिक विकास देखा जा सकता है।

भारतीय-परम्परा किसी भी शास्त्र के प्रवर्तन का मूल उत्स वेदों में खोजती है। भारतीय चिन्तक इतना विनम्र होता है कि अपने को किसी भी ज्ञान का प्रवर्तक नहीं मानता। इसके विपरीत उसका आस्तिक हृदय यह स्वीकार करता है कि ज्ञान का बीज मूल रूप में वेदों में सुरक्षित है। जो उतने अधिक आस्तिक नहीं हैं, वे भी मानव की प्रथम साहित्यिक कृति होने के कारण वेदों के महत्त्व को स्वीकार करते हैं। वेदों में अनेक रूपक-कथाएँ निबद्ध हैं, जिनमें अधिकांश अलंकारिक रूप में आई हैं। उदाहरण के लिए, ऋग्वेद के प्रसिद्ध यम-यमी-संवाद (ऋ १०.१०), पुरूरवा-उर्वशी-संवाद (१०.९५), सरमा-पणि-संवाद (१०.१०८), विश्वामित्र और नदियों के संवाद (३.३३) को लिया जा सकता है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने शुनःशेप की कथा (ऋ क्. १.२४.१) को भी एक आलंकारिक रूपक ही माना है। वेदों के मन्त्रभाग और ब्राह्मणभाग में अमूर्त्त भावनाओं को मूर्त्त रूप में व्यक्त करनेवाली अनेक रूपक-कथाएँ आई हैं। ये कथाएँ किसी सूक्ष्म भावसत्ता को व्यक्त करना चाहती हैं। शतपथब्राह्मण में उल्लिखित इन्द्र-वृत्रासुर-संघर्ष, अहल्या-इन्द्र-प्रसंग, मनु-इडा-श्रद्धाप्रसंग, देवासुर-संग्राम आदि कथाएँ रूपकात्मक शैली में ही अभिव्यक्त हैं।

उपनिषदों में भी ब्रह्म एवं जीव की जिज्ञासा से उद्भूत आकांक्षाओं की रहस्यात्मक अभिव्यक्ति आध्यात्मिक रूपकों के माध्यम से हुई है। कठोपनिषद् (३.३४) में शरीर को रथ, आत्मा को रथी, बुद्धि को सारथी, मन को रास तथा इन्द्रियों को घोड़ा कहा गया है। बृहदारण्यक उपनिषद् (६.१४) में यज्ञ का रूपक बाँधकर स्त्री का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। उपनिषदों में अक्षर, शब्द और वाक्य—तीनों की प्रतीक-योजना ही है और ये प्रतीक-कथा को अभिनव अर्थ से मण्डित कर देते हैं।

वेदों के बाद यदि किसी ग्रन्थ की प्रतिष्ठा है तो वह आदिकाव्य रामायण की ही है। उसे वेदान्त-भाग का उपबृंहण-रूप कहा गया है—*वेदोपबृंहणार्थाय तावग्राह्यतः प्रभुः*। वाल्मीकिरामायण में रूपक-तत्त्व का समावेश कितना हुआ है, यह कहना कठिन है। बेवर रामायण को एक ऐसा रूपक-काव्य मानते हैं, जो जातीय जीवन के शाश्वत सिद्धान्तों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर आधारित है। आद्यशंकराचार्य ने अपने 'आत्मबोध' नामक छोटे ग्रन्थ में रामकथा का आध्यात्मिक अर्थ किया है।

महाभारत भारतीय-जीवन में घुली-मिली ऐसी अनन्त कथाओं का अक्षय स्रोत है, जिनके संकेत बड़े गहरे हैं और जो मानव-जीवन की गहरी समस्याओं को अपने में छिपाये हुए हैं। भीष्म, युधिष्ठिर, भीम, दुर्योधन—ये कुछ नाम ऐसे हैं, जो प्रतीकात्मक से लगते हैं और इन नामों में ही व्यक्तित्व की समस्त रेखाएँ उभर आती हैं। कुरुक्षेत्र की धर्मभूमि में लड़े जानेवाले महाभारत को गाँधीजी ने रूपक ही माना है।

"कुरुक्षेत्र का युद्ध तो निमित्त मात्र है। सच्चा कुरुक्षेत्र हमारा शरीर है। यह कुरुक्षेत्र है और धर्मक्षेत्र का युद्ध तो निमित्त मात्र है। यदि इसे हम ईश्वर का निवासस्थान समझें और बनायें तो यह धर्मक्षेत्र है"। (गीतामाता)

महाभारत के आदिपर्व में धर्म की दस पत्नियाँ मानी गई हैं—कीर्ति, लक्ष्मी, धृति, मेधा, पुष्टि, श्रद्धा, क्रिया, बुद्धि, लज्जा, मति। उसे तीन पुत्र हैं—शम, काम और हर्ष। पुत्र-वधुओं के नाम हैं—प्राप्ति, रति और नन्दा। यह वर्णन आलंकारिक और रूपकात्मक है।

कालिदास के 'कुमारसम्भवम्' का काम-दहन-प्रसंग एक ऐसा रूपक है, जिसमें धर्म, दर्शन एवं कला का अद्भुत सम्मिश्रण हुआ है। 'मेघदूत' कवि के जीवन का रूपक है। कवि के व्यक्तिगत जीवन का विरह ही 'मेघदूत' के यक्ष का विरह बन गया है। इसी प्रकार 'शाकुन्तलम्' की कथा के आवरण में एक सांकेतिकता है और उसकी प्रकृति की प्रत्येक सिहरन में मनुष्य के विचारों एवं कर्त्तव्यों का स्पष्ट समर्थन या विरोध है। भवभूति के 'उत्तररामचरित' में तमसा, मुरली आदि नदियाँ तथा पृथ्वी, वनदेवता, वनदेवी आदि प्राकृतिक उपकरण मानव के रूप में उपस्थित हैं और वे मानवी सुख-दुःख से द्रवित होते दिखाये गये हैं।

संस्कृत-साहित्य में रूपक-नाटक की परम्परा को पूर्णतया विकसित करने का श्रेय यदि एकमात्र किसी ग्रन्थ को है, तो वह है कृष्णमिश्र रचित 'प्रबोधचन्द्रोदय'। वस्तुतः 'प्रबोधचन्द्रोदय' वह पर्वतश्रृंग है, जहाँ से रूपक-नाटकों के चढ़ाव और उतार, दोनों को आसानी से देखा जा सकता है। यह एक ऐसी मौलिक कृति है, जिसने संस्कृत-साहित्य की नाटक-परम्परा में अभूतपूर्व क्रान्ति उपस्थित कर दी, जिससे प्रभावित होकर बाद में रूपक-नाटकों की एक परम्परा ही विकसित हो गई। 'प्रबोधचन्द्रोदय' के पात्र हैं—विवेक, सन्तोष, वैराग्य, संकल्प, काम, क्रोध, लोभ, मन, श्रद्धा, शान्ति, करुणा, मैत्री, क्षमा, हिंसा, तृष्णा आदि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'प्रबोधचन्द्रोदय' के पश्चात् की दूसरी महत्त्वपूर्ण कृति है यशपाल-रचित 'मोहपराजय'। इसका आधार जैन धर्म एवं दर्शन है।

महाकवि वेंकटनाथ का 'संकल्प-सूर्योदय' कलात्मकता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इसमें कवि ने विशिष्टाद्वैत के सिद्धान्तों का प्रतिपादन बड़ी मार्मिकता से किया है।

महाप्रभु चैतन्य के जीवन-वृत्तान्त को आधार बनाकर सन् १५७९ ई. में कविकर्णपूर ने 'चैतन्यचन्द्रोदय' की रचना की। यद्यपि नाटक के गायक महाप्रभु चैतन्य हैं, तथापि इसमें वैराग्य, भक्ति, अधर्म आदि अमूर्त्त भावनाओं का पात्रीकरण किया गया है।

१६वीं शताब्दी में भूदेव शुक्ल ने 'धर्मविजय' नाटक की रचना की। इसके नायक धर्मराज एवं प्रतिनायक अधर्मराज हैं। धर्मराज के सैनिक हैं—अहिंसा, सत्य, दान, तप, दया, शान्ति आदि। अधर्म का पुत्र वर्णसंकर और पुत्रवधू नीचसंगति है।

१८वीं शताब्दी में श्रीकृष्णदत्त मैथिल नें 'पुरंजनचरितम्' नामक रूपक शैली का नाटक लिखा। इस नाटक का आधार श्रीमद्भागवत और प्रतिपाद्य विष्णुभक्ति है।

१८वीं शताब्दी में ही आनन्दराय भरवी ने 'विद्या-परिणय' तथा 'जीवानन्दनम्' नामक दो रूपक नाटक लिखे। प्रथम में जैन, चार्वाक आदि मृत पात्र के रूप में उपस्थित हैं। द्वितीय ग्रन्थ में आयुर्वेद के सिद्धान्तों का साहित्यिक प्रतिपादन हुआ है। ग्रन्थ के नायक विज्ञानशर्मा और प्रतिनायक राजयक्ष्मा हैं। सन्निपात, गुल्म, कुष्ठ आदि रोग पात्र के रूप में आये हैं।

डॉ. दशरथ ओझा नें अपने 'हिन्दी नाटक उद्भव और विकास' में 'अमृतोदय', 'श्रीदामाचरित' तथा 'यतिराज' नाटकों का भी उल्लेख किया है।

हिन्दी में रूपक-शैली के काव्यों का विकास :

हिन्दी में दो प्रकार के रूपक-काव्यों का विकास हुआ—अनुवाद तथा स्वतन्त्र। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसी भी रचनाएँ हैं, जो संस्कृत के ग्रन्थों से प्रभावित तो अवश्य हैं, किन्तु उनमें कवि की अपनी प्रतिभा का भी योगदान है।

संस्कृत के जिन ग्रन्थों का अनुवाद हुआ, उनमें दो रचनाएँ प्रमुख हैं—प्रबोधचन्द्रोदय और ज्ञानसूर्योदय। इनमें प्रथम अजैन है तथा दूसरी जैन। यों 'प्रबोधचन्द्रोदय' के बीस से अधिक अनुवाद हुए हैं, किन्तु सबसे प्राचीन छायानुवाद (सन् १५४४ ई.) मल्हकवि की है, जो ब्रजभाषा-पद्य में है तथा जिसमें दोहा और चौपाई का प्रयोग है। यद्यपि सम्पूर्ण अनुवाद पद्य में है, किन्तु पद्य में ही नाटकीयता भर देने की चेष्टा कवि ने की है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'प्रबोधचन्द्रोदय' का दूसरा महत्त्वपूर्ण अनुवाद महाराज यशवन्तसिंहजी का है। यह अनुवाद गद्य-पद्य मिश्रित व्रजभाषा में है।

इन दोनों अनुवादों के अतिरिक्त अनाथदास, सुरतिमिश्र, व्रजवासीदास, घासीराम आदि के अनुवाद भी प्रसिद्ध हैं। 'प्रबोधचन्द्रोदय' के अनुवादों की यह परम्परा बीसवीं शती तक चली आयी है। बीसवीं शताब्दी में पं. विजयानन्द त्रिपाठी ने इसका अनुवाद प्रस्तुत किया।

'ज्ञानसूर्योदय' जैन सम्प्रदाय के सिद्धान्तों पर आधारित है। अतः इसके मुख्य अनुवाद जैनों द्वारा हुए।

हिन्दी में कुछ ऐसी भी रचनाएँ हैं, जो मूल ग्रन्थ पर आधारित हैं, किन्तु उनके निर्माण में कवि की प्रतिभा का भी योगदान है। ऐसी रचनाओं में कवि केशवदास-रचित 'विज्ञानगीता', जनगोपालदास-कृत 'मोह-विवेक-युद्ध', कवि लालदास की रचना 'मोह-विवेक-युद्ध', देवकवि रचित 'देवमाया-प्रपंच' आदि की गणना की जा सकती है।

आध्यात्मिक रूपक और जैनकवि :

आध्यात्मिक रूपकों के निर्माण-क्षेत्र में हिन्दी के जैन रचनाकारों का योग अप्रतिम है। इस क्षेत्र में महाकवि बनारसीदास, भैया भगवतीदास, पाण्डे जिनदास, कुमुदचन्द्र, अजयराज, सुन्दरदास, पाण्डे रूपचन्द, हर्षकीर्त्ति आदि की गणनां की जा सकती है।

हिन्दी-जैन-साहित्य के इतिहास में महाकवि बनारसीदास का स्थान मूर्द्धन्य है। इन्होंने मोहविवेकयुद्ध[१], परमार्थ-हिंडोलना[२], अध्यात्मफाग[३], तेरह काठिया[४], भवसिन्धु चतुर्दशी[५], नाटक समयसार[६] जैसे आध्यात्मिक रूपक-काव्यों की रचना की है।

'मोहविवेकयुद्ध' में मोह और विवेक नामक दो प्रकृतियों के संघर्ष के माध्यम से असत् पर सत् की विजय दिखाना रचनाकार का लक्ष्य है। इस रचना के आधार-ग्रन्थ का उल्लेख करते हुए स्वयं कवि ने स्वीकार किया है कि—उसने अपने पूर्ववर्ती कवियों मल्ह, लालदास तथा गोपाल की रचनाओं का सार लेकर इस ग्रन्थ की रचना की है।

पूरब भए सु कवि मल्ह, लालदास गोपाल।
मोहविवेक किएसु तीन्हि, वाणी वचन रसाल॥
तिनि तीनहु ग्रंथानि महा, सुलप सुलप संधि देख।
सारभूत संक्षेप अरु, सोधि लेत हौं सेष॥

(मोहविवेकयुद्ध पृ. २-३)

'परमार्थ-हिंडोलना' में कवि ने चेतन राजा को हर्ष के हिंडोले पर झूलने और अपरिमित आत्मशान्ति का अनुभव करने की शिक्षा दी है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'अध्यात्म-फाग' में कवि ने आध्यात्मिक वसन्त में सुरुचि की सुगन्ध पर मन-मधुकर के मँड़राने, सुमति-कोकिल के गाने, जड़ता-जाड़ के निःशेष हो जाने, माया-रात्रि के लघु हो जाने, संशय-शिशिर के सम्राट् हो जाने आदि की बातें की हैं।

'तेरह कालिया' में तेरह ऐसे ठगों का वर्णन है, जो आत्मराज्य की सुख-शान्ति में व्यवधान उत्पन्न करने में सक्रिय रहते हैं और रत्नत्रय का अपहरण कर जीवात्मा को तीन तेरह कर देते हैं। वे ठग हैं :

जूआ आलस शोक भय, कुकथा कौतुक कोह।
कृपण बुद्धि अजानता, भ्रम, निद्रा, भय, मोह॥

(तेरहकाठिया, छन्द ३)

'नाटक समयसार' आचार्य कुन्दकुन्द की प्राकृत-रचना 'समयसार' पर आधारित होकर भी सर्वथा स्वतन्त्र ग्रन्थ है। अनादिकाल से इस हृदय में भ्रमरूप महा अज्ञान की विस्तृत नाट्यशाला स्थापित है। एकमात्र पुद्गल वहाँ सतत नृत्य करता रहता है। सम्यक् आत्मा इस नाटक का प्रेक्षक है। आदि-आदि।

'खटोलनागीत'[७] में कवि रूपचन्द ने खटोले के रूपक द्वारा जीवात्मा को अपनी निद्रा त्याग शिव-देश के लिए प्रस्थान करने की शिक्षा दी है।

'चूनड़ी'[८] भगवतीदास-रचित ३५ पदों का लघुरूपक काव्य है। जैन-साहित्य में चूनरी बहुत लोकप्रिय विधा रही है और इसपर अनेक कवियों ने रचनाएँ की हैं। चूनरी का अर्थ होता है विभिन्न रंगों से निर्मित स्त्रियों के ओढ़ने का दुपट्टा। पं. भगवतीदास रचित 'चूनड़ी' में शिव-सुन्दरी (मुक्तिबद्ध) भगवान् जिनेन्द्र से ऐसी चूनड़ी मँगा देने की प्रार्थना करती है, जो सम्यक्त्व के सूत से निर्मित हो, ज्ञान के जल में रँगी गई हो तथा पच्चीस प्रकार के मलों को दूर कर, अहिंसा की भूमि पर रखकर नियम और संयम की जिसपर इश्तिरी की गई हो।

'चेतनकर्मचरित'[९] भैया भगवतीदास की उत्कृष्टतम रचना है। इसमें नायक चेतन और प्रतिनायक मोह के संघर्ष की कथा बड़े सुन्दर रूप में प्रस्तुत की गई है :

सूर बलवंत मदमत्त महामोह के, निकसि सब सैन आगे जु आये।
मारि धमासान महाजुद्ध बहुक्रुद्ध करि, एकतें एक सातो सवाये॥
वीर सुविवेक ने धनुष ले ध्यान का, मारिके सुभट सातों गिराये।
कुमुक जो ज्ञान की सैन सब संग धसी, मोह के सुभट मूर्छा सवाये॥

(चेतनकर्मचरित, छन्द १२४)॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भैया भगवतीदास कृत 'पंचेन्द्रिय-संवाद'[१०] एक सुन्दर रूपक-काव्य है। इसमें कवि ने राग-द्वेष आदि विकारों की अभिव्यक्ति के लिए पंचेन्द्रिय-संवाद को अंकित किया है।

भैया भगवतीदास-रचित 'मधुबिन्दुक चौपइ', 'सूआ बत्तीसी', 'शंतअष्टोत्तरी' आदि रचनाएँ रूपक-काव्य में परिगणित हैं।

'मनकरहारास'[११] ब्रह्मदीप की रचना है। इसकी हस्तलिखित प्रति-सं. १७७१ की लिखी हुई है। इसमें कवि ने मन की उपमा ऊँट के बच्चे (करभ) से दी है तथा संसाररूपी वन में उगी विषय-वल्लरियों के चरने से उसे मना किया है। जैनकवियों द्वारा रचित अनेक रूपक-काव्य विभिन्न जैन-ग्रन्थागारों के वेष्टनों में बँधे पड़े हैं। यह आश्चर्य का विषय है कि इतनी व्यापक सामग्री के होते हुए भी अभी तक इस विषय का प्रामाणिक एवं सर्वांगपूर्ण विवेचन सम्भव नहीं हो सका है। अतः, आवश्यकता ऐसे सुधी अनुसन्धित्सुओं की है, जो इन असूर्यम्पश्या पोथियों को प्रकाश में लाकर इनका सही मूल्यांकन प्रस्तुत कर सकें।

सन्दर्भ-स्रोत :

१. प्रकाशक : वीर पुस्तक भण्डार, मनिहारों का रास्ता, जयपुर, बी. नि. सं. २४८१

२-५. संकलित : बनारसी विलास, प्रकाशक नाथूराम स्मारक ग्रन्थमाला, जयपुर सं. २०१०

६. प्रकाशक : हिन्दी जैन ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, बम्बई

७. आमेरशास्त्र भण्डार, जयपुर की हस्तलिखित प्रति

८. हस्तलिखित प्रति, आमेरशास्त्र भण्डार, जयपुर

९. ब्रह्मविलास (प्रकाशक-जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई) में संकलित

१०. वही

११. आमेरशास्त्र भण्डार, जयपुर की हस्तलिखित प्रति, गुटका नं. २९२.५४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खण्ड : ३

जैनधर्म एवं दर्शन

Jain Religion & Philosophy

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Pali Sakkāya and Prakrit Atthikāya: A Comparative Study

Dr. Nathmal Tatia[*]

There has been much speculation on the meanings of *Sakkāya* and *Atthikāya*. We shall give a brief summary of the speculations on the meaning of the Pali word *Sakkāya*, and also of the Prakrit word *Atthikāya*.

On Sakkāya

R.C. Childers has derived the word *Sakkāya* as *sva* plus *kāya*, own body or person, in his *A Dictionary of the Pali Language*. Franklin Edgerton, in his *Buddhist Hybrid Sanskrit Grammar and Dictionary*, commenting on the Childers' view and the opinions of other scholars on the subject remarks: There seems little doubt of the etymology and fundamental meaning of this word (probably no one now agrees with Childers that it was *sva-kāya*); and the scholastic fantasies of various schools listed by LaV-P, i.. Abhidh K. V. 15-17 need not be recorded here, though they evidently influenced Tibetan and Chinese interpretations.

Let us now go to the ancient Pali texts to see what they actually mean by the word *Sakkāya*. In the *Majjhimanikāya* (Nālanda) Edition, Vol. I, pp. 369ff, it is said that 'the five groups of grasping are called *Sakkāya* by the Lord (*pañca upādānakkhandhā sakkāyo vutto bhagavatā*), that is to say, the group of grasping after material shape, the group of grasping after feeling, the group of grasping after perception, the group of grasping after the habitual tendencies, the group of grasping after consciousness. These five groups of grasping are called *Sakkāya*.' In this connection the words *sakkāyasamudaya*, *sakkāyanirodha*, and *sakkāyaniraodhagāminī paṭipadā* are also explained. The *sakkāyasamudaya* (arising of *Sakkāya*) is explained as the craving (*taṇhā*) leading to rebirth, accompanied by delight and attachment. The *sakkāyanirodha* (the stopping of *Sakkāya*) is explained as stopping of the craving with no attachment remaining. The *sakkāyaniroda-gāminī paṭipadā* (the course leading to the stopping of *Sakkāya*) is the eightfold noble path, that is to say, perfect view, perfect

* Director, Jain Vishva-Bharati, Ladnun-341 306 (Rajasthan)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

thought, perfect speech, perfect action, perfect way of living, perfect endeavour and perfect mindfulness perfect concentration.

In the above explanation of the *Sakkāya*, the word *kāya*[1] has been explained as *khandha* (group). The mention of material shape (*rūpa*), feeling (*vedanā*), etc., which are reals according to the Therevāda Buddhism, indicates that the word *Sakkāya* stood for "reals etymologically and ontologically, stood for reals that were separate factors, and not parts of a single independent eternal entity.

In the same place of the *Majhimanikāya*, the word *sakkāyadiṭṭhi* is explained as the view of the unenlightened persons who 'regard the material shape as self (*rūpaṃ attato samanupassati*), or self as having material shape (*rūpavantaṃ vā attānaṃ*), or material shape in self (*attani vā rūpaṃ*), or self in material shape (*rūpasmiṃ vā attānaṃ*); and so on, about *vedanā, saññā, saṅkhāra* and *viññāna.*'

The above-mentioned explanations of the words *Sakkāya* and *sakkāyadiṭṭhi* clearly demonstrate that the Buddha did not reject the concept of *Sakkāya*, but refuted *sakkāyadiṭṭhi* as a wrong doctrine. The self or soul as an eternal substance was not endorsed by the Buddha.

Buddhaghosa in his *Aṭṭhasālinī* (Bapat's Edition), V.13, explains the word *sakkāyadiṭṭhi* as the view referring to the five *Khandhas* that are real existents. Such view, however, is only an imaginary concept that is not based on anything real.

> *sakkāyadiṭṭhī ti vijjamānaṭṭhena sati khandhapañcakasaṅkhāte kāye; sayaṃ vā satī tasmiṃ kāye diṭṭhī ti sakkāyadiṭṭhi.*

In the *Abhidharmakośa-bhāṣya*, V.7, of Vasubandhu, the *satkāyadṛṣṭi* is explained as the view about the self and what belongs to the self. The word *sat* means what is decaying (*sīdatīti sat*), the word *kāya*[1] means group, assemblage (*caya*), mass (*saṃghāta*), conglomarate (*skandha*). The word *satkāya* stands for the five groups that are objects of clinging. The word *sat* and *kāya* are used for refuting the ideas of 'eternity' and 'extended whole' respectively. The wrong notion of eternal self or soul is produced by the concept of eternity and the concept of an extended whole. The view attached to what is *sat* (eternal) and *kāya* (extended whole) is *satkāyadṛṣṭi*. All views attached to the polluted objects are grounded on the *Satkāya*. The *satkāyadṛṣṭi* has been propounded as the wrong view about the soul and what belongs to the soul, in order to show that the *satkāyadṛṣṭi* is in fact not in respect of the soul or what belongs to the soul. It has been said by the Lord that the mendicants, the śramaṇas and brāhmaṇas who imagine that they perceive the soul do in fact perceive the five grasping groups:

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ātamadṛṣṭir ātmīyadṛṣṭir vā satkāyadṛṣṭiḥ. sīdatīti sat. cayaḥ kāyaḥ saṃghātaḥ, skandha ity arthaḥ. saccāyaṃ kāyaś ceti satkāyaḥ pañacopādānaskandhāḥ. nityasaṃjñāṃ piṇḍasaṃjñāṃ ca tyājayitum evaṃ dyotitā. etatpūrvako hi teṣv ātamagrāhaḥ. satkāye dṛṣṭiḥ satkāyadṛṣṭiḥ. sarvaiva sāsravālambanā dṛṣṭiḥ satkāye. ātmātmīyadṛṣṭir eva tu satkāyadṛṣṭir uktā, yathā gamyeta satkāyadṛṣṭir iyam nātmani nātmīye veti. yathoktaṃ 'ye kecid bhikṣavaḥ śramaṇā vā brāhmaṇā va ātmeti samanupaśayantaḥ samanupaśayanti sarve ta imān eva pañacopādānaskandhān' iti

On Atthikāya

Very closely similar to the Buddhist concept of *Sakkāya* is the Jaina concept of *Atthikāya*. In the *Bhagavatīsūtra* (Ladnun Edition), VII.10, we find mentioned an assembly of heretical teachers who express their curiosity to know the concept of the five *Atthikāyas* propounded by Samaṇa Nāyaputta (Lord Mahāvīra). The commentator Abhayadevasūri has here explained the meaning of *atthikāya* (Sanskrit *Astikāya*) as follows:

astiśabdena pradeśā ucyante, atas teṣāṃ kāyā rāśayaḥ, astikāyāḥ. atha vā astîty ayaṃ nipātaḥ kālatrayābhidhāyī. tato 'stîti santy āsan bhaviṣyanti ca ye kāyāḥ pradeśarāśayas te astikāyā iti. (Bhagavatī II. 124)

Here the word *asti* is explained as *pradeśa*, space-point; *kāyā*[1] is explained as *rāśi*, a heap or a number; thus *astikāya* stands for a number of space-points, constituting an extended entity. Alternatively, *asti* is explained as an endeclinable standing for three periods of time, viz. present, past and future; and *Kāya*[1] is explained as a body of space-points. The word *astikāya* thus stands for a group of space-points constituting a body that persists through the three periods of time.

In the *Pañcāstikāya* of Kundakunda the *atthikāya* is explained as those entities which have their self-nature *(svabhāva)* together with various qualities and modes. They constitute the three worlds. The *atthikāyas* continue through the three periods of time, are eternal, and continue as substances, signified by their being subject to change:

jesiṃ atthi sahāo
guṇehiṃ saha pajjaehiṃ vivihehiṃ/
te hoṃti atthikāyā
nippaṇṇaṃ jehiṃ tailukkaṃ// (5)
te ceva atthikāyā
tekāliyabhāvaparinadāniccā/
gacchaṃti daviyabhāvaṃ
pariyaṭṭaṇaliṃgasaṃjuttā // (6)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

The word *kāya* in *atthikāya* stands for an entity that has parts. The *Tatvapradīpikā-vṛtti* of Amitacandra on *Pamcāstikāya* (*Kārikā*, 5) says:

Kāyatvākhyaṃ sāvayavatvam avaseyam

Siddhasenagaṇi in his *ṭīkā* on Umāsvā'i's *Tatvārthasūtra-Bhāṣya*, V.1 (p. 317), has explained *astikāya* as follows:

kāyaśabdenāpattir abhidhitsitā' stiśabdena dhrauvyam. āpādanam āpattiḥ, āvirbhāvatirobhāvau, vastuna utpādavināśāv iti yāvat.

A comparative look at the explanations given of the words *sakkāya* in Pali and *atthikāya* in Prakrit shows a very close affinity between the two concepts represented by them. The concept of *atthikāya* must have been prevalent in the days of the Buddha. It was therefore not impossible that the Buddha should adapt the concept of *atthikāya* through the word *sakkāya* to suit his philosophy of *aniccatā* and *anattatā*. Linguisticaly it was but plausible to frame a new word like *sakkāya* as a Buddhist counterpart of the Jaina *atthikāya*. *Asti* and *sat* are derived from the same root and have identical meaning. The Buddha's concept of *sat* was of course quite different from Mahāvīra's concept of *sat*. As an upholder of the doctrine of *anityatā*, the Buddha conceived the *sat* as what is changing, whereas Mahāvīra as an upholder of *nityānityatā* conceived *sat* as possessed of both permanence and change. If this fundamental difference is kept in view, there should be no difficulty in accepting that *atthikāya* and *sakkāya* where etymologically identical, though ontologically possessed of different connotations.

Note :

1. For the ancient connotation of the word *kāya*, vide *Pāṇaini*, III.3.41 and III.3.42. Also *Siddhāntakaumudī: kāyaḥ śarīre. cīyate'sminn asthyādikam iti kāyaḥ.*

■

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनदर्शन का वैशिष्ट्य

*डॉ. रामजी सिंह**

किसी भी दार्शनिक विचार का महत्त्व इस बात में होना चाहिए कि वह प्रकृत वास्तविक समस्याओं पर बिना किसी पूर्वाग्रह के विचार करे। भारतीय दार्शनिक परम्परा में शब्द-प्रमाण का प्रामुख्य इस प्रकार के दार्शनिक महत्त्व को कुछ कम ही कर देता है। लगता है कि किसी विचारधारा की रूपरेखा तो शब्द-प्रमाण प्रस्तुत कर देती है और तत्त्वदर्शन केवल उसे विकसित करता है। लेकिन इसके विपरीत जैन दार्शनिक परम्परा में ऐसा प्रतीत होता है कि साफ स्लेट पर लिख रहा हो। दार्शनिक दृष्टि के विकास के लिए परम्परा-निर्मित पूर्वाग्रहों से मुक्त स्वतन्त्र विचारधारा का निर्माण एक महत्त्व रखता है।

जैन दृष्टि में भी शब्द-प्रमाण है, लेकिन यह जैन दृष्टि का अनुगामी है, पुरोगामी नहीं। इस प्रकार जैन दर्शन की स्वायत्ता परिलक्षित होती है। इसीलिए 'लोकतत्त्व-निर्णय' में हरिभद्र ने कहा है :

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः॥

श्रुति या आगम का जितना ही अधिक बोझ होगा, दर्शन की तेजस्विता उतनी ही कम होगी।

जैनदर्शन का वैशिष्ट्य एक दूसरे अर्थ में भी है, वह है दर्शन के अर्थ में। दर्शन का अर्थ है दृष्—दृश्यते अनेन इति दर्शनम्। किसी भी तत्त्व के परीक्षण में हमारी दृष्टि या हमारी रुचि, परिस्थिति या अधिकारिता पर निर्भर करती है। इस अर्थ में दर्शन व्यक्ति के दृष्टिभेद से प्रभावित होगा। दृष्टिभेद से दर्शन-भेद होता ही है। किसी भी तत्त्व के विषय में कोई भी तात्त्विक दृष्टि ऐकान्तिक होना उचित नहीं है; क्योंकि तत्त्व अनैकान्तिक है—'अनन्तधर्मात्मकं वस्तु'। प्रत्येक तत्त्व अनेकरूपात्मक है। इसीलिए कोई एक और ऐकान्तिक दृष्टि से उन सबका एक साथ तात्त्विक प्रतिपादन नहीं कर सकता। भारतीय वैदिक दर्शन में अद्वैत-दृष्टि, बौद्ध दर्शन में विभज्यवादी दृष्टि और लोकायत-दर्शन में मौलिक दृष्टि है। ये सभी दृष्टियाँ

* कुलपति, जैनविश्वभारती संस्थान, लाडनूँ-- ३४१ ३०६ (राजस्थान)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऐकान्तिक हैं। किन्तु जैन दृष्टि अनैकान्तिक है। इसी सत्य को ऋग्वेद में भी मुखरित किया गया है :

'एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति।'

यों, एक प्रकार से बौद्ध एवं अद्वैत दर्शन ने सत्ता के स्तर पर प्रकारान्तर से अनेकान्त दृष्टि को स्वीकार किया है। जैसे माध्यमिक बौद्धों ने परमार्थ, लोक-संवृति और अलोक-संवृति ये तीन अवस्थाएँ मानी हैं। जिस शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र के 'नैकस्मिन् असम्भवात्' सूत्र के भाष्य में अनेकान्तवाद-स्याद्वाद पर प्रखर प्रहार किया है, वहीं वह स्वयं तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में परमार्थ, व्यवहार एवं प्रतिभास-सत्य की तीन अवस्थाएँ मानकर स्याद्वाद-दृष्टि का अधिक से अधिक प्रयोग करनेवाले चिन्तक सिद्ध हुए। आधुनिक युग में आइन्स्टीन का सापेक्षवाद और डेलरेपी जैसे दार्शनिकों का द्वादशभंगी दृष्टिकोण हमारे सामने है। इस दृष्टि से जैनों की अनेकान्त-दृष्टि दर्शन की सबसे निर्दोष विधा है, जो किसी ऐकान्तिक दृष्टि-विशेष से आबद्ध नहीं है।

इस अनेकान्तवाद की भूमिका साम्य-दृष्टि में है। साम्य-दृष्टि का जैन-परम्परा में वही महत्त्व है, जो ब्राह्मण-परम्परा में ब्रह्म का। श्रमण-धर्म की प्राणभूत साम्यभावना (सामाइय = सामयिक) का प्रथम स्थान है, जो आचारांग-सूत्र कहलाता है और जिसमें भगवान् महावीर के आचार-विचार का सीधा एवं स्पष्ट प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है। यह धार्मिक जीवन स्वीकार करने की गायत्री है, जब गृहस्थ या त्यागी कहता है— 'करेमि भंते सामाइयं'। इसके दूसरे सूत्र में सावद्ययोग है, जिसमें पाप-व्यापार के त्याग का संकल्प है। यह साम्य-दृष्टि विचार एवं आचार दोनों में प्रकट हुई है। विचार में साम्यदृष्टि से ही अनेकान्तवाद का आविर्भाव हुआ। केवल अपनी दृष्टि को पूर्ण एवं अन्तिम सत्य मानकर उसपर आग्रह रखना साम्यदृष्टि के लिए घातक है। इसलिए यह माना गया है कि दूसरों की दृष्टि का उतना ही आदर करना चाहिए, जितना अपनी दृष्टि का। यही साम्यदृष्टि अनेकान्त की भूमिका है। इसी से भाषाप्रधान स्याद्वाद एवं विचारप्रधान नयवाद का क्रमशः विकास हुआ है। जैनेतर दार्शनिक भी अनेकान्त-भावना को स्वीकार करते हैं, लेकिन जैन दर्शन की यही विशेषता है कि उसने अनेकान्त का स्वतन्त्र शासन ही रच डाला। जैन दर्शन का बाह्य-आभ्यन्तर, स्थूल-सूक्ष्म सब आचार साम्यदृष्टिमूलक अहिंसा के आसपास ही निर्मित हुआ है। जिस आचार के द्वारा अहिंसा की रक्षा या पुष्टि न होती हो, ऐसे किसी भी आचार को जैन परम्परा मान्यता नहीं देती। इसलिए अहिंसा को यहाँ इतना व्यापक एवं गम्भीर बताया गया। अहिंसा केवल मानव-धर्म के रूप में नहीं, बल्कि मानवतेर यानी पशु-पक्षी,कीट-पतंग और वनस्पति तथा जैवीय आदि सूक्ष्मातिसूक्ष्म जीवों की हिंसा से आत्मौपम्य की भावना द्वारा निवृत्त होने के लिए कहा गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विचार-जगत् का अनेकान्त ही नैतिक जगत् में अहिंसा को प्रतिष्ठित करता है। अतः, जहाँ अन्य दर्शनों में दूसरों के मतों के खण्डन पर ज्यादा जोर दिया गया है, वहाँ जैन दर्शन के मुख्य ध्येय अनेकान्त-सिद्धान्त के आधार पर वस्तुस्थितिमूलक विभिन्न मतों का समन्वय करता रहा है। असल में बौद्धिक स्तर पर इस सिद्धान्त को मान लेने से मनुष्य के नैतिक और लौकिक व्यवहार में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होना अवश्यम्भावी है। विचार में अनेकान्त की प्रतिष्ठा से जीवन में संकीर्णता या शास्त्रार्थ में अपनी विजय के लिए छल, जल्प और वितण्डा की प्रवृत्तियाँ न होने से समन्वय एवं साध्य की पवित्रता के साथ साधन की पवित्रता का भाव आयेगा। आज विश्व में जाति, धर्म, सम्प्रदायों एवं विचारधाराओं का इतना वैविध्य है कि यदि एक व्यापक मानवीय दृष्टि से अनेकान्त-मूलक समन्वय की दृष्टि नहीं रखी जायेगी, तो फिर सामाजिक जीवन दुःखमय हो जायेगा। अनेकान्त-दृष्टि आचार-साधना में अहिंसा, समाज-साधना में समन्वय और धर्म-साधना में सर्व-धर्म-समभाव के जीवन-मूल्य को स्थापित करेगी और अनेकान्त कोरा दर्शन नहीं है, वह साधना है। एकांगी आग्रह राग-द्वेष से प्रेरित होते हैं। जैसे-जैसे राग-द्वेष क्षीण होता है, वैसे-वैसे अनेकान्तदृष्टि विकसित होती है, और जैसे-जैसे अनेकान्त-दृष्टि विकसित होती है, वैसे-वैसे राग-द्वेष क्षीण होता है। दर्शन सत्य का साक्षात्कार है। राग-द्वेष में फैला व्यक्ति सत्य का साक्षात्कार कर ही नहीं सकता। दर्शन सत्य की उपलब्धि के लिए एवं सत्य की उपलब्धि शान्ति की उपलब्धि के लिए है। मनुष्य अपनी रागात्मक प्रवृत्तियों के कारण सत्य से कम आकर्षित हुआ और उसके आकर्षण का केन्द्र सत्य के बदले सत्य का संस्थान, यानी सम्प्रदाय बन गया। सम्प्रदाय ने सत्य पर इतने आवरण डाले कि धर्म की सुरक्षा के लिए अधर्म, अहिंसा की सुरक्षा के लिये हिंसा, और सत्य की सुरक्षा के लिये असत्य का आचरण वर्जित नहीं रहा। लेकिन जैन-दर्शन सत्य को जानने के लिए अनेकान्त-दृष्टि और अनेकान्त-दृष्टि पाने के लिए राग-द्वेष-रहित आध्यात्मिक जीवन पर जोर देता है।

इसीलिए तत्त्व की स्थापना के लिए तर्क को एक सापेक्ष आलम्बन माना गया है। स्वकीय अभ्युपगम की स्थापना और परकीय अभ्युपगम के लिए तर्क उसी सीमा तक हो, जिससे परपक्ष को मानसिक आघात न लगे। अपने विचार की पुष्टि अपने लिए नहीं, बल्कि अहिंसा की पुष्टि के लिए है। अहिंसा का खण्डन कर दूसरे के अभ्युपगम का खण्डन करना वास्तव में अपने अभ्युपगम का खण्डन करना है। अतः जैनदर्शन कोई एक दर्शन नहीं, दर्शनों का समुच्चय है। अनन्त दृष्टियों से सह-अस्तित्व को मान्यता देनेवाला कोई एक दर्शन नहीं हो सकता।

जैन दर्शन को बहुधा नास्तिक कह दिया जाता है; क्योंकि मनु के 'नास्तिको वेदनिन्दकः' न्याय तथा कर्ता-संहर्ता रूप से ईश्वर जैसी स्वतन्त्र सत्ता को अस्वीकार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करना दोनों जैन दर्शन में लागू होता है। किन्तु पाणिनि के 'अस्ति-नास्ति दिष्टं मतिः' के अनुसार जैन दर्शन को हरगिज नास्तिक नहीं कहा जा सकता; क्योंकि यह इन्द्रियातीत तथ्य, यानी परलोक की सत्ता को माननेवाला है। जैन दर्शन कर्ता-धर्ता-हर्ता रूपी ईश्वर को तो स्वीकार नहीं करता है, लेकिन इसके अनुसार प्रत्येक जीव अपनी सृष्टि का आप ही कर्ता है। तात्त्विक दृष्टि से प्रत्येक जीव में ईश्वर भाव है, जो मुक्ति के समय प्रकट होता है। योगशास्त्र-सम्मत ईश्वर भी मात्र उपास्य है, कर्ता-संहर्ता नहीं है।

आस्तिकता को यदि विश्व की शाश्वत नैतिक व्यवस्था के रूप में लिया जाय, तो जैनदर्शन की आस्तिकता पर कोई उँगली नहीं उठा सकता; क्योंकि इस शाश्वत नैतिक व्यवस्था में इसे दृढ़ विश्वास है।

जैनदर्शन में इस जगत् को अनादि माना गया है। अनन्त सत्ता अनादि काल से अनन्तकाल तक क्षण-क्षण विपरिवर्तमान होकर अपनी मूलधारा में प्रवाहित होता है; क्योंकि उसके पश्चात् संयोग एवं वियोग से यह सृष्टिचक्र स्वयं संचालित है। किसी एक बुद्धिमान् ने बैठकर असंख्य कार्यकारण-भाव और अनन्त स्वरूपों की कल्पना की हो और वह अपनी इच्छा से जगत् का नियन्त्रण करता तो हो, यह वस्तुःस्थिति के प्रतिकूल तो है ही, अनुभवगम्य भी नहीं है। विश्व अपने पारस्परिक कार्यकारणभावों से स्वयं सुव्यवस्थित और सुनिश्चित है।

जैन दार्शनिक वाङ्मय के विकास क्रम को चार युगों में विभक्त किया गया है— आगम, अनेकान्त-स्थापना, प्रमाणशास्त्र-व्यवस्था एवं नवीन न्याययुग। युगों के लक्षण नाम से ही सुस्पष्ट हैं। काल-मर्यादा का निर्धारण इस समय हमारा अभीष्ट नहीं है, यों इसमें मतभेद भी हैं। जैनतत्त्व-विचार की प्राचीनता में सन्देह तो नहीं ही है, इसकी स्वतन्त्रता भी इस बात से सिद्ध है कि जब उपनिषदों में अन्य शास्त्रों के बीज मिलते हैं, लेकिन जैनतत्त्व के विचार के बीज नहीं मिलते। इतना ही नहीं, भगवान् महावीर-प्रतिपादित आगमों में जो कर्मविचार है, मार्गणा और गुणस्थान, जीवों की गति एवं अगति, लोक-व्यवस्था एवं रचना, जड़-परमाणु पुद्गलों की वर्गणा और पुद्गल-स्कन्ध, छह द्रव्य एवं नव तत्त्व का जो व्यवस्थित विचार है, उन सबको देखते हुए यह कहा जा सकता है कि जैनतत्त्व-विचारधारा भगवान् महावीर से भी पूर्व कई पीढ़ियों की अध्यात्मोन्मुख सारस्वत साधना का प्रतिफल है और इस धारा का उपनिषद्-प्रतिपादित अनेक मतों से पार्थक्य है, अतः इसका स्वातन्त्र्य स्वयंसिद्ध है। जैन दर्शन को अनेकान्तवाद भगवान् महावीर की विशेष देन है। इसी के बाद होनेवाले जैन दार्शनिकों ने जैनतत्त्व-विचार को ही अनेकान्तवाद के नाम से प्रतिपादित करते हुए भगवान् महावीर को उसका उपदेशक बताया। यों, विचार के विकासक्रम और पुरातन इतिहास के चिन्तन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से स्पष्ट दिखता है कि अनेकान्त दृष्टि का मूल भगवान् से भी पुराना है, हाँ वह अनेकान्त का व्यवस्थित रूप महावीर से पूर्ववर्ती जैनेतर साहित्य में नहीं मिलता है, भले ही उसके बीज वैदिक बौद्ध एवं जैन सभी परम्पराओं में न्यूनाधिक उपलब्ध हों। भगवान् महावीर ने अनेकान्त-दृष्टि को अपने जीवन में उतारा था और उसके बाद ही दूसरों को इसका उपदेश दिया था। उसमें अनुभव एवं तप का बल है, भले ही तर्कवाद या खण्डन-मण्डन का जटिल जाल नहीं हो। भगवान् महावीर के अनगामी आचार्यों में प्रज्ञा एवं त्याग तो था, लेकिन स्पष्ट जीवन का उतना अनुभव और तप नहीं था। इसीलिए वाद, जल्प एवं वितण्डा का भी सहारा लिया। इस खण्डन, मण्डन, स्थापन और प्रचार के दो हजार वर्षों में महावीर के शिष्यों ने अनेकान्त-दृष्टिविषयक इतना ग्रन्थसमूह बना डाला। इस क्रम में समन्तभद्र और सिद्धसेन, हरिभद्र और अकलंक, विद्यानन्दी और प्रभाचन्द्र, अभयदेव और वादिराज, हेमचन्द्र एवं यशोविजय जी जैसे प्रकाण्ड विचारकों ने अनेकान्त-दृष्टि के बारे में जो लिखा, वह भारतीय दार्शनिक साहित्य की अमूल्य निधि है। सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य तो यह है कि अनेकान्त-दृष्टि का प्रभामण्डल असाधारण है। बादरायण जैसे सूत्रकारों ने उसका खण्डन करने के लिए सूत्र रच डाले और बाद में उस सूत्र के भाष्यकारों ने भाष्यों की रचना की। वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति और शान्तरक्षित जैसे प्रभावशाली बौद्ध विद्वानों ने अनेकान्तवाद की पूरी आलोचना की, फिर जैन विद्वानों ने उन आक्षेपों के उत्तर दिये। इस प्रचण्ड संघर्ष के परिणामस्वरूप अनेकान्त-दृष्टि का तर्कबद्ध विकास हुआ और उसका प्रभाव भी अन्य सम्प्रदाय के विद्वानों पर पड़ा। रामानुज ने अनेकान्त-दृष्टि से विशिष्टाद्वैतवाद की और वल्लभ ने शुद्धाद्वैतवाद का खण्डन किया।

अनेकान्त-युग के पश्चात् प्रमाण-शासन-व्यवस्था-युग आता है। जिस प्रकार असंग-बसुबन्धु ने बौद्ध विज्ञानवाद की स्थापना की, किन्तु प्रमाणशास्त्र की रचना एवं स्थापना का कार्य तो दिङ्नाग किया, जिसके उत्तर में प्रशस्तपाद, उद्योतकर, कुमारिल, सिद्धसेन, मल्लवादी, सिंहगणी, पूज्यपाद, समन्तभद्र, ईश्वरसेन, अविद्धकर्ण आदि ने अपने-अपने दर्शन में प्रमाणशास्त्र का समर्थन किया तथा दिङ्नाग के टीकाकार धर्मकीर्ति और उनके शिष्य अर्चट, धर्मोत्तर, शान्तरक्षित, प्रज्ञाकर आदि हुए और दूसरी ओर बौद्धेतर दार्शनिकों में प्रभाकर, उम्बेक, व्योमशिव, जयन्त, सुमति, पात्रस्वामी, मण्डन आदि हुए, जिन्होंने बौद्धपक्ष का खण्डन किया। इसी विचार-संघर्ष की चार शताब्दी के काल में हरिभद्र, अकंलक, विद्यानन्दी, अमितकीर्ति, शाकटायन, माणिक्यनन्दी, सिद्धर्षि, अभयदेव, प्रभाचन्द्र, वादिराज, जिनेश्वर, चन्द्रपुत्र, अनन्तवीर्य, वादिदेवसूरि, हेमचन्द्र, मल्लिषेण, ज्ञानाचार्य, रत्नपुत्र, सिंह-व्याघ्रशिशु, रामचन्द्रसूरि, धर्मभूषण, राजशेखर, सोमतिलक आदि अनेक जैन नैयायिक हुए। फिर वि. तेरहवीं सदी में गंगेश उपाध्याय की प्रतिभा ने नव्यन्याय का युग प्रारम्भ किया। यह इतना महत्त्वपूर्ण हुआ कि बिना इस नव्यन्याय की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शैली में प्रवीण हुए कोई दार्शनिक सभी दर्शनों के विकास का पारगामी नहीं हो सकता। किन्तु जैनदर्शन इन पाँच शताब्दियों में दार्शनिक विकास से वंचित रहा और इस शैली को न अपनाने के कारण अपरिष्कृत रह गया। १६वीं शताब्दी में यशोविजय (संवत् १६९९) ने इस अभाव को पूर्ण किया और 'अनेकान्त-व्यवस्था' नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखकर नव्यन्याय की शैली में जैन दर्शन को प्रवेश दिलाया। फिर यशस्वत् सागर (सं. १६५६), विमलदास, आचार्य विजयनेमि एवं उनके शिष्यंगण हुए। लेकिन जैनदर्शन के विकास-क्रम में कोई नये विचार का सृजन नहीं हो सका।

यह भारतीय चिन्तनधारा की दुर्बलता है कि हममें अतीत के प्रति अत्यन्त मोह रहता है। वैदिक दर्शन में वेद-वेदान्त से लेकर विवेकानन्द, बौद्ध दर्शन में भगवान् बुद्ध से लेकर नव बौद्ध चिन्तन और जैनदर्शन में भगवान् महावीर से लेकर आजतक दार्शनिक क्षेत्र में कोई नवीन चिन्तन खड़ा नहीं हो सका है। पं. सुखलाल संघवी ने सं. १९४९-५१ ई. तक 'जैन साहित्य की प्रगति' की समीक्षा करते हुए लिखा है कि हमारी चिरकालीन संघशक्ति इसलिए कार्यक्षम साबित नहीं होती कि उसमें नवदृष्टि का प्राण-स्पन्दन नहीं है।

■

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुणस्थान-सिद्धान्त का उद्भव एवं विकास

(तत्त्वार्थसूत्र और कसायपाहुडसुत्त के सन्दर्भ में)

*प्रो. सागरमल जैन**

व्यक्ति की आध्यात्मिक शुद्धि के विभिन्न स्तरों का निर्धारण करने के लिए जैन दर्शन में गुणस्थान की अवधारणा को प्रस्तुत किया गया है। उसमें व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास का मूल्यांकन इसी अवधारणा के आधार पर होता है। यद्यपि गुणस्थान की अवधारणा जैन धर्म की एक प्रमुख अवधारणा है, तथापि प्राचीन स्तर के जैन आगमों, यथा—आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन, ऋषिभाषित, दशवैकालिक, भगवती आदि में इसका कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं होता है। श्वेताम्बर-परम्परा में सर्वप्रथम 'समवायांग' में जीवस्थान के नाम से इसका उल्लेख हुआ है। समवायांग में यद्यपि १४ गुणस्थानों के नामों का निर्देश हुआ है, तथापि उन्हें गुणस्थान न कहकर जीवस्थान (जीवठाण) कहा गया है।[१] समवायांग के पश्चात् श्वेताम्बर-परम्परा में गुणस्थानों के १४ नामों का निर्देश आवश्यकनिर्युक्ति में उपलब्ध है, किन्तु वहाँ भी नामों का निर्देश होते हुए भी उन्हें गुणस्थान (गुणठाण) नहीं कहा गया है।[२] यहाँ यह भी स्मरणीय है कि मूल आवश्यक सूत्र, जिसकी निर्युक्ति में ये गाथाएँ आई हैं— मात्र १४ भूतग्राम हैं,—इतना बताती है, निर्युक्ति उन १४ भूतग्राम का विवरण देती है। फिर उसमें इन १४ गुणस्थानों का विवरण दिया गया है। किन्तु ये गाथाएँ प्रक्षिप्त लगती हैं; क्योंकि हरिभद्र (८वीं शती) ने आवश्यकनिर्युक्ति की टीका में "अधुनामुमैव गुणत्स्थानद्वारेण दर्शयन्नाह संग्रहणिकार" कहकर इन दोनों गाथाओं को उद्धृत किया है। इससे स्पष्ट है कि प्राचीन निर्युक्तियों के रचनाकाल में भी गुणस्थान की अवधारणा नहीं थी। निर्युक्तियों के गाथा-क्रम में भी इनकी गणना नहीं की जाती है।[३] इससे यही सिद्ध होता है कि निर्युक्ति में ये गाथाएँ संग्रहणी-सूत्र से लेकर प्रक्षिप्त की गई है। प्राचीन प्रकीर्णकों में भी गुणस्थान की अवधारणा का अभाव है। श्वेताम्बर-परम्परा में इन १४ अवस्थाओं के लिए 'गुणस्थान' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग हमें आवश्यकचूर्णि (७वीं शती) में मिलता है, उसमें लगभग तीन पृष्ठों में इनका विवरण दिया गया है।[४] जहाँतक दिगम्बर-परम्परा का प्रश्न है, उसमें कसायपाहुड को छोड़कर तिलोयपण्णत्ति (४. २९३५-४३), षट्खण्डागम[५], मूलाचार[६] और भगवती आराधना[७] जैसे अध्यात्मप्रधान ग्रन्थों में तथा तत्त्वार्थसूत्र की पूज्यपाद

* निदेशक, पार्श्वनाथ विद्याश्रम-शोध संस्थान, वाराणसी-२२१ ००५ (उत्तर प्रदेश)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देवनन्दी की सवार्थसिद्धि[८], भट्ट अकलंक की राजवार्तिक[९], विद्यानन्दी की श्लोकवार्तिक[१०] आदि दिगम्बर आचार्यों की टीकाओं में १४ गुणस्थानों के इस सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन हुआ है। उपर्युक्त ग्रन्थों के मूल सन्दर्भों से यह स्पष्ट हो जाता है कि षट्खण्डागम को छोड़कर शेष सभी इसे गुणस्थान के नाम से अभिहित करते हैं। श्वेताम्बर-परम्परा में भी आवश्यकचूर्णि[११], तत्त्वार्थभाष्य की सिद्धसेनगणि की वृत्ति[१२], हरिभद्र की तत्त्वार्थसूत्र की टीका[१३] आदि में इस सिद्धान्त का विस्तृत उल्लेख पाया जाता है।

हमारे लिए आश्चर्य का विषय तो यह है कि आचार्य उमास्वाति ने जहाँ अपने तत्त्वार्थसूत्र में जैनधर्म एवं दर्शन के लगभग सभी पक्षों पर प्रकाश डाला है, वहाँ उन्होंने १४ गुणस्थानों का स्पष्ट रूप से कहीं भी निर्देश नहीं किया है। तत्त्वार्थभाष्य, जो तत्त्वार्थसूत्र पर उमास्वाति की स्वोपज्ञ टीका मानी जाती है, उसमें भी कहीं गुणस्थान की अवधारणा का उल्लेख नहीं है। अतः यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उपस्थित होता है कि क्या तत्त्वार्थसूत्र के रचनाकाल तक जैनधर्म में गुणस्थान की अवधारणा का विकास नहीं हुआ था? और यदि उस काल तक गुणस्थान की अवधारणा विकसित हो चुकी थी तो फिर उमास्वाति ने अपने मूल ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र में अथवा उसकी स्वोपज्ञ टीका तत्त्वार्थभाष्य में उसका उल्लेख क्यों नहीं किया? जबकि वे गुणस्थान-सिद्धान्त के अन्तर्गत व्यवहृत कुछ पारिभाषिक शब्दों का, यथा-बादर-सम्पराय, सूक्ष्म-सम्पराय, उपशान्तमोह, क्षीण-मोह आदि का स्पष्ट रूप से प्रयोग करते हैं। यहाँ यह तर्क भी युक्तिसंगत नहीं है कि उन्होंने ग्रन्थ को संक्षिप्त रखने के कारण उसका उल्लेख नहीं किया हो; क्योंकि तत्त्वार्थसूत्र नवें अध्याय में उन्होंने आध्यात्मिकविशुद्धि (निर्जरा) की दस अवस्थाओं को सूचित करते हुए एक लम्बा सूत्र बनाया है।[१४] पुनः तत्त्वार्थभाष्य तो उनका एक व्याख्यात्मक ग्रन्थ है, यदि उनके सामने गुणस्थान की अवधारणा होती, तो उसका वे उसमें अवश्य प्रतिपादन करते। तत्त्वार्थभाष्य में भी गुणस्थान-सिद्धान्त की अनुपस्थिति से यह प्रतिफलित होता है कि तत्त्वार्थभाष्य उमास्वाति की ही स्वोपज्ञ टीका है। क्योंकि, यदि तत्त्वार्थभाष्य उमास्वाति की स्वोपज्ञ टीका न होती, तो तत्त्वार्थसूत्र की अन्य श्वेताम्बर-दिगम्बर सभी टीकाओं की भाँति, उसमें भी कहीं न कहीं गुणस्थान की अवधारणा का प्रतिपादन अवश्य होता। इस आधार पर पुनः हमें यह भी मानना होगा कि तत्त्वार्थभाष्य, तत्त्वार्थसूत्र की सभी श्वेताम्बर-दिगम्बर टीकाओं की अपेक्षा प्राचीन और तत्त्वार्थसूत्र की समकालिक रचना है। क्योंकि यदि वह परवर्ती होता और अन्य दिगम्बर-श्वेताम्बर टीकाकारों से प्रभावित होता, तो उसमें कहीं न कहीं गुणस्थान की अवधारणा अथवा गुणस्थान शब्द का प्रयोग अवश्य ही होता। क्योंकि, तत्त्वार्थभाष्य को छोड़कर तत्त्वार्थसूत्र की एक भी श्वेताम्बर या दिगम्बर टीका ऐसी नहीं है, जिसमें कहीं न कहीं गुणस्थान की चर्चा न हुई हो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यद्यपि पं. नाथूरामजी प्रेमी द्वारा तत्त्वार्थभाष्य की स्वोपज्ञता स्वीकार की गई है।[१५] किन्तु उनके अतिरिक्त अन्य दिगम्बर विद्वानों की जो यह अवधारणा है कि तत्त्वार्थभाष्य तत्त्वार्थसूत्र पर स्वयं उमास्वाति की टीका नहीं है और परवर्ती किसी श्वेताम्बर आचार्य की रचना है[१६]—वह इन तथ्यों से भ्रान्त सिद्ध हो जाती है।

गुणस्थान की अवधारणा का ऐतिहासिक विकास-क्रम :

गुणस्थान की अवधारणा के ऐतिहासिक विकास-क्रम को समझने की दृष्टि से यह तथ्य महत्त्वपूर्ण है, न केवल प्रचीन स्तर के श्वेताम्बर आगमों में, अपितु दिगम्बर-परम्परा में आगमरूप में मान्य कसायपाहुडसुत्त में तथा तत्त्वार्थसूत्र और उसके स्वोपज्ञ तत्त्वार्थभाष्य में गुणस्थान की अवधारणा का कहीं भी सुव्यवस्थित निर्देश उपलब्ध नहीं होता है। यद्यपि इन तीनों ग्रन्थों में गुणस्थान की अवधारणा से सम्बन्धित कुछ पारिभाषिक शब्दों, जैसे—दर्शनमोहोपशमक, दर्शनमोहक्षपक, चरित्रमोहोपशमक, (चारित्रमोह) क्षपक, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, केवली (जिन) आदि के प्रयोग उपलब्ध हैं। मात्र यही नहीं, ये तीनों ही ग्रन्थ कर्म-विशुद्धि के आधार पर आध्यात्मिक विकास की स्थितियों का चित्रण भी करते हैं। इससे ऐसा लगता है कि इन ग्रन्थों के रचनाकाल तक जैन परम्परा में गुणस्थान की अवधारणा का विकास नहीं हो पाया था। ऐतिहासिक दृष्टि से यह बात भी महत्त्वपूर्ण है कि समवायांग और षट्खण्डागम में १४ गुणस्थानों के नामों का स्पष्ट निर्देश होकर भी उन्हें गुणस्थान नाम से अभिहित नहीं किया गया है। जहाँ समवायांगसूत्र उन्हें जीवस्थान (जीवठाण) कहता है, वहीं षट्खण्डागम में उन्हें जीवसमास कहा गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि ये दोनों ग्रन्थ प्राचीन स्तर के श्वेताम्बर आगमों, कसायपाहुडसुत्त, तत्त्वार्थसूत्र और तत्त्वार्थभाष्य से किंचित् परवर्ती और इन १४ अवस्थाओं के लिए गुणस्थान शब्द का स्पष्ट उल्लेख करनेवाली श्वेताम्बर-दिगम्बर रचनाओं से पूर्ववर्ती है। साथ ही ये दोनों ग्रन्थ समकालिक भी अवश्य हैं क्योंकि हम देखते हैं कि छठीं शताब्दी और उसके पश्चात् के श्वेताम्बर-दिगम्बर ग्रन्थों में विशेषरूप से कर्मसिद्धान्त-सम्बन्धी तथा तत्त्वार्थसूत्र की टीकाओं में गुणस्थान शब्द का प्रयोग बहुलता से किया जाने लगा था। इससे यह भी प्रतिफलित होता है कि जैन परम्परा में लगभग तीसरी-चौथी शताब्दी तक गुणस्थान की अवधारणा अनुपस्थित थी, चौथी शताब्दी के अन्त से लेकर पाँचवीं शताब्दी के बीच यह सिद्धान्त अस्तित्व में आया, किन्तु इसे गुणस्थान न कहकर जीवस्थान या जीवसमास कहा गया है। षट्खण्डागम, समवायांग दोनों ही इसके लिए गुणस्थान शब्द का प्रयोग न कर क्रमशः जीवस्थान और जीवसमास शब्द का प्रयोग करते हैं—यह बात हम पूर्व में भी बता चुके हैं। श्वेताम्बर-परम्परा में सबसे पहले गुणस्थान शब्द का प्रयोग आवश्यकचूर्णि में किया गया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। उसके पश्चात् सिद्धसेनगणि की तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति और हरिभद्र की आवश्यकनिर्युक्ति की टीका अर्थात् ८वीं शती के पहले उस परम्परा में इस सिद्धान्त को गुणस्थान के नाम से अभिहित किया जाने लगा था। जैसा कि हम देख चुके हैं, दिगम्बर-परम्परा, में सर्वप्रथम षट्खण्डागम, मूलाचार और भगवती आराधना (सभी लगभग पाँचवी-छठीं शती) में गुणस्थानों का उल्लेख उपलब्ध होता है। कसायपाहुड में गुणस्थान की अवधारणा से सम्बन्धित कुछ पारिभाषिक शब्दों की उपस्थिति तो देखी जाती है, फिर भी उसमें १४ गुणस्थांन का उल्लेख है, किन्तु इन्हें जीवसमास कहा गया। मूलाचार में इनके लिए 'गुण' नाम भी है और १४ अवस्थाओं का उल्लेख भी है। भगवती आराधना में यद्यपि एक साथ १४ गुणस्थानों का उल्लेख नहीं है, तथापि ध्यान के प्रसंग में ७वें से १४वें गुणस्थान तक की , मूलाचार की अपेक्षा भी, विस्तृत चर्चा हुई है। उसके पश्चात् पूज्यपाद देवनन्दी की सर्वार्थसिद्धि टीका में गुणस्थान (गुणट्ठाण) का विस्तृत विवरण मिलता है। इन सभी की ससन्दर्भ उल्लेख हमारे द्वारा निबन्ध के प्रारम्भ में किया जा चुका है। पूज्यपाद देवनन्दी ने तो सर्वार्थसिद्धि में सत्प्ररूपणा आदि में मार्गणाओं की चर्चा करते हुए प्रत्येक मार्गणा के सन्दर्भ में गुणस्थानों का विस्तृत विवरण दिया है।[१७] आचार्य कुन्दकुन्द की यह विशेषता है कि उन्होंने नियमसार, समयसार आदि में मग्गणागण, गुणठाण और जीवठाण का भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयोग किया हैं।[१८] इस प्रकार जो जीवठाण या जीवसमास शब्द क्रमशः समवायांग एवं षट्खण्डागम तक गुणस्थान के लिए प्रयुक्त होता था, वह अब जीव की विभिन्न योनियों के सन्दर्भ में प्रयुक्त होने लगा। कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में जीवस्थान (जीवठाण) का तात्पर्य जीवों के जन्मग्रहण करने की विविध योनियों से है। इसका एक फलितार्थ यह है कि भगवती आराधना, मूलाचार तथा कुन्दकुन्द के काल तक जीवस्थान और गुणस्थान दोनों की अलग-अलग और स्पष्ट धारणाएँ बन चुकी थीं और दोनों के विवेच्य विषय भी अलग हो गये हैं। जीवस्थान या जीवसमास का सम्बन्ध-जीव-योनियों/जीव-जातियों से और गुणस्थान का सम्बन्ध आत्मविशुद्धि/कर्मविशुद्धि से माना जाने लगा था। ज्ञातव्य है, आचारांग आदि प्राचीन ग्रन्थों में गुणशब्द का प्रयोग कर्म/बन्धक तत्त्व के रूप में हुआ है।

इस प्रकार यदि गुणस्थान सिद्धान्त के ऐतिहासिक विकास-क्रम की दृष्टि से विचार करें, तो मूलाचार, भगवती आराधना, सर्वार्थसिद्धि एवं कुन्दकुन्द के समयसार, नियमसार आदि सभी ग्रन्थ पाँचवीं शती के पश्चात् के सिद्ध होते हैं। आवश्यकनिर्युक्ति में भी संग्रहणी से लेकर जो गुणस्थान-सम्बन्धी दो गाथाएँ प्रक्षिप्त की गई हैं, वे भी उसमें पाँचवीं शती के बाद ही कभी डाली गई होगी, क्योंकि आठवीं शती में हरिभद्र भी उन्हें संग्रहणी गाथा के रूप में ही अपनी टीका में उन्हें उद्धृत करते हैं। हरिभद्र इस सम्बन्ध

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में स्पष्ट हैं कि ये गाथाएँ निर्युक्ति की मूल गाथाएँ नहीं हैं (देखें : आवश्यक निर्युक्ति : टीका, हरिभद्र, भाग २, पृ. १०६-१०७)।

इस समस्त चर्चा से ऐसा लगता है कि लगभग पाँचवीं शताब्दी के अन्त में गुणस्थान की अवधारणा सुव्यवस्थित हुई और इसी काल में गुणस्थानों के कर्म-प्रकृतियों के बन्ध, उदय, उदीरणा, विपाक आदि से सम्बन्ध निश्चित किये गये। समवायांग में गुणस्थान की अवधारणा को 'जीवस्थान' के रूप में प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि "कर्मों की विशुद्धि की मार्गणा की उपेक्षा से प्रत्युत १४ जीवस्थान प्रतिपादित किये गये हैं"। समवायांग की इस चर्चा की यदि हम तत्त्वार्थसूत्र से तुलना करते हैं, हम पाते हैं कि उसमें भी कर्मनिर्जरा की अपेक्षा से १० अवस्थाओं का चित्रण किया गया है। 'कम्मविसोहि मगणं' (समवायांग) और 'असंख्येयगुणनिर्जरा' (तत्त्वार्थसूत्र) शब्द तुलनात्मक दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण कहे जा सकते हैं। इसी प्रकार समवायांग में 'सुहुं सम्पराय' के पश्चात् 'उवसामए वा खवए वा' का प्रयोग तत्त्वार्थ के उपशमक, उपशान्त और क्षपक शब्दों को स्मृतिपटल पर उजागर कर देता है। इससे यह भी फलित है कि समवायांग के काल तक श्रेणी-विचार आ गया था। उपशमक, उपशान्त और क्षपक शब्दों के प्रयोग के साथ-साथ कसायपाहु और तत्त्वार्थसूत्र में व्यवहृत सम्यक्, मिश्र, असम्यक् एवं संयत, संयतासंयत (मिश्र) और असंयत शब्दों के प्रयोग हमें यह स्पष्ट कर देते हैं कि कसायपाहुडसुत्त और तत्त्वार्थसूत्र की कर्मविशुद्धि की अवस्थाओं के आधार पर ही गुणस्थान-सिद्धान्त को विकसित किया गया है।

तत्त्वार्थसूत्र में गुणस्थान-सिद्धान्त के बीज :

तत्त्वार्थसूत्र में गुणस्थान-सिद्धान्त के बीज उसके नवें अध्याय में मिलते हैं। नवें अध्याय में सर्वप्रथम परिषहों के सम्बन्ध में आध्यात्मिक विकास की चर्चा हुई है, उसमें बताया गया है कि "बादर सम्पराय की स्थिति में २२ परिषह सम्भव होते हैं। सूक्ष्म सम्पराय और छद्मस्थ वीतराग (क्षीणमोह) में १४ परिषह सम्भव होते हैं। जिन भगवान् में ११ परिषह सम्भव होते हैं।"[१९] इस प्रकार यहाँ बादर सम्पराय, सूक्ष्म सम्पराय, छद्मस्थ वीतराग और जिन—इन चार अवस्थाओं का उल्लेख हुआ है।

पुनः ध्यान के प्रसंग में यह बताया गया है कि अविरत, देशविरत और प्रमत्त संयत—इन तीन अवस्थाओं में आर्त्तध्यान का सद्भाव होता है। अविरत और देशविरत में रौद्रध्यान की उपस्थिति पायी जाती है। अप्रमत्तसंयत को धर्मध्यान होता है। साथ ही यह उपशान्तकषाय एवं क्षीणकषाय को भी होता है। शुक्लध्यान, उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय और केवली में सम्भव होता है"।[२०] इस प्रकार यहाँ अविरत, देशविरत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, उपशान्तकषाय (उपशान्त-मोह), क्षीणकषाय (क्षीण-मोह) और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

केवली ऐसी सात अवस्थाओं का उल्लेख हुआ है, पुनः कर्म-निर्जरा (कर्म-विशुद्धि) के प्रसंग में सम्यक्दृष्टि, श्रावक, विरत, अनन्तवियोजक, दर्शनमोहक्षपक, (चरित्रमोह) उपशमक, उपशान्त (चरित्र) मोह, (चरितमोह) क्षपक, क्षीण-मोह और जिन ऐसी दस, क्रमशः विकासमान स्थितियों का चित्रण हुआ है।[२१] यदि हम अनन्त वियोजक को अप्रमत्त-संयत, दर्शनमोह क्षपक को अपूर्वकरण (निवृत्तिबादर सम्पराय) और उपशमक (चरित्र मोह-उपशमक) को अनिवृत्तिकरण और क्षपक को सूक्ष्म सम्पराय मानें, तो इस स्थिति में वहाँ दस गुणस्थानों के नाम प्रकारान्तर से मिल जाते हैं। यद्यपि अनन्तवियोजक, दर्शनमोहक्षपक, उपशमक, उपशान्त-मोह तथा क्षपक आदि अवस्थाओं को उनके मूल भावों की दृष्टि से तो आध्यात्मिक विकास की इस अवधारणा से जोड़ा जा सकता है, किन्तु उन्हें सीधा-सादा गुणस्थान के चौखटे में समयोजित करना कठिन है। क्योंकि, गुणस्थान-सिद्धान्त में तो चौथे गुणस्थान में ही अनन्तानुबन्धी कषायों का क्षयोपशन हो जाता है। पुनः उपशम-श्रेणी से विकास करनेवाला तो सातवें अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में भी दर्शनमोह और अनन्तानुबन्धी कषाय का उपशम ही करता है, क्षय नहीं। अतः अनन्तवियोजक का अर्थ अनन्तानुबन्धी कषाय का क्षय मानने से उपशम-श्रेणी की दृष्टि से बाधा आती है। सम्यक्-दृष्टि, श्रावक एवं विरति के पश्चात् अनन्तवियोजक का क्रम आचार्य ने किस दृष्टि से रखा, यह स्पष्ट नहीं हो पा रहा है। तुलनात्मक दृष्टि से दर्शनमोहक्षपक को अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थान के साथ योजित किया जाना चाहिए। क्षपक-श्रेणी से विचार करने पर यह बात किसी सीमा तक समझ में आ जाती है; क्योंकि आठवें गुणस्थान से ही क्षपक-श्रेणी प्रारम्भ होती है और आठवें गुणस्थान के पूर्वदर्शनमोह का पूर्ण क्षय मानना आवश्यक है। इसी प्रकार चारित्रमोह की दृष्टि से अपूर्वकरण (निवृत्ति बादर सम्पराय) को चारित्रमोह उपशमक कहा जा सकता है। क्षपक को सूक्ष्म सम्पराय से भी योजित किया जा सकता है, किन्तु उमास्वाति ने उपशान्तमोह और क्षीणमोह के बीच जो क्षपक की स्थिति रखी है उसका युक्तिसंगत समीकरण कर पाना कठिन है। क्योंकि ऐसी स्थिति में उपशान्तमोह नामक ग्यारहवें और क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थान के बीच ही उसे रखा जा सकता है, किन्तु गुणस्थान-सिद्धान्त में ऐसी बीच की कोई अवस्था नहीं है। सम्भवतः उमास्वाति दर्शनमोह और चारित्रमोह दोनों का प्रथम उपशम और क्षय मानते होंगे। क्षीणमोह और जिन दोनों अवधारणाओं में समान हैं। सयोगी केवली को 'जिन' कहा जा सकता है। इस प्रकार क्वचित् मतभेदों के साथ दस अवस्थाएँ तो मिल जाती हैं, किन्तु मिथ्यादृष्टि, सास्वादन, सम्यक्-मिथ्यादृष्टि और अयोगी केवली की यहाँ कोई चर्चा नहीं है। उपशम और क्षपक श्रेणी की अलग-अलग कोई चर्चा भी यहाँ नहीं है। तुलनात्मक अध्ययन के लिए आगे की तालिका उपयोगी होगी :

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आध्यात्मिक विशुद्धि का क्रम

क्रम-संख्या	उमास्वाति के अनुसार			गुणस्थान-सिद्धान्त के अनुसार
	परिषहों के सन्दर्भ में	ध्यान के सन्दर्भ में	कर्मनिर्जरा के सन्दर्भ में	
१.	—	—	—	मिथ्यादृष्टि
२.	—	—	—	सास्वादन
३.	—	—	—	सम्यक् मिथ्यादृष्टि
४.	—	अवतरित (सम्यक्-दृष्टि)	सम्यक दृष्टि (दर्शन मोह उपशमक)	सम्यक् दृष्टि (अवतरित दृष्टि)
५.	—	देशविरत	श्रावक	देशविरत
६.	—	प्रमत्तसंयत	विरत	सर्वविरत (प्रमत्तसंयत)
७.	—	अप्रमत्तसंयत	अनन्तवियोजक (उपशान्त दर्शनमोह)	अप्रमत्तसंयत
८.	बादर सम्पराय	—	दर्शनमोहक्षपक	अपूर्वकरण (निवृत्ति बादर सम्पराय
९.	—	—	उपशमक (चारित्रमोह)	अनिवृत्तिकरण
१०	सूक्ष्मसम्पराय	—	—	सूक्ष्मसम्पराय
११.		उपशान्त कषाय	उपशान्तमोहक्षपक	उपशान्त मोह
१२	छद्मस्थ वीतराग	क्षीणकषाय (क्षीणमोह)	क्षीणमोह	क्षीणमोह
१३.	जिन	केवली (जिन)	जिन	सयोगी केवली
१४.	—	—	—	अयोगी केवली

तत्त्वार्थसूत्र में आध्यात्मिक विकास का जो क्रम है, उसकी गुणस्थान-सिद्धान्त से इस अर्थ में भिन्नता है कि जहाँ गुणस्थान-सिद्धान्त में आठवें गुणस्थान से उपशम-श्रेणी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और क्षपक-श्रेणी से आरोहण की विभिन्नता को स्वीकार करते हुए भी यह माना है कि उपसम-श्रेणीवाला क्रमशः ८वें, ९वें एवं १०वें गुणस्थान से होकर ११वें गुणस्थान में जाता है, जबकि क्षपक श्रेणी वाला क्रमशः ८वें, ९वें एवं १०वें गुणस्थान से सीधा १२वें गुणस्थान में जाता है जबकि उमास्वाति यह मानते प्रतीत होते हैं कि चाहे दर्शन-मोह के उपशम और क्षय का प्रश्न हो या चारित्र-मोह के उपशम या क्षय का प्रश्न हो—पहले उपशम होता है और फिर क्षय होता है। दर्शन-मोह के समान चारित्र-मोह के भी क्रमशः उपशम, उपशान्त, क्षपक और क्षय होता है। उन्होंने उपशम और क्षय को मानते हुए उनकी अलग-अलग श्रेणी का विचार नहीं किया है। उमास्वाति की कर्म-विशुद्धि की दस अवस्थाओं में प्रथम पाँच का सम्बन्ध दर्शनमोह के उपशमन और क्षपण से है तथा अन्तिम पाँच का सम्बन्ध चारित्र-मोह के उपशमन, उपशान्त, क्षपण और क्षय से है। प्रथम भूमिका में सम्यक् दृष्टि उपशम से सम्यक् दर्शन प्राप्त करता है— ऐसे उपशम सम्यक् दृष्टि का क्रमशः २ श्रावक और ३ विरत के रूप में चारित्रिक विकास तो होता है किन्तु उसका सम्यक् दर्शन औपशामिक होता है, अतः वह उपशान्त दर्शनमोह होता है। ऐसा साधक चौथी अवस्था में अनन्तानुबन्धी कषाय का क्षपण (वियोजन) करता है, अतः वह क्षपक होता है, इस पाँचवीं स्थिति के अन्त में दर्शनमोह का क्षय हो जाता है। छठीं अवस्था में चारित्र-मोह का उपशम होता है अतः वह उपशमक (चारित्र-मोह) कहा जाता है। सातवीं अवस्था में चारित्र-मोह उपशान्त होता है। आठवीं में उस उपशान्त चारित्र-मोह का क्षपण किया जाता है, अतः वह क्षपक होता है। नवीं अवस्था में चारित्र-मोह क्षीण हो जाता है, अतः क्षीण-मोह कहा जाता है, और दसवीं अवस्था में 'जिन' अवस्था प्राप्त होती है।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि उमास्वाति के समक्ष कर्मों के उपशम और क्षय की अवधारणा उपस्थिति रही होगी, किन्तु चारित्र-मोह की विशुद्धि के प्रसंग में उपशम-श्रेणी और क्षायिक-श्रेणी से अलग-अलग आरोहण की अवधारणा विकसित नहीं हो पाई होगी। इसी प्रकार उपशम-श्रेणी से किये गये आध्यात्मिक विकास से पुनः पतन के बीच की अवस्थाओं की कल्पना भी नहीं रही होगी।

जब हम उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र और तत्त्वार्थभाष्य से कसायपाहुड की ओर आते हैं, तब दर्शनमोह की अपेक्षा से मिथ्यादृष्टि सम्यक् मिथ्यादृष्टि (मिश्र-मोह) और सम्यक् दृष्टि तथा चारित्रमोह की अपेक्षा से अविरत, विरताविरत और विरत की अवधारणाओं के साथ उपशम और क्षय की अवधारणाओं की उपस्थिति भी पाते हैं।[२२] इस प्रकार, कसायपाहुड में सम्यक् मिथ्यादृष्टि की अवधारणा अधिक पाते हैं। इसी क्रम में आगे मिथ्यादृष्टि सास्वादन और अयोगी केवली की अवधारणाएँ जुड़ी होंगी और उपशम एवं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्षपक श्रेणी के विचार के साथ गुणस्थान का एक सुव्यवस्थित सिद्धान्त सामने आया होगा।

इन तथ्यों को निम्नांकित तुलनात्मक तालिका से समझा जा सकता है :

गुणस्थान की अवधारणा का क्रमिक विकास

तत्त्वार्थ सूत्र एवं तत्त्वार्थभाष्य	कसायपाहुड	समवायांग/ षट्खण्डागम	श्वेताम्बर-दिगम्बर तत्त्वार्थ की टीकाएँ एवं भगवती आराधना, मूलाचार, समयसार, नियमसार आदि।
३री - ४थी शती	३री - ४थी शती	५वीं शती	६ठी शती या उसके पश्चात्
गुणस्थान, जीवसमास, जीव-स्थान आदि शब्दों का पूर्ण अभाव	गुणस्थान, जीवस्थान, जीवसमास, आदि शब्दों का अभाव, किन्तु मार्गणा शब्द पाया जाता है।	गुणस्थान शब्द का अभाव, किन्तु जीव, ठाण या जव-समास के नाम से १४ अवस्थाओं का चित्रण	गुणस्थान की स्पष्ट उपस्थिति
कर्मविशुद्धि या आध्यात्मिक विकास की दस अवस्थाओं का चित्रण, मिथ्यात्व का अन्तर्भाव करने पर ११ अवस्थाओं का उल्लेख	कर्मविशुद्धि या आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से मिथ्यादृष्टि की गणना करने पर कुल अवस्थाओं का उल्लेख	१४ अवस्थाओं का उल्लेख हैं	१४ अवस्थाओं का उल्लेख है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सास्वादन, सम्यक् मिथ्यादृष्टि और अयोगी केवली दशा का पूर्ण अभाव	सास्वादन (सासादन) और अयोगी केवली अवस्था का पूर्ण अभाव, किन्तु सम्यक् मिथ्या-दृष्टि की उपस्थिति	सास्वादन, सम्यक् मिथ्यादृष्टि (मित्र दृष्टि) और अयोगी केवली आदि उल्लेख है	उल्लेख है
अप्रमत्तसंयत,अपूर्व-करण (निवृत्तिबादर) अनिवृत्तिकरण (अनिवृत्तिबादर) जैसे नामों का अभाव	अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण (निवृत्ति बादर) अनिवृत्तिकरण (अनिवृत्ति बादर) जैसे नामों का अभाव		
उपशम और क्षय का विचार है किन्तु ८ वें गुणस्थान से उपशम और क्षायिक-श्रेणी से अलग अलग आरोहण होता है, ऐसा विचार नहीं है	उपशम और क्षपक का विचार है, किन्तु ८वें गुणस्थान से उपशम-श्रेणी और क्षपक-श्रेणी से अलग-अलग आरोहण होता है, ऐसा विचार नहीं है ।	अलग-अलग श्रेणी-विचार उपस्थित	अलग-अलग श्रेणी विचार उपस्थित
पतन की अवस्था का कोई चित्रण नहीं	पतन की अवस्था का कोई चित्रण नहीं	पतन आदि का मूल पाठ में चित्रण नहीं है	पतन आदि का व्याख्या में चित्रण है ।
मिथ्यात्व	मिच्छादिट्ठी (मिथ्यादृष्टि)	मिच्छादिट्ठी (मिथ्यादृष्टि)	मिथ्यादृष्टि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

—	—	सास्वादन सम्यक्दृष्टि (सासायण सम्मादि	सास्वादन
—	सम्मा-मिच्छाइट्ठी (मिस्सगं)	सम्मा-मिच्छा-दिट्ठी (सम्यक-मिथ्या—दृष्टि)	सम्यक्-मिथ्यादृष्टि (मिश्रदृष्टि)
सम्यक् दृष्टि	सम्माइट्ठी (सम्यक् दृष्टि अविरदीए)	अविरय सम्मादिट्ठी	सम्यक् दृष्टि
श्रावक	विरदाविरदे (विरत-अविरत) देसविरदी (सागार) संजमासंजम	विरयारिए (विरत-अविरत) पमन्तसंजए	—
विरत	विरद (संजम)	अपमत्तसंजए	प्रमत्तसंयत
अनन्तवियोजक	दंसणमोह उवसामणे (दर्शन मोह-उपशामक)	निअट्टिबायरे	अप्रमत्तसंयत
दर्शनमोह-क्षपक	दंसणमोह खवग (दर्शन मोह-क्षपक)	अनिअट्टि-	अपूर्वकरण
(चारित्रमोह)उपशमक	चरित्तमोहस्स उपसामगे (उवसामणा)	बायरे सुहुम संपराए	अनिवृत्तिकरण
—	सुहुमरागो (सुहुमम्हि संपराये)	उवसंतमोहे	सूक्ष्मसम्पराय
उपशान्त (चारित्र)मोह (चारित्रमोह) -क्षपक	उवसंत कसायं खवगे	—	उपशान्त-मोह —

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्षीणमोह	खीणमोह (छदुमत्थो वेदगो)	खीणमोहे	क्षीणमोह
जिन	जिणकेवली सव्वण्हू-सव्वदरिसी (ज्ञातव्य है कि चूर्णि में 'सजोगिजिणो' शब्द है मूल में नहीं है।)	सजोगी केवली	सयोगी केवली
—	चूर्णि में योगनिरोध का उल्लेख है	—	—

इस तुलनात्मक विवरण से हम पाते हैं कि तत्त्वार्थसूत्र के समान ही कसायपाहुडसुत्त में न तो गुणस्थान शब्द ही है और न गुणस्थान-सम्बन्धी १४ अवस्थाओं का सुव्यवस्थित विवरण ही है, किन्तु दोनों में गुणस्थान की अवधारणा से सम्बन्धित कुछ पारिभाषिक शब्द पाये जाते हैं। कसायपाहुड में गुणस्थान से सम्बन्धित पारिभाषिक शब्द हैं—मिथ्यादृष्टि; सम्यक्मिथ्यादृष्टि मिश्र, अविरत सम्यक्दृष्टि, देशविरत विरताविरत, संयमासंयत, विरतसंयत, उपशान्तकषाय, क्षीणमोह। तुलना की दृष्टि से तत्त्वार्थसूत्र में सम्यक् मिथ्यादृष्टि की अवधारणा अनुपस्थित है, जबकि कसायपाहुडसुत्त में इसपर विस्तृत चर्चा उपलब्ध है। किन्तु तत्त्वार्थसूत्र की 'अनन्तवियोजक' की अवधारणा कसायपाहुड में उपलब्ध नहीं है। उसके स्थान पर उसमें दर्शनमोह-उपशमक की अवधारणा पाई जाती है। तत्त्वार्थसूत्र की उपशमक, उपशान्त, क्षपक और क्षीणमोह की अवधारणाएँ स्पष्ट रूप से कसायपाहुडसुत्त में चारित्रमोह-उपशमक, उपशान्तकषाय और चारित्र-मोह क्षपक तथा क्षीण-मोह के रूप में यथावत् पाई जाती हैं। यहाँ 'चारित्र-मोह' शब्द का स्पष्ट प्रयोग इन्हें तत्त्वार्थ की अपेक्षा अधिक स्पष्ट बना देता है। पुनः कसायपाहुडा सुत्त मूल में भी तत्त्वार्थसूत्र के समान ही प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण—ये चारों नाम अनुपस्थित हैं, किन्तु तत्त्वार्थसूत्र की अपेक्षा इसमें सम्यक् मिथ्यादृष्टि (मिश्र = मिसग) और सूक्ष्म-सम्पराय (सुहुमराग, सुहमसंपराय) ये दो विशेष रूप से उपलब्ध होते हैं। पुनः उपशान्तमोह और क्षीणमोह के बीच दोनों ने क्षपक (खवग) की उपस्थिति मानी है, किन्तु गुणस्थान-सिद्धान्त में ऐसी कोई अवस्था नहीं है। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कसायपाहुड और तत्त्वार्थसूत्र में कर्म-विशुद्धि की अवस्थाओं के प्रश्न पर बहुत अधिक समानता है। मात्र मिश्र और सूक्ष्मसम्पराय की उपस्थिति के आधार पर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसे तत्त्वार्थ की अपेक्षा किञ्चित् विकसित माना जा सकता है। दोनों की शब्दावली, क्रम और नामों की एकरूपता से यही प्रतिफलित होता है कि दोनों एक ही काल की रचनाऐं हैं।

मुझे लगता है कि कसायपाहुड, तत्त्वार्थसूत्र एवं उसके भाष्य के काल में आध्यात्मिक-विशुद्धि या कर्म-विशुद्धि का जो क्रम निर्धारित हो चुका था, वही आगे चलकर गुणस्थान-सिद्धान्त के रूप में अस्तित्व में आया। यदि कसायपाहुड और तत्त्वार्थ चौथी शती या उसके पूर्व की रचनाएँ हैं, तो हमें यह मानना होगा कि गुणस्थान की, सुव्यवस्थित अवधारणा चौथी और पाँचवीं शती के बीच ही कभी निर्मित हुई है; क्योंकि लगभग छठी शती से सभी जैन विचारक गुणस्थान-सिद्धान्त की चर्चा करते प्रतीत होते हैं, इसका एक फलितार्थ यह भी है कि जो कृतियाँ गुणस्थान की चर्चा करती हैं, वे सभी लगभग पाँचवीं सदी के पश्चात् की हैं। यह बात भिन्न है कि तत्त्वार्थसूत्र और कसायपाहुड को प्रथम-द्वितीय शताब्दी का मानकर इन ग्रन्थों का काल तीसरी-चौथी शती माना जा सकता है। किन्तु इतना निश्चित है कि षट्खण्डागम, भगवती आराधना एवं मूलाचार के कर्ता तथा आचार्य कुन्दकुन्द की विशेषता यह है कि उन्होंने अपने पूर्ववर्ती इन जैन चिन्तकों, माध्यमिकों एवं प्राचीन वेदान्तियों, विशेष रूप से गौडपाद के विचारों का लाभ उठाकर जैन अध्यात्म को एक नई ऊँचाई पर पहुँचाया। मात्र यही नहीं, उन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की गुणस्थान, जीवस्थान, मार्गणास्थान आदि अवधारणाओं से पूर्णतया अवगत होकर भी शुद्धनय की अपेक्षा से आत्मा के सम्बन्ध में इन अवधारणाओं का स्पष्ट रूप से खण्डन किया है। यह प्रतिषेध तभी सम्भव था, जब उनके सामने ये अवधारणाएँ सुस्थिर होतीं।

हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि आध्यात्मिक विकास के इन विभिन्न वर्गों की संख्या के निर्धारण में उमास्वाति पर बौद्ध परम्परा और योग-परम्परा का भी प्रभाव हो सकता है। मुझे ऐसा लगता है कि उमास्वाति ने आध्यात्मिक विशुद्धि की चतुर्विध, सप्तविध और दसविध वर्गीकरण की यह शैली सम्भवतः बौद्ध और योग-परम्पराओं से ग्रहण की होगी। स्थविरवादी बौद्धों में सोतापन्न, सकृदागामी, अनागामी और अर्हत् ऐसी जिन चार अवस्थाओं का वर्णन है, वे परिषह के प्रसंग में उमास्वाति की बादर-सम्पराय, सूक्ष्म-सम्पराय, छद्मस्थ वीतराग और जिन से तुलनीय मानी जा सकती हैं। योगवासिष्ठ में आध्यात्मिक विकास की, ज्ञान की दृष्टि से जिन सात अवस्थाओं का उल्लेख है, उन्हें ध्यान के सन्दर्भ में प्रतिपादित तत्त्वार्थसूत्र की सात अवस्थाओं से तुलनीय माना जा सकता है। इसी प्रकार महायान-सम्प्रदाय में आध्यात्मिक विकास की जिन दस अवस्थाओं का चित्रण है, उन्हें निर्जरा की चर्चा के प्रसंग से उमास्वाति द्वारा प्रतिपादित दस अवस्थाओं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से तुलनीय माना जा सकता है।[२३] इसी प्रकार आजीविकों द्वारा प्रस्तुत आठ अवस्थाओं से भी इनकी तुलना की जा सकती है। यद्यपि इस तुलनात्मक अध्ययन के सम्बन्ध में अभी गहन चिन्तन की अपेक्षा है, इस सन्दर्भ में विस्तृत चर्चा अगले किसी लेख में करेंगे।

सन्दर्भ-स्रोत :

१. कम्मविसोहिमग्गणं पडुच्च चउछस जीवट्ठाण पण्णत्ता, तं जहा-गिच्छादिट्ठी, सासायणसम्मदिट्छी, सम्मामिच्चादिट्छी, अविरयसम्मोदिट्ठी, विरयाविरए, पमत्तसंजए, अप्पमत्तसंजए, निअट्टिबायरे, अनिअट्टिबायरे, सुहुमसंपराए—उपसामए वा खवए वा, उवसंतमोहे, खीणमोहे, सजोगीकेवली, अयोगी केवली।

—समवायांग (सम्पा. मधुकर मुनि), १४.९५

२. मिच्छादिट्ठी सासायणे य तह सम्ममिच्छादिट्ठी य।
अविरयसम्मदिट्ठी विरयाविरए पमत्ते य॥
तत्तो य अप्पमत्तो नियट्टिअनियट्टिबायरे सुहुमे।
उवसंतखीणमोहे होई सजोगी अजोगी य॥

—निर्युक्तिसंग्रह (आवश्यकनिर्युक्ति), पृ. १४९

३. चोद्दसहिं भूयगामेरिं...बीसाए असमाहिठाणेहि॥

—आवश्यकनिर्युक्ति (हरिभद्र), भाग २, प्रका. श्रीभेरूलाल कन्हैयालाल कोठारी धार्मिक ट्रस्ट, मुम्बई, वीर सं. २५०८;
पृष्ठ १०६-१०७.

४. तत्थ इमातिं चोद्दस गुणट्ठाणाणि....अजोगिकेवली नाम सलेसीपडिवन्नओ, सो य तीहिं जोगेहिं विरहितो जाव कखगघङ. इच्चेताइं पंचहस्सक्खराईं उच्चरिज्जंति एवतियं कालमजोगिकेवली भवितूण ताहे सव्वकम्मविणिमुक्को सिद्ध भवति।

—आवश्यकचूर्णि (जिनदासगणि), उत्तर भाग, पृ. १३३-१३६,
रतलाम, स. १९२९ ई.

५. एदेसि चेव चोद्दसण्हं जीवसमासाण परूवणट्ठदाए तत्थ इमाणि अट्ठ अणि-योगद्धाराणि णायव्वाणि भवंति मिच्छादिट्ठि सजोगकेवली अजोगकेवली सिद्धा चेदि।

—षट्खण्डागम (सत्प्ररूपणा), पृ. १३४-२०१ प्रका. जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर (पुस्तक १, द्वि. सं., सन् १९७३ ई.)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६. मिच्छादिट्ठी सासदणो य मिस्सो असंजदो चेव।
देसविरदो पमत्तो आपमत्तो तह य णायव्वो ॥१५४॥
एत्तो अपुव्वकरणो आणियट्टी सुहुमसंपराओ य।
उवसंतखीणमोहो सजोगिकेवलिजिणे अजोगी य ॥१५५॥
सुरणारयेसु चत्तारि होंति तिरियेसु जाण पंचेव।
मणुसगदीएवि तहा चोद्दसगुणणामधेयाणि ॥१५९॥

—मूलाचार (पर्याप्त्यधिकार), पृ. २७३-२७९; माणिकचन्द दिगम्बर ग्रन्थमाला (२३), बम्बई, वि.सं. १९८०

७. अध खवयसे ठिमधिगम्म कुणइ साधू अपुव्वकरणं सो।
होइ तमपुव्वकरणं कयाइ अप्पत्तपुव्वंति ॥२०८७॥
अणिवित्तिकरणणामं णेवमं गुणठाणयं च अधिगम्म।
णिछाणिछा पयलापयला तध थीणगिद्धि च ॥२०८८॥

—भगवती आराधना, भाग २ (सम्पा. कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, पृ. ८९० , विशेष विवरण हेतु देखें गाथा २०७२ से २१२६ तक।)

८. सर्वार्थसिद्धि (पूज्यवाद देवनन्दी) सूत्र १.८ की टीका, पृ. ३०-४०, ९.१२ की टीका, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५५.

९. राजवार्तिक (भट्ट अकलंक) ९.१०-१पृ.११.५८८

१०. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकम् (विद्यानन्दी), निर्णयसागर प्रेस, सन् १९९८ ई.

देखें—गुणस्थानापेक्षः...१० : ३;...गुणस्थानभेदेन...९.३६.४
पृ. ५०३,...अपूर्वकरणादीनां... ९.३७.२

११. आवश्यकचूर्णि, विशेष विवरण हेतु देखें ९.३४-४४ तक की सम्पूर्ण व्याख्या (जिनदासगणि), उत्तर भाग, पृ. १३३-१३६

१२. एतस्य त्रयः स्वामिनस्त्वतुर्थ-पञ्चम षष्ठ गुणस्थानवर्तिन...। तत्त्वार्थधिगमसूत्र, (सिद्धसेन गणि)-कृत भाष्यानुसारियेका समलङ्कृतं

—सं. हीरालाल रसिकलाल कापडिया, ९.३५ की टीका

१३. श्रीतत्त्वार्थसूत्रम् (टीका-हरिभद्र) ऋषभदेव के शरीमल संस्था सं. १९९२ पृ. ४६५-४९६

१४. सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतान्नतवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपक—क्षीणमोहजिनाः क्रमशो संख्येयगुणनिर्जरा : ९.४७

—तत्त्वार्थसूत्र, नवम अध्याय, पृ. १३६; पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध, संस्थान, वाराणसी, १९८५ ई.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१५. जैन साहित्य और इतिहास (पं. नाथूरामजी प्रेम) पृ. ५२४-५२९

१६. देखें :

(अ) जैन साहित्य का इतिहास द्वितीय भाग, (पं. कैलाशचन्दजी) चतुर्थ अध्याय पृ. २९४-२९९

(ब) जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश (पं. जुगलकिशोरजी मुख्तार), पृ. सं. १२५-१४९

(स) तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा, भाग २, (डॉ. नेमिचन्दजी शास्त्री)

(द) सर्वार्थसिद्ध—भूमिका, पं. फूलचन्दजी सिद्धान्तशास्त्री, पृ. ३१-४६,

(य) (पं. दरबारीलाल कोठिया)

१७. देखें : सर्वार्थसिद्धि, सं. पं. फूलचन्द सिद्धान्तशास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ (१२५५, ९.८; पृ. ३१-३३, ३४, ४६, ५५-५६, ९५-६७, ८४-८५, ८८,

१८. (अ) णाहं मग्गणठाणो णाहं गुणठाण जीवठाणो ण ।
कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं ॥

—नियमसार गाथा ७७, प्रकाशक-पंडित अजित प्रसाद, दि सेण्ट्रल जैन पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ, १९३१.

(ब) णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अस्थि जीवस्स ।
जेण टु एदे सव्वे पुग्गलदव्वस्स परिणामा ॥

—समयसार, गा. ५५, प्रका. श्री म.ही. पाटनी दि. जैन पार. ट्रस्ट मारोठ (मारवाड़) ,१९५३

१९. सूक्ष्मसम्परायच्छद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश ॥१० ॥
एकादश जिने ॥११ ॥
बादरसम्पराये सर्वे ॥१२ ॥

—तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ९, विवेचक पंसुखलालजी.

२०. तदविरत देशविरत प्रमत्तसंयतानाम् ॥३५ ॥हिंसाऽनृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयोः ॥३६ ॥आज्ञाऽपायविपाकसंस्थानविचयाय धर्ममप्रमत्तसंयतस्य ॥३७ ॥ उपशान्तक्षीणकषाययोश्च ॥३८ ॥ शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः ॥ ३९ ॥ परे केवलिनः ॥४० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२१. सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपक-क्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येगुणनिर्जराः ॥४७ ॥

—तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ९

२२. कसायपाहुडसुत्त, सं. पं. हीरालाल जैन—वीरशासन संघ कलकत्ता १९५५

देखें : सम्मत्तदेसविरयीसंजम उवसामणाचरववणा च
दंसण-चरित्त मोहे श्रद्धापरिमाणणिद्देसो ॥१४ ॥
सम्मते मिच्छत्ते य मिस्सगे चेव बोद्धव्या ॥८२ ॥
विरदीय अविरदीय अविरदीए विरदाविरदे तहा आणगारे ॥८३ ॥
दसणमोहस्स उवसामगस्स परिणामोकेरिसोभवे ॥९१ ॥
दंसणमोहस्खयणा पटुवगो कम्मभूमि जादो तु ॥९० ॥
सुहुमे च सम्पराए बादररागे च बोद्धव्वा ॥१२१ ॥
उवसामणा खराणदु पडिवदि दो होइ सुहुम रागमिन ॥१२२ ॥
खीणेसु कसाएसु य सेसाण के व होंगी विचारा ॥२३२ ॥
संकामनेणयोघट्ट ण किही खलणारा खीण मोहते ।
खवणा य आणुपुव्वी बोद्धव्वा मोहणीयस्स ॥२३३ ॥

२३. विस्तृत विचरण हेतु देखें—जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, डॉ. सागरमल जैन, प्राकृत भारती, जयपुर, पृ. ४७१-४७८ एवं २८७-४८८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनेकान्तवाद और अहिंसा : एक शास्त्रीय परिशीलन

*डॉ. योगेन्द्र प्रसाद सिंह**

सभी भारतीय आस्तिक धर्मों का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष ही है। धर्म को विचार और आचार का समन्वय समझा जाना चाहिए। धर्म की परिभाषा आचार्यों ने अपनी-अपनी समझ, विश्वास, आस्था और तर्क के आधार पर निर्मित की है। किसी ने 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः', कहा है, अर्थात् जिससे इहलौकिक अभ्युदय (उन्नति) और पारलौकिक कल्याण, अर्थात् सांसारिक उन्नति और मुक्ति प्राप्त हो, उसे धर्म कहते हैं। तो दूसरे ने 'चोदनालक्षणो धर्मः' अर्थात् जिसका लक्षण यह है कि वह व्यक्ति को सत्कर्म की ओर प्रेरित करे। और अन्य 'धृतिः (धीरज) क्षमा, दम (अपनी वासनाओं को उन्मार्ग की ओर जाने से रोकना) अस्तेय, शौच (बाह्य और आन्तरिक पवित्रता), इन्द्रिय-निग्रह, मन-सहित कर्मेन्द्रियों और वाणी के द्वारा सत्य-व्यवहार और अक्रोध ये दस लक्षण धर्म के कहे गये हैं। जैन-चारित्र में पुराने कर्मों के नाश और नये कर्मों को रोकने के लिए जिन दस धर्मों के पालन पर जोर दिया गया है, वे ऊपर के ही दस धर्म हैं। फिर वैदिक आचार्य की मान्यता है कि "श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः। एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम्॥" अर्थात् वेद, स्मृति, सदाचार और अपनी आत्मा को प्रिय लगनेवाली वस्तु को धर्म का लक्षण कहा जा सकता है।

धर्म की विवेचना करते हुए भी कहा गया है कि 'धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयति प्रजाः।' जिसे धारण किया जाय अथवा जो धारण करे, वही धर्म है। धर्म ही प्रजा (लोक) को धारण करता है। अर्थात् धर्म पर ही प्रजा (लोक) का अस्तित्व निर्भर करता है।

जैनधर्म के मोक्षमार्ग के उपायों के रूप में जैन दार्शनिक उमास्वामी ने 'तत्त्वार्थसूत्र' में 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः' कहा है। अर्थात् सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र ही मोक्षमार्ग हैं। जब किसी व्यक्ति में ये तीनों तत्त्व एकत्र होते हैं, अर्थात् सम्मिलित होते हैं, तब उसे मोक्ष मिलता है। वैदिक दर्शन में किसी व्यक्ति के लिए चार पुरुषार्थ कहे गये हैं, जिनमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों को किसी पुरुष के जीवन को क्रमिक उन्नति के द्वारा सार्थक बनाया जा सकता है। जैन दर्शन के सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र की गिनती त्रिरत्न में की गई है।

---

* मोरसण्ड, रुन्नी सैदपुर, सीतामढ़ी (बिहार)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(१) सम्यक् दर्शन :

यथार्थ ज्ञान के प्रति श्रद्धा का होना सम्यक् दर्शन है। यह स्वभावसिद्ध भी होता है, और इसे विद्योपार्जन और अभ्यास के द्वारा भी सीखा जा सकता है। श्रद्धा के उदय होने के लिए अश्रद्धा का उदय करनेवाले कर्मों का संवर या निर्जरा किया जाना आवश्यक है।

सम्यक् दर्शन में अन्धविश्वास नहीं है। तीर्थंकरों के उपदेश को आँख मूँदकर नहीं, किन्तु उन्हें युक्तिपूर्ण सिद्ध करके मानना चाहिए। अतः, हम कह सकते हैं कि जैनमत युक्ति-हीन नहीं है, प्रत्युत युक्ति-प्रधान है। 'षड्दर्शनसमुच्चय' में कहा गया है कि 'मेरा महावीर के प्रति कोई पक्षपात नहीं है और न कपिल आदि अन्य दर्शनिकों के प्रति द्वेष ही है। मैं युक्ति-संगत वचन को ही मानता हूँ, वह चाहे किसी का हो :

न मे जिने पक्षपातो न दोषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य तद् ग्राह्यं वचनं मम॥

जैन दार्शनिकों का कथन है कि लोग हमारे उपदेशों का अधिकाधिक मनन करते हुए ही उसका अध्ययन करें। तब उनपर विश्वास जम जाता है और वह क्रमशः बढ़ता जाता है।

(२) सम्यक् ज्ञान :

सम्यक् दर्शन में जैन उपदेशों के केवल सारांश का ज्ञान प्राप्त रहता है, किन्तु सम्यक् ज्ञान में जीव और अजीव के मूल तत्त्वों का विशेष ज्ञान होता है। साथ ही सम्यक् ज्ञान असन्दिग्ध और दोषरहित होता है। जिस प्रकार सम्यक् दर्शन के प्रतिबन्धक कर्म ही होते हैं, उसी प्रकार सम्यक् ज्ञान के प्रतिबन्धक कर्म ही होते हैं। अतः इसके लिए कर्मों का नाश होना आवश्यक है। कर्मों के पूर्ण विनाश के बाद ही केवलज्ञान प्राप्त होता है।

(३) सम्यक् चारित्र :

अहित कार्यों का वर्जन और हितकार्यों का आचरण ही सम्यक् चारित्र है। सम्यक् चारित्र के द्वारा जीव अपने कर्म से मुक्त हो सकता है; क्योंकि कर्मों के कारण ही बन्धन और दुःख होते हैं। नये कर्मों को रोकने तथा पुराने कर्मों को नष्ट करने के लिए निम्नांकित क्रियाएँ आवश्यक हैं :

क. 'पंचमहाव्रत का पालन करना चाहिए।

ख. चलने, बोलने, भिक्षादि ग्रहण करने तथा पुरीष और मूत्र का त्याग करने में समिति या सतर्कता का अवलम्बन करना चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग. मन, वचन तथा कर्म में गुप्ति या संयम का अभ्यास करना चाहिए।

घ. दस प्रकार के धर्मों का आचरण करना चाहिए, जो ये हैं—क्षमा, मार्दव (कोमलता), आर्जव (सरलता), सत्य, शौच, संयम, तप (मानस तथा बाह्य) त्याग, आकिंचन्य (किसी पदार्थ से ममता न रखना) और ब्रह्मचर्य। ये धर्म धृति, क्षमा आदि ही हैं।

ङ. जीव और संसार के यथार्थ तत्त्व के सन्बन्ध में भावना करनी चाहिए। अर्थात् उसे बार-बार स्मरण करना चाहिए।

च. भूख, प्यास, शीतोष्ण आदि के कारण जो कष्ट या उद्वेग हो उसे, सहन करना चाहिए।

छ. समता, निर्मलता, निर्लोभता और सच्चरित्रता प्राप्त करनी चाहिए।

कतिपय जैन आचार्य उपरिकथित सभी आदेशों को आवश्यक नहीं समझते; क्योंकि पंचमहावत में ही उनका किसी-न-किसी तरह से समावेश हो जाता है।

पंचमहाव्रत ये हैं—(१) अहिंसा; (२) सत्य; (३) अस्तेय; (४) ब्रह्मचर्य; और (५)अपरिग्रह। योगदर्शन (पातंजल) में 'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः' कहा है। यहाँ इन महाव्रतों में से मात्र अहिंसा का ही विवेचन किया जायेगा। जैनधर्म के कतिपय विशेष लक्षण ये हैं।

जैन दर्शन अनीश्वरवादी है :

बौद्ध धर्म की भाँति जैन धर्म (दर्शन) भी ईश्वर को नहीं मानता, इसके लिए वह अनेक युक्तियों को प्रस्तुत करता है।

(१) प्रत्यक्ष के द्वारा ईश्वर का ज्ञान नहीं मिलता। उसका अस्तित्व युक्तियों के द्वारा प्रमाणित होता है। न्यायदर्शन के अनुसार प्रत्येक कार्य के लिए एक कर्ता की आवश्यकता है। निर्मित वस्तु होने के कारण गृह को हम एक कार्य के रूप में देखते हैं, उसका निर्माण किसी ने किया। उसी प्रकार संसार भी एक कार्य है, जिसका निर्माण करनेवाला ईश्वर नाम से कहा गया है।

संसार कार्य है, यह निश्चय के साथ नहीं कहा जा सकता है। इसके अवयव हैं, तो आकाश के भी अवयव हैं। किन्तु नैयायिक तो संसार को कार्य मानते हैं, किन्तु आकाश को कार्य नहीं मानते, उसे नित्य मानते हैं। कार्य का निर्माता उसे अपने विभिन्न शारीरिक अवयवों के द्वारा निर्माण में सहयोग करता है, किन्तु ईश्वर को शरीर नहीं है, इसलिए उसके अवयव भी नहीं हैं, तो वह किस प्रकार उपादानों के साथ संसार का निर्माण कर सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(२) ईश्वर के अस्तित्व की तरह उसके गुणों के सम्बन्ध में भी पूरा सन्देह हो सकता है। ईश्वर एक, सर्वशक्तिमान्, नित्य तथा पूर्ण समझा जाता है। सर्वशक्तिमान् होने के कारण से भी वस्तुओं का मूल कारण समझा जाता है। भारतीय आस्तिक दर्शन के कतिपय आचार्य यह नहीं मानते कि ईश्वर सर्वशक्तिमान् होने ही के कारण विश्व-प्रपंच में उपादान-कारण, निमित्तकारण और साधारण कारण तीनों के मूल में हो। विश्व के निर्माण में पंचभूत उपादानकारण हैं, और जीवों के निमित्त विश्व का निर्माण होता है। हाँ, ईश्वर विश्व-प्रपंच का साधारण कर्त्ता है। यदि हम ईश्वर को करनेवाला, नहीं करनेवाला और दूसरे प्रकार से करने-वाला समझते हों तो यह उन आचार्यों के विचार में युक्तियुक्त नहीं होता। इसे दार्शनिक शब्दों में 'कर्तुम् अन्यथा कर्तुं समर्थः' कहते हैं। यदि ईश्वर सर्वशक्तिमान् है, तो क्या वह अपने समान दूसरे ईश्वर का निर्माण कर सकता है, अथवा वह एक ऐसा पत्थर बना सकता है, जिसे वह स्वयं नहीं उठा सके। इसका उत्तर हम 'नहीं' में देंगे, तो ईश्वर सर्वशक्तिमान् कैसे हुआ ?

विश्व की सृष्टि में प्रकृति, जीव और ईश्वर तीनों की आवश्यकता है। ये तीनों नित्य हैं। ये न सादि और न सान्त हैं। किन्तु यह सत्य नहीं है; क्योंकि हम प्रतिदिन देखते हैं कि घर, बरतन आदि अनेक वस्तुएँ हैं, जिन्हें ईश्वर नहीं बनाता। ईश्वर को एक माना जाता है और कहा जाता है कि अनेक ईश्वरों को मानने से उनमें मतों एवं उद्देश्यों में संघर्ष हो सकता है, जिसका फल यह होगा कि संसार में सामंजस्य नहीं होगा, किन्तु हम देखते हैं कि संसार में सामंजस्य है। इसलिए यह सिद्ध है कि ईश्वर एक है। लेकिन यह युक्ति ठीक नहीं है। कई गृहशिल्पी मिलकर भवन बनाते हैं और मधुमक्खियों का समुदाय मधुकोष का निर्माण करता है। ईश्वर को नित्यमुक्त और नित्यपूर्ण माना जाता है, किन्तु मुक्ति की प्राप्ति तो बन्धन के नाश से ही होती है। जब ईश्वर में बन्धन नहीं होता, तब मुक्ति कैसी ? जैन धर्मावलम्बी ईश्वर को तो नहीं मानते, किन्तु वे सिद्धों की आराधना करते हैं। उनकी दृष्टि में ईश्वर के लिए आवश्यक गुण सिद्धों में होते हैं। अतः, जैन साधक तीर्थंकरों की पूजा-आराधना करते हैं। इसके अतिरिक्त जैन पंच परमेष्ठी को मानते हैं, जो ये हैं—अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु। अनीश्वरवादी होने पर भी जैनों में धर्मोत्साह होता है। धार्मिक क्रिया-कलाप की शिथिलता नहीं होती। जैनधर्मावलम्बी स्वावलम्बी होते हैं। वे पूतचरित तीर्थंकरों का ध्यान और चिन्तन करते रहते हैं। वे करुणा के लिए पूजा-वन्दना नहीं करते, प्रत्युत पूजा-वन्दना में उनका लक्ष्य आत्मोन्नति और पूर्वजन्म के कर्मों के नाश का ही होता है। तीर्थंकर उनके मार्ग-प्रदर्शन के लिए आदर्श होते हैं।

जैनधर्म हिन्दूधर्म की ही एक शाखा है :

स्व. पं. जवाहरलाल नेहरू (भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री) कहते हैं कि जैनधर्म और बौद्धधर्म वैदिक धर्म और उसकी शाखाओं से हटकर थे, यद्यपि एक अर्थ में ये स्वयं उसी से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निकले थे। ये वेदों को प्रमाण मानने से इनकार करते थे, और जो बात सबसे बुनियादी है, वह यह है कि वे आदि कारण के बारे में या तो मौन हैं या उससे इनकार करते हैं। दोनों ही अहिंसा पर जोर देते हैं और ब्रह्मचारी, भिक्षुओं और पुरोहितों के संघ बनाते हैं। उनका दृष्टिकोण एक हद तक यथार्थवादी और बुनियादी दृष्टिकोण है, हालाँकि जब अनदेखी दुनिया पर विचार करना हो, तो लाजिमी तौर पर यह दृष्टिकोण हमें बहुत आगे तक नहीं ले जा सकता। जैन धर्म का एक बुनियादी सिद्धान्त है कि सत्य हमारे विचारों से सापेक्ष है। यह एक कठोर नीतिवादी और अपरोक्षवादी विचार-पद्धति है और इस अर्थ में जीवन और विचार में तपस्या के पहलू पर जोर दिया गया है।

जैनधर्म तत्कालिक स्थापित धर्म से विद्रोह करके उठा था और बहुत तरह से उससे भिन्न था, जाति की ओर सहिष्णुता दिखाता था और स्वयं उससे मिल-जुल गया था। यही कारण है कि वह आज भी जीवित है और हिन्दुस्तान में जारी है। वह हिन्दू धर्म की करीब-करीब एक शाखा बन गया है।[१]

स्व. डॉ. मंगलदेव शास्त्री, डी. फिल्. (लन्दन) पूर्व प्राचार्य, क्वींस कॉलेज, वाराणसी की मान्यता है कि जैन दर्शन नास्तिक नहीं है।

जैन दर्शन का महत्त्व उसकी प्राचीन परम्परा को छोड़कर अन्य महत्त्वों के आधार पर भी है। किसी भी तात्त्विक विमर्श का विशेषतः दार्शनिक विचार का महत्त्व इस बात में होना चाहिए कि वह प्रकृत वास्तविक समस्याओं पर वस्तुतः उन्हीं की दृष्टि से किसी प्रकार के पूर्वाग्रह के बिना विचार करे। भारतीय अन्य दर्शनों में शब्दप्रमाण पर जो प्रामुख्य है, वह एक प्रकार से उनके महत्त्व को कुछ कम ही कर देता है। उन दर्शनों में ऐसा प्रतीत होता है कि विचारधारा की स्थूल रूप-रेखा का अंकन तो शब्द-प्रमाण कर देता है और तत्त्व-दर्शन केवल अपने-अपने रंगों को ही भरना चाहते हैं। इसके विपरीत जैन दर्शन में ऐसा प्रतीत होता है, जैसे कोई बिलकुल साफ स्लेट पर लिखना शुरू करता है। विशुद्ध दार्शनिक दृष्टि से इस बात का बड़ा महत्त्व है। किसी भी व्यक्ति में दार्शनिक दृष्टि के विकास के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि वह स्वतन्त्र विचारधारा की भित्ति पर अपने विचारों का निर्माण करे और परम्परा-निर्मित पूर्वाग्रहों से अपने को बचा सके।

उपर्युक्त दृष्टि से इस दृष्टि में मौलिक भेद है। पूर्वोक्त दृष्टि में दार्शनिक दृष्टि शब्द-प्रमाण के पीछे-पीछे चलती है और जैन दृष्टि में शब्द-प्रमाण को दार्शनिक दृष्टि का अनुगामी होना पड़ता है।

इसी प्रसंग में भारतीय दर्शन के विषय में परम्परागत मिथ्या भ्रम का उल्लेख करना भी आवश्यक प्रतीत होता है। कुछ काल से लोग समझने लगे हैं कि भारतीय दर्शन की आस्तिक और नास्तिक नाम से दो शाखाएँ हैं। तथाकथित वैदिक दर्शनों को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आस्तिक दर्शन और जैन-बौद्ध दर्शनों को नास्तिक दर्शन कहा जाता है। वस्तुतः, यह वर्गीकरण निराधार ही नहीं, नितान्त मिथ्या भी है। आस्तिक और नास्तिक शब्द 'अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः।'[२] इस पाणिनि-सूत्र के अनुसार बने हैं। मौलिक अर्थ उनका यही था कि परलोक (जिसको हम दूसरे शब्दों में इन्द्रियातीत तत्त्व भी कह सकते है) की सत्ता को नहीं माननेवाले को नास्तिक कहा जाता है। स्पष्टतः इस अर्थ में जैन और बौद्ध जैसे दर्शनों को नास्तिक कहा ही नहीं जा सकता। इसके विपरीत हम तो यह समझते हैं कि शब्दों के प्रमाण को निरपेक्षता से वस्तुत पर विचार करने के कारण दूसरे दर्शनों की अपेक्षा उनका अपना एक आदरणीय वैशिष्ट्य ही है।

जैन दर्शन की देन :

भारतीय दर्शन के इतिहास में जैन दर्शन की अपनी अनोखी देन है। भारतीय दर्शनों के लिए दर्शन शब्द का प्रयोग मूल में इसी अर्थ में हुआ होगा कि किसी भी इन्द्रियातीत तत्त्व के परीक्षण में तत्तद्व्यक्ति की स्वाभाविक रुचि, परिस्थिति या आकारिकता के भेद से जो तात्त्विक दृष्टि-भेद होता है, उसी को दर्शन शब्द से व्यक्त किया जाता है। ऐसी अवस्था में यह स्पष्ट है कि किसी तत्त्व के विषय में कोई भी तात्त्विक वस्तु ऐकान्तिक नहीं हो सकती। प्रत्येक तत्त्व में अनेकरूपता स्वभावतः होनी चाहिए और कोई भी दृष्टि उन सबका एक साथ तात्त्विक प्रतिपादन नहीं कर सकती। इसी सिद्धान्त को जैन दर्शन की परिभाषा में 'अनेकान्तदर्शन' कहा गया है। जैन दर्शन का तो यह आधार-स्तम्भ है ही, परन्तु वास्तव में प्रत्येक दार्शनिक विचारधारा के लिए भी इसको आवश्यक मानना चाहिए।

विचार-जगत् में अनेकान्तदर्शन ही नैतिक जगत् में आकर अहिंसा के व्यापक सिद्धान्त का रूप धारण कर लेता है। इसलिए जहाँ अन्य दर्शनों में परमत-खण्डन पर बड़ा बल दिया जाता है, वहाँ जैन दर्शन का मुख्य ध्येय अनेकान्त-सिद्धान्त के आधार पर वस्तु-स्थिति-मूलक विभिन्न मतों का समन्वय रहा है।

अनेकान्तवाद :

जैन धर्म की अपनी स्वतन्त्र विचारधारा है, जिसे 'स्याद्वाद' या 'अनेकान्तवाद' कहकर अभिहित किया जाता है। इस विचारधारा में एक ही वस्तु में सत्य-असत्य, नित्यत्व-अनित्यत्व, सादृश्य-विरूपत्व आदि उभय धर्मों का आरोप किया जाता है। इस प्रकार जैनमतानुसार 'सत्' या 'द्रव्य' को अनेकान्त या परिणामी या विभज्यवाद माना गया है। अर्थात् उसे विभिन्न धर्मों को अंगीकार करनेवाला या अनन्तधर्मी बताया गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार तत्त्व का विचार करते समय उसमें निहित 'द्रव्य', 'क्षेत्र', 'काल' और 'भाव'-विषयक अवस्थाओं की समस्त सम्भावनाओं का लेखा-जोखा लेना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आवश्यक है। इस दर्शन का मूल मन्त्र 'स्यात् अस्ति', 'स्यात् नास्ति' (अर्थात् वस्तु की सत्ता हो भी सकती है और नहीं भी) इस सूत्रवाक्य से प्रकट है।

अनेकान्त के बिना वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती। यदि वस्तु सर्वथा नित्य हो तो उसमें परिणमन नहीं हो सकता और परिणमन के अभाव में क्रिया-कारकभाव नहीं बन सकता। यदि सर्वथा असत् है, तो उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती और यदि सर्वथा सत् है, तो उसका कभी नाश नहीं हो सकता। अनेकान्त की दृष्टि से दीपक के बुझ जाने पर भी उसका नाश नहीं होता, किन्तु वह अन्धकार रूप पर्याय को धारण कर अपना अस्तित्व रखता है।

इसमें यह शंका की जा सकती है कि अनेकान्तवाद संशय का हेतु है; क्योंकि एक ही आधार में विरोधी धर्मों का रहना सम्भव नहीं है। इसका समाधान यह होगा कि सामान्य धर्म का स्मरण होने से संशय होता है। जैसे धुँधली रात में सामने किसी ऊँची वस्तु का प्रत्यक्ष होने पर यह सन्देह होता है कि यह ठूँठ है, या पुरुष। यहाँ ठूँठ और पुरुष में पाये जानेवाले सामान्य धर्म ऊँचाई का प्रत्यक्ष तो होता है, किन्तु दोनों के विशेष धर्मों का प्रत्यक्ष नहीं होता, उसका स्मरण हो जाने पर यह संशय होता है कि यह ठूँठ है या पुरुष। किन्तु अनेकान्त में ऐसा नहीं है। वहाँ तो प्रत्येक धर्म की सत्ता की अपेक्षा सत् और पर-रूप से असत् है आदि पक्षों का भी बोध होता है।

इसमें यह संशय होता है कि यदि एक ही वस्तु को सत्-असत् दोनों मानें तो इसे ऐसा माननेवाली क्या युक्तियाँ होंगी। यदि इसके लिए युक्तियाँ हैं, तो एक ही युक्ति से एक वस्तु से 'सत्' तथा इसके विपरीत दूसरी से 'असत्' सिद्ध करने से सुननेवाले को सन्देह उत्पन्न होता है। इसका समाधान यों किया जा सकता है कि यदि 'सत-असत्' आदि में विरोध हो, तो संशय होगा; किन्तु अपेक्षा-भेद से माने गये सत्-असत् आदि धर्मों में कोई विरोध न होने से संशय नहीं है। जैसे पिता, पुत्र आदि सम्बन्ध-बहुत्व का एक ही देवदत्त के साथ कोई विरोध नहीं है। उसी प्रकार एक ही वस्तु में अस्तित्व, नास्तित्व आदि धर्मों में कोई विरोध नहीं हो सकता।

एक ही देवदत्त किसी का पुत्र, किसी का पिता, किसी का भाई, किसी का साला, किसी का पति, किसी का गुरु, किसी का शिष्य आदि अनेक सम्बन्धों का निर्वाहक होता है, और उन सम्बन्धों में कोई विरोध नहीं है।

जिस प्रकार वस्तु के 'स्वरूप' से अस्तित्व है, उसी प्रकार 'पररूप' से अस्तित्व न हो जाय, इसलिए 'स्यात्' शब्द का प्रयोग किया जाता है। जिस प्रकार द्रव्य स्वरूप से नित्य है, उसी प्रकार वह पर्यायरूप से भी नित्य न हो जाए, इसलिए 'स्यात्' शब्द का प्रयोग किया जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'स्यात्' अर्थात् 'कथंचित्' या विवक्षित प्रकार से अनेकान्त रूप से वाद, अर्थात् कथन 'स्याद्वाद' है, अर्थात् जिस अनेकान्तवाद का वाचक 'स्यात्' आदि शब्द से प्रयुक्त होता है, वह 'स्याद्वाद' है। 'स्यात्' शब्द दो हैं, एक क्रियावाचक और दूसरा अनेकान्त-वाचक। स्वामी समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा में कहा है कि वाक्यों में प्रयुक्त 'स्यात्' शब्द अनेकान्त का द्योतक होता है। यहाँ 'स्यात्' क्रियापद नहीं है, 'लिङ्' लकार का क्रियापद नहीं है। किन्तु निपात रूप है। निपात रूप 'स्यात्' शब्द के संशय आदि अनेक अर्थ हैं। वे सब यहाँ गृहीत नहीं हैं। निपात वाचक भी होते हैं और द्योतक भी। अतः 'स्यात्' शब्द यहाँ अनेकान्त का वाचक भी है और द्योतक भी। उसे अनेकान्त का द्योतक मानने में कोई दोष नहीं है। वह अनेकान्त का सूचक है। उसके बिना अनेकान्त रूप की प्रतिपत्ति नहीं हो सकती। अब 'स्यात्' शब्द के पर्याय शब्द 'कथंचित्' आदि हैं। उनसे भी अनेकान्त रूप अर्थ की प्रतिपत्ति होती है। इस प्रकार 'स्याद्वाद' अनेकान्त को विषय करके सात भंगों और नयों की अपेक्षा वस्तुस्वरूप से 'सत्' और पर रूप से 'असत्' है, इत्यादि व्यवस्था करता है।

जैसे 'जीव है ही', इस वाक्य में 'स्यात्' का प्रयोग इसलिए आवश्यक है कि उसके अभाव में पुद्गल की अपेक्षा भी जीव का अस्तित्व प्राप्त होता है। इसमें यह शंका होगी की जीव तो अस्तित्व-सामान्य से व्याप्त है, पुद्गल आदि अस्तित्व-विशेष से व्याप्त नहीं है। अतः उसकी निवृत्ति के लिए 'स्यात्' पद का प्रयोग निरर्थक है। इसके लिए कहा जा सकता है कि 'स्याद् जीव है ही', इस वाक्य में 'ही' है। वह बतलाता है कि जीव सब प्रकार से है, इसलिए पुद्गल की अपेक्षा भी उसका अस्तित्व प्राप्त होता है, यदि 'स्यात्' पद न लगाया जाय। इसपर कहा जा सकता है कि 'स्वरूप की अपेक्षा जीव है ही' यह उस 'ही' का अभिप्राय है। तब हम कहेंगे कि स्वरूप की अपेक्षा जीव है ही। इसका मतलब हुआ कि पर के अस्तित्व की अपेक्षा जीव नहीं है। तब जीव है ही, इस वाक्य में 'ही' का प्रयोग व्यर्थ हो जाता है। 'ही' का प्रयोग तो तभी सार्थक होता है, जब सब प्रकार से जीव का अस्तित्व माना जाय और नास्तित्व को न माना जाय। अतः जीव अस्तित्व-सामान्य की अपेक्षा है, पुद्गलादिगत के अस्तित्व-विशेष की अपेक्षा नहीं है। यह बोध कराने के लिए 'स्यात्' का प्रयोग करना उचित है; क्योंकि 'स्यात्' पद इस प्रकार के अर्थ का द्योतक है। इसके लिए यह शंका हो सकती है कि जो भी वस्तु सत् है, वह स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से ही सत् है। परद्रव्यादि की अपेक्षा सत् नहीं है, अतः परद्रव्यादि का प्रसंग लाना व्यर्थ है। यह शंका कुछ अर्थ में सही हो सकती है। परन्तु विचारणीय यह है कि उस प्रकार के अर्थ का बोध तो 'स्यात्' शब्द से ही प्राप्त किया जा सकता है। यद्यपि 'स्यात्' शब्द अनेकान्त का द्योतक या वाचक है, यह मान लिया जाय, किन्तु लोक में प्रत्येक वाक्य में इसका प्रयोग नहीं देखा जाता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सब अनेकान्तात्मक है, ऐसा व्यवस्थापन होने पर उसके बल से एकान्त का निरास करने के लिए 'स्यात्' पद का प्रयोग नहीं होने पर भी उसके ज्ञाता का बोध हो जाता है। किसी पद या वाक्य का अर्थ एकान्त रूप नहीं है। कथंचित् एकान्त तो 'सुनय' की अपेक्षा अनेकान्त रूप ही है। अतः सात प्रकार के वाक्यों में 'स्यात्' पद का बोध होता ही है।

आशय यह है कि 'स्यात्' शब्द के प्रयोग का अभिप्राय रखनेवाला व्यक्ति यदि 'स्यात्' शब्द का प्रयोग न भी करे, तो भी उसके अर्थ का ज्ञान हो जाता है। अतः 'स्यात्' शब्द का प्रयोग नहीं करने पर भी कोई दोष नहीं है। परन्तु प्रत्येक वस्तु के अनेकान्तात्मक होने से 'स्याद्वाद' के बिना किसी भी वस्तु का यथार्थ ग्रहण सम्भव नहीं है।

यदि सब अनेकान्तात्मक है, तो अनेकान्त भी अनेकान्तात्मक होना चाहिए। ऐसी स्थिति में 'स्यात्' अनेकान्त है और 'स्यात्' अनेकान्त नहीं है, ऐसा करने पर अनेकान्त का निषेध होकर एकान्त की भी विधि प्राप्त होती है। इसके लिए हम यह समाधान उपस्थित कर सकते हैं कि अनेकान्त भी एकान्तसापेक्ष होता है और एकान्त अनेकान्त-सापेक्ष। एकान्त के दो भेद हैं—'सम्यक् एकान्त' और 'मिथ्या एकान्त'। इसी तरह अनेकान्त के भी दो भेद हैं—'सम्यक् अनेकान्त' एवं 'मिथ्या अनेकान्त'। हेतु-विशेष की अपेक्षा से प्रमाण से जानी हुई वस्तु के एक देश को जो कहता है, वह सम्यक् एकान्त है और जो एक ही धर्म को पकड़कर दोष-धर्म का निराकरण करता है, वह मिथ्या एकान्त है। जो एक वस्तु में प्रतिपक्ष-सहित अनेक धर्मों का युक्ति और आगम से अविरुद्ध कथन करता है, वह सम्यक् अनेकान्त है और जो काल्पनिक अनेक धर्मों का निरूपण करता है, वह मिथ्या अनेकान्त है। सम्यक् एकान्त को नय कहते हैं और सम्यक् अनेकान्त को प्रमाण कहते हैं। नय की अपेक्षा से एकान्त होता है और प्रमाण की अपेक्षा से अनेकान्त। यदि केवल अनेकान्त ही हो और एकान्त न हो, तो एकान्तों के समूह-रूप अनेकान्त का भी अभाव हो जाता है, जैसे शाखा-पुष्प-पत्र के अभाव में वृक्ष का अभाव होता है।

निरपेक्ष नय मिथ्या होते हैं। अतः उनका समूह भी मिथ्या होता है। सापेक्ष नय सुनय होते हैं। अतः उनका विषय अर्थ-क्रियाकारी होने से उनका समूह मिथ्या नहीं होता।

विरोधी धर्म का निराकरण करने का नाम निरपेक्षता है। और विचार के समय विरोधी धर्म की अपेक्षा न होने से उपेक्षा होना सापेक्षता है। यदि ऐसा न माना जाय तो प्रमाण और नय में कोई भेद न रहे; क्योंकि अनेकान्त रूप वस्तु के ज्ञान को प्रमाण कहते हैं और धर्मान्तर की अपेक्षा रखते हुए अनेकान्त रूप वस्तु के एक धर्म के जानने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को नय कहते हैं। धर्मान्तर का निराकरण करके एक ही धर्म को स्वीकार करना दुर्नय है।

प्रसिद्ध जैन विद्वान् डॉ. हीरालाल जैन ने 'भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान' में 'अनेकान्त' की व्याख्या इस प्रकार की है :

न्यायदर्शन में प्रमाण चार प्रकार का माना गया है—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। ये भेद उत्तरकालीन जैनन्याय में भी स्वीकार किये गये हैं, किन्तु इनका जैन दर्शन के पाँच ज्ञानों का उल्लेख इस प्रकार हुआ है—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान और केवलज्ञान।

प्रमाण और नय-पदार्थों के ज्ञान की उत्पत्ति दो प्रकार से होती है—प्रमाणों से और नयों से : 'प्रमाणनयैरधिगम।'[३]

ऊपर जिन पाँच प्रकार के ज्ञानों का वर्णन किया गया है, वह सब प्रमाणों की अपेक्षा से ही। इन प्रमाणभूत ज्ञानों के द्वारा द्रव्यों का उनके समग्र रूप में बोध होता है। किन्तु प्रत्येक पदार्थ अपनी एकात्मक सत्ता रखता हुआ भी अनन्तगुणात्मक और अनन्तपर्यायात्मक हुआ करता है। इन अनन्त गुण-पर्यायों में से व्यवहार में प्रायः किसी एक विशेष गुणधर्म के उल्लेख की आवश्यकता होती है, जब हम कहते हैं कि उस मोटी पुस्तक को ले आओ, तो इससे हमारा काम चल जाता है, और हमारी अभीष्ट पुस्तक हमारे सम्मुख आ जाती है। किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि उस पुस्तक में मोटाई के अतिरिक्त अन्य कोई गुण धर्म नहीं है। अतएव ज्ञान की दृष्टि से यह सावधानी रखने की आवश्यकता है कि हमारा वचनालाप, जिसके द्वारा हम दूसरों को ज्ञान प्रदान करते हैं, ऐसा न हो कि जिससे दूसरे के हृदय में वस्तु की अनेकगुणात्मकता के स्थान पर एकान्तिकता की छाप बैठ जाय। इसलिए एकान्त को मिथ्यात्व कहा गया है, और सिद्धान्त के प्रतिपादन में ऐसी वचन-शैली के उपयोग का प्रतिपादन किया गया है, जिससे वक्ता का एक गुणोल्लेखात्मक अभिप्राय और साथ ही यह भी स्पष्ट बना रहे कि वह गुण अन्यगुणसापेक्ष है। जैनदर्शन में यही विचार और वचन-शैली अनेकान्त वा स्याद्वाद कहलाती है। वक्ता के अभिप्रायानुसार एक ही वस्तु है भी कही जा सकती है, और नहीं भी। दोनों अभिप्रायों के मेल से 'हाँ-ना' एक मिश्रित वचन-भंग भी हो सकता है; और इसी कारण उसे 'अवक्तव्य' भी कह सकते हैं। वहाँ यह भी कहा जा सकता है कि प्रस्तुत वस्तु-स्वरूप है भी, और फिर भी अवक्तव्य है; नहीं है, और फिर भी अवक्तव्य है; अथवा है भी, नहीं भी है, और फिर भी अवक्तव्य है इन्हीं सात सम्भावनात्मक विचारों के अनुसार सात प्रमाण-भंगियाँ मानी गई हैं। वे इस प्रकार रखी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जा सकती है—स्याद् अस्ति; स्याद् नास्ति; स्याद् अस्ति-नास्ति; स्याद् अवक्तव्यम्; स्याद् अस्ति अवक्तव्यम्, स्याद्नास्ति अवक्तव्यम् और स्याद् अस्ति नास्ति अवक्तव्यम्।

नयवाद :

जैन दर्शन की जैसे एक विशिष्ट देन 'स्याद्वाद' है, वैसे ही एक दूसरी देन नयवाद है। प्रमाण के द्वारा गृहीत वस्तु के एकदेश को जो जानता है, वह नय है। नय के द्वारा गृहीत एकदेश न तो वस्तु है और न अवस्तु। यदि एकदेश को ही वस्तु स्वीकार किया जाता है तो उसके अन्य देश अवस्तु कहलायेंगे।

डॉ. जैन का विचार द्रष्टव्य है—पदार्थों के अनन्त गुण और पर्यायों में से प्रयोजनानुसार किसी एक गुणधर्म-सम्बन्धी ज्ञाता के अभिप्राय का नाम नय है; और नयों द्वारा ही वस्तु के नाना गुणांशों का विवेचन सम्भव है। वाणी में भी एक समय में किसी एक ही गुण-धर्म का उल्लेख सम्भव है, जिसका यथोचित प्रसंग नय-विचार के द्वारा ही सम्भव हो सकता है। इससे स्पष्ट है कि जितने प्रकार के वचन सम्भव हैं, उतने प्रकार के नय कहे जा सकते हैं। तथापि वर्गीकरण की सुविधा के लिए नयों की संख्या सात स्थिर की गई हैं, जिनके नाम ये हैं—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़, और एवंभूत।

इस कही गई वस्तु में वस्तु-बहुत्व का प्रसंग आता है। यदि एक देश को अवस्तु माना जाता है तो शेष देशों को भी अवस्तु होने से वस्तु की व्यवस्था नहीं बन सकेगी। इसलिए नय का विषय एक अंश या धर्म ही है। जब सब अंश में सब अंश गौण होते हैं, तो उनका ज्ञान नय है और जब सब अंश में सब अंश प्रधान होते हैं तब उनका ज्ञान प्रमाण माना जाता है। अतः प्रमाण से नय मिला है।

अब महावीर द्वारा कथित धर्म पर विचार किया जाय। महावीर के धर्म का वैसा कोई अर्थ नहीं है, जैसा कि अधिकांश धर्मों के लोग मानते हैं। पूजा-पाठ, शास्त्र-चर्चा आदि से महावीर का कोई सम्बन्ध नहीं है। यही कारण है कि महावीर-प्रतिपादित धर्म लोक-कल्याण से ओतप्रोत है। महावीर के धर्म का सार तत्त्व इस प्राकृत श्लोक में देखा जा सकता है :

क्षम्मो मंगलमुत्तिट्ठं अहिंसा संजमो तवो
देवा वि तं नमंसन्ति जस्स धम्मे सया मणो॥

धर्म अर्थात् धर्म सर्वश्रेष्ठ मंगल है, वह अहिंसा, संयम और तपस्या धर्म है। जिस मनुष्य का मन उक्त धर्म में संलग्न रहता है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहिंसा, संयम और तप ही महावीर का जीवन है। यदि उनके जीवन पर दृष्टिपात किया जाय तो उसे हम एक सपाट शून्य ही पाते हैं। उनके जीवन में कोई कहानी नहीं है। बुरे जीवन की ही कहानी होती है। अच्छे आदमी की जिन्दगी अगर सच में ही अच्छी है तो वह शून्य हो जाती है, उसमें कोई कहानी नहीं बचती, कोई कहानी नहीं बनती। यदि हम महावीर के जीवन में भी खोजें तो किस बात का पता है? महावीर ने जीवन की घटनाओं का कोई महत्त्व नहीं दिया। महावीर की सम्पूर्ण जीवनधारा आत्मज्ञान से संलग्न है। महावीर का मत है कि व्यक्ति के चरित्र का एक भी पहलू ठीक हो जाय तो शेष अपने-आप ठीक होने लगता है। एक-एक व्यक्ति अगर ठीक होने लगे तो समूचा समाज ठीक हो जायगा, स्वयं सही हो जायगा।

धर्म सर्वश्रेष्ठ मंगल है :

महावीर की दृष्टि में धर्म का अर्थ है 'जो मैं हूँ'— उसी में जीना, इससे जरा भी विचलित नहीं होना धर्म है। जब भी व्यक्ति उस सीमा से निकलने का प्रयास करता है, दुःखी होता है। स्वयं में होना ही मुक्ति है, श्रेयस्कर है। महावीर कहते नहीं, करते नहीं, अनुभव करते हैं। वास्तव में स्वयं के अनुभव से धर्म जाना जा सकता है। जो आदमी आगे ही देखता चला जाता है, वह धार्मिक नहीं हो सकता।

वैदिक विचारक कहते हैं 'परीक्षाप्रिया हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः' अर्थात् देव (देवता-विद्वान्) वर्तमान से सन्तुष्ट नहीं होकर भविष्य का निर्माण किया करते थे, उसके लिए किये जा रहे प्रयत्न को विघ्नों से सुरक्षित रखने का प्रयास करते थे। क्या यह वैदिक विचार के प्रतिक्रियारूप विचार नहीं था?

महावीर घर से जाने लगे तो जो लोग महावीर के पीछे गाँव के बाहर आये, वे उन्हें समझाते रहे कि इतना सुख छोड़कर कहाँ जा रहे हो, पागल हो गये हो। पर महावीर अपने में लीन होकर चले गये। महावीर की दृष्टि में अपने (संसार) से बाहर जाना ही नरक है। दूसरे की तरह देखना ही दुःख है। अपने अनुभव से जो सुख मिले, वही सुख है। महावीर ने अनुभव किया कि वैराग्य ही सुख है और आनन्द की खोज में चले गये। साथ में आये लोगों के द्वारा प्रदर्शित सुख को सुख नहीं समझा; क्योंकि महावीर की धारणा थी, दूसरी तरफ जाना ही नरक है। महावीर ने कोई सीमा नहीं बनाई कि यह धर्म है, यह अधर्म है। उन्होंने अपने स्वभाव (धर्म) में ठहर जाने को ही धर्म कहा, 'वत्थु-सहावो धम्मो' अपने भीतर दौड़ना ही स्वर्ग है, मंगलमय है। व्यक्ति यदि अधर्म छोड़ दे, तो धर्म स्वयं आ जाता है। यदि द्वेष को छोड़ना है, राग को छोड़ना होगा। व्यक्ति में यदि अहिंसा, संयम और तप आ जाय, तभी स्वयं में ठहर सकता है, नहीं तो वह दूसरी तरफ भागेगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहिंसा :

अहिंसा पर महावीर ने अधिक जोर दिया। उन्होंने कहा कि अहिंसा परमधर्म है। महावीर का अहिंसा से केवल इतना अर्थ नहीं रहा कि दूसरों को दुःख देना, सताना, मारना ही हिंसा है। वे तो कहते हैं कि दूसरों को न कोई सुख दे सकता है और न कोई दुःख। महावीर ने कहा कि अपने प्रति जो हिंसा है, उसके प्रति स्वयं को सहज रखना चाहिए। अपनी ओर से किसी के बीच में न आना, जो जैसा है, उसे वैसा ही स्वीकार करना चाहिए। वही अहिंसा है।

दूसरे शब्दों में महावीर की अहिंसा का अर्थ है, मैं ऐसा हो जाऊँ, जैसा हूँ ही नहीं, अर्थात् गहनतम अनुपस्थिति, महावीर के जीवन में यह एक अदभुत घटना है।

महावीर संन्यास लेना चाहते थे, तो उन्होंने अपनी माँ से कहा, "मैं जाऊँ, संन्यास ले लूँ?" माँ ने कहा, "मेरे सामने दुबारा यह बात मत कहना, "मैं जब तक जिन्दा हूँ, तुम संन्यास नहीं ले सकते, मुझे दुःख होगा।" महावीर चुपचाप रुक गए। यदि उनमें हिंसक वृत्ति होती, तो कहते "मैं संन्यास लेकर रहूँगा, कौन अपना, कौन पराया। माँ भी हैरान हुई, यह कैसा संन्यास? कह दिया, दुःख होगा, मत जाओ। रुक गया। फिर दुबारा नहीं कहा।

जब माँ मर गई, तो महावीर ने श्मशान से लौटते समय भाई से कहा, "अब तो मैं संन्यास ले सकता हूँ; माँ थीं, मर गईं। भाई ने बिगड़कर कहा, 'तू भी कैसा आदमी है? माँ मर गई है और तू संन्यास लेकर चला जायगा। जाओगे, तो मुझे दुःख होगा।" महावीर रुक गये। भाई ने सोचा, "यह कैसा संन्यास होगा, किसी को दुःख होगा, तो रुक गये।" महावीर ऐसे रहने लगे, मानो घर में हैं ही नहीं। भाई ने महावीर को ऐसा देखा, तो सोचा, महावीर घर में ऐसा रहता है, मानो घर में है ही नहीं। उसकी उपस्थिति-अनुपस्थिति एक ही है। घर में हो रहा है, हो रहा है, कोई दखल नहीं।

भाई ने विचार किया, "महावीर तो मन से जा ही चुके हैं, भौतिक शरीर को रोकना व्यर्थ है।" भाई ने अन्त में कहा, "हम तुम्हारे मार्ग में बाधक नहीं बनेंगे। तुम अगर जाना चाहते हो तो जा सकते हो।" और महावीर चले गये।

यही महावीर की अहिंसा का अर्थ है। यदि मेरे किसी कार्य से किसी को दुःख होता है, तो वह हिंसा हो जाती है। महावीर ने इसीलिए कहा है कि स्वयं के अच्छे-से-अच्छे जीवन की दौड़, होड़ ही हिंसा है। दूसरे या अपने को सताना दोनों ही हिंसा है; क्योंकि जो दूसरों को सतानें में असमर्थ होता है, वह अपने को सताने लगता है। आग्रह ही हिंसा है, अनाग्रह ही अहिंसा है। महावीर के सभी उपदेश अनाग्रहपूर्ण हैं। उनसे यदि कोई विपरीत बात भी कहता, तो वे कहते यह भी ठीक हो सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उनकी विचारधारा इतनी उदार थी कि वे सभी में सत्य का अंश मानते थे। वास्तव में सत्य बहुत बड़ा होता है और असत्य छोटा होता है। उन्होंने अपने विरोधी गोशाल के विषय में कहा, शायद यह भी सही हो सकता है।

महावीर की अहिंसा बड़ी सूक्ष्म है। दे चींटी से बचकर इसलिए चलते हैं, कि उसके चलने में बाधा न आवे। मर जायगी तो हिंसा। यह तो बहुत बड़ी हिंसा हो जायगी। चींटी के चलने में बाधा आ गई, तो भी हिंसा हो जायगी। महावीर सम्पूर्ण जगत् के जड़-चेतन को चीव मानते थे। एक बार उनकी चादर झाड़ी से उलझ गयी। झाड़ी के फूल न गिर जायें और काँटे न टूट जायें। अतः चादर फाड़कर, उलझे भाग को फाड़कर छोड़ दिया। आधी अपनी देह पर रह गयी। फिर कहीं वह भी गिर गयी। महावीर को पता न चला और वे नंगे हो गये।

सर्वप्रथम उन्होंने जीवन में अहिंसा को उतारा, अनुभव किया और फिर कहा 'अहिंसा परमधर्म है'। अपनी उपस्थिति दूसरे के सामने रखना—हम हैं, यही हिंसा है, उनके अर्थ में। महावीर यदि एक शब्द में कहते कि अहिंसा क्या है, तो वे कहते—'आत्मज्ञान'। महावीर ने आत्मज्ञान पर बहुत बल दिया। वास्तव में अपने को भूलकर दूसरे को देखना ही 'हिंसा' है। जब व्यक्ति आत्मज्ञान को उपलब्ध हो जाता है। महावीर ने कहा कि यदि अहिंसा फैल जाए, विस्तृत हो जाए तो समानता संभव हो सकती है।

आज जो समाजवाद की बातें उठ रही हैं, वे तभी सम्भव है, जब अहिंसा फैल जाय। समाजवादी अहिंसा जानते नहीं, और समाजवाद की कल्पना करते हैं—समाजवाद की, लोकहित की, लोक-कल्याण की बातें तभी की जा सकती हैं, जब अहिंसा फैल जाय। महावीर की अहिंसा स्वीकारात्मक है, निषेधात्मक नहीं। वह हिंसा का विपरीत भाव नहीं है, बल्कि हिंसा ही विपरीत भाव है अहिंसा की। अतः हम देखते हैं कि महावीर की अहिंसा अन्य सभी धर्मों, दर्शनों की अहिंसा से अलग है, विशेष है, श्रेष्ठ है और जीवन में उतारने में अधिक सुगम और व्यवहार्य है।

इस अहिंसात्मक विवेचन की प्रस्तुति सर्वप्रथम 'आचारांगसूत्र' में ही की गई तथा यह स्थापना की गई कि हिंसा और ममत्व ही कर्मबन्धन के मुख्य कारण हैं। अतः कर्मबन्धन से मुक्त होने की अभिलाषा रखनेवाले मुमुक्षुओं को हिंसा और ममत्व से दूर रहना चाहिए। पृथ्वी, अप (पानी), तेजस, वायु, वनस्पति और त्रस में भी अव्यक्त चेतनावाली आत्माएँ हैं, यह सत्य सर्वप्रथम जैन धर्म ने ही जगत् के समक्ष रखा और अव्यक्त आत्माओं के प्रति भी अहिंसक रहने का न केवल उपदेश ही दिया, अपितु वैसा आचरण करके बतलाया। यह जैन धर्म की अहिंसा की लाक्षणिकता है। जो व्यक्ति इन सूक्ष्मों के प्रति अहिंसक रह सकता है, वह स्थूल जीवों के प्रति तो अहिंसक रहेगा ही।[५]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचारांगसूत्र में इस 'अहिंसा' विषय को विस्तृत रूप से विवेचित किया गया है। साधारण रूप से हिंसा का अर्थ किसी जीव का हनन करना ही समझा जाता है, लेकिन ऐसा है नहीं। अहिंसा की व्याख्या अति व्यापक तथा उदार है। केवल प्राणों से रहित करना ही हिंसा नहीं है, लेकिन दण्डादि से प्रहार करना, किसी को गुलाम बनाना, दूसरों पर अभिमान से हुकूमत चलाना, दूसरों को बन्धन में बाँधना, नौकर-चाकरों के प्रति दुर्व्यवहार करना, शारीरिक एवं मानसिक सन्ताप देना ये सभी हिंसा है। फूल की पँखुड़ी को कष्ट पहुँचाना भी हिंसा है, तो अहिंसक व्यक्ति किस तरह किसी के मन को या शरीर को पीड़ा पहुँचा सकता है? अहिंसा का उपासक मन से भी किसी को कष्ट पहुँचाने की भावना नहीं कर सकता। अपने आश्रय में रहते हुए नौकर-चाकर या पशुओं पर अत्याचार नहीं कर सकता। वह समझता है कि सब जीव मेरे समान ही सुख चाहते हैं, उनमें चेतना-तत्त्व है, वे भी मनः शक्तिवान् हैं, और वे भी जीवन की इच्छा रखते हैं।

जैनधर्म का प्राण ही अहिंसा है। जिनेन्द्र-वचन अहिंसामय ही है। अहिंसा ही विश्वशान्ति का मूल है। अहिंसा से ही सब प्राणी सुरक्षित और निर्भय रह सकते हैं। अहिंसा ही संसार में सुख और कल्याण की जननी है।

चूँकि अहिंसा धर्म शुद्ध, नित्य और शाश्वत है, अतएव वह किसी सम्प्रदाय, समाज या मजहब के लिए नहीं है, परन्तु प्राणीमात्र के लिए है। जिस प्रकार सूर्य की किरणें किसी खास व्यक्ति या समूह के लिए नहीं है, परन्तु प्राणी-मात्र के लिए है, उसी प्रकार तीर्थंकरों ने यह उपदेश किसी खास व्यक्ति, मजहब या पक्ष के लिए नहीं दिया, बल्कि प्राणीमात्र के लिए दिया है।

संसार में प्रत्येक प्राणी को धर्म-तत्त्व की अनिवार्य आवश्यकता रहती है। कोई भी प्राणी धर्म से पृथक् नहीं रह सकता, जिसमें विकास का तारतम्य पाया जाता है। अहिंसा के बिना धर्म नहीं, और धर्म के बिना अहिंसा नहीं।

जैन शब्द किसी कुल, जाति या समाज की संज्ञा नहीं है, किन्तु यह गुणवाचक है। जैन धर्म का द्वार संसार के प्रत्येक मनुष्य तो क्या, पशुओं के लिए भी खुला है।

जैन धर्म ने अहिंसा की जैसी व्यापक व्याख्या की है, वैसी और कहीं भी देखने को नहीं आती। जैन धर्मावलम्बी अर्हत् आदि पंचपरमेष्ठियों ने अहिंसा का ही जीवन जिया। अहिंसा से भिन्न उनका कोई धर्म अथवा जीवन नहीं था।

वैदिक विचार-धारा में अहिंसा का प्रवाह :

विश्व-साहित्य में आदि व्यवस्थित साहित्यिक संग्रह ऋग्वेद आदिमानव के लिए धर्म, दर्शन, विज्ञान, आचरण, सामाजिक व्यवहार आदि का एक विश्वकोष है। उसमें तथा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यजुर्वेद आदि अन्य वेदों में भी सर्वत्र ही अहिंसा के आचरण का ही व्यवधान-रहित उपदेशपूर्ण विधान निहित है। किन्तु मध्यकाल में कुछ स्वार्थियों ने वेद की व्याख्या (भाष्य-सहित) में भी पशुहिंसा के विषय को घुसेड़ दिया। प्राचीन वेदभाष्यों में कहीं भी हिंसा का जिक्र तक नहीं है। वेदों के विषय में कहा गया कि वे यज्ञ के लिए रचे गए। वेद-ब्राह्मणों के, भाष्यकार सायण ने यद्यपि अपने ग्रन्थ 'ऋग्वेदभाष्यभूमिका' में वेद को ईश्वर के निराकारत्व-प्रतिपादक और अहिंसादि सत्कर्मों का ग्रन्थ माना है, किन्तु भाष्य करते समय वे अपनी इस प्रतिज्ञा और स्थापना से हट गये हैं। सायण ने पूर्ववर्ती भाष्यकार उव्वट-महीधर को आदर्श मानकर यजुर्वेद की काण्वसंहिता के भाष्य में यज्ञ के अन्तर्गत पशुहिंसा और अश्लीलता का भी विधान कर दिया।

ऋग्वेद के आरम्भ के अग्निसूक्त में 'यज्ञ' को अध्वर कहा गया है। 'ध्वर' हिंसार्थक धातु है और जहाँ हिंसा नहीं की जाए, वह 'अध्वर' यज्ञ हुआ। 'यज्' देव-पूजा-संगतिकरणदानेषु धातु से 'यज्ञ' शब्द बना है। इस शब्द का कोई भी अर्थ हिंसा का प्रतिपादन नहीं करता। वैदिक काल के 'यज्ञ' में किसी प्रकार की हिंसा नहीं होती थी। बल्कि पीछे यज्ञ में पशु-बलि देनेवाले के लिए आक्षेप रूप में ऐसा भी कहा जाता था कि यदि यज्ञ में मारा गया पशु सीधे स्वर्ग में जाता है, तो यजमान अपने पिता को मारकर स्वर्ग क्यों नहीं भेज देता।

उपनिषद्-काल में भी हिंसा का कोई स्थान नहीं था। महाभारत के पश्चात् समाज का अधः पतन होने लगा और अनेक प्रकार की विचारधाराएँ प्रवाहित होने लगीं तथा कथित यज्ञों में पशु बलि की प्रथा प्रचलित हो गई। प्रतिक्रियास्वरूप बौद्ध, जैन तथा अन्य मत प्रकाश में आये। महावीर और बुद्ध के प्रतिद्वन्दी कई सम्प्रदाय-प्रवर्तक उस समय थे। किन्तु वे टिक नहीं सके।

यज्ञ में प्राणिहिंसा की बात किसी भी शास्त्र से अनुमोदित नहीं हो सकती। शास्त्रकारों ने तो "अध्वर इति यज्ञनाम—ध्वरति हिंसाकर्म तत्प्रतिषेधः"[६] अध्वर यज्ञ का नाम है, जिसका अर्थ हिंसारहित कर्म है[७]।

ऋग्वेद के अग्निसूक्ति में कहा गया है: "अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि स इद् देवेषु गच्छति"।[८] तथा उसी सूक्त में उल्लेख है कि 'राजन्तमध्वराणां, गोपामृतस्य दीदिवम् वर्धमानं स्वेदमे।'[९]

दो या अधिक अर्थोंवाले शब्दों को देखकर पूर्वापरप्रसंग, प्रकरण, वक्तव्य के बोलने के मन्तव्य आदि को भली भाँति समझ लेना चाहिए। ऐसे कतितपय शब्द मेधा, आलम्भन, संज्ञपन, बलि आदि हैं। उनमें से कुछ पर यहाँ विचार किये जाते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ने यजुर्वेद, अध्याय ३०, में आये 'मेध' का अर्थ मिलना, परस्पर मित्रता करना, ऐक्य करना, एक दूसरे को जानना, जोड़ना प्रेम करना, धारण—बुद्धि का बल और तेज बढ़ाना, पवित्र करना, सत्त्व-बल और उत्साह बढ़ाना लिखा है। 'मेधृ' धातु का अर्थ 'मेधृ-मेधा-संगमनयोः हिंसायां च' अर्थात् 'मेधृ' धातु से निष्पन्न 'मेध' शब्द के मेधा, लोगों में एकता एवं प्रेम बढ़ाना तथा हिंसा ये तीन अर्थ होते हैं। जब मेध—मेधा के अन्य अर्थ भी हैं, तो हिंसावाले अर्थ के प्रति इतना दुराग्रह क्यों किया जाये, जब कि उन-उन स्थलों में उनका हिंसा से भिन्न तात्पर्य ही अभीष्ट है[१०]।

'आलभते' का अर्थ स्पर्श करना, प्राप्त करना और वध करना है। इसका अर्थ, विशेषतः वैदिक सन्दर्भ में 'वध' का नहीं करना चाहिए। 'उपनयन' में 'हृदयालम्भ' का अर्थ हृदय-स्पर्श है, हृदय का वध नहीं। ब्रह्मणे ब्राह्मणम् आलभते—ज्ञान के लिए ज्ञानी को प्राप्त करता है। क्षत्राय राजन्यम् आलभते— शौर्य के लिए शूर को प्राप्त करता है। नृत्याय सूतं आलभते—नाचने के लिए सूत को बुलाता है। धर्माय सभाचरं आलभते—धर्म ज्ञान के लिए धर्म-सभा के सदस्य को बुलाता है।

'अग्नि' शब्द के साथ 'उक्षान्न' और 'वशान्न' शब्द आये हैं। यूरोपीय विद्वानों का मानना है कि 'उक्षान्न' का तात्पर्य बैल का मांस और 'वशान्न' का अर्थ गोमांस है। जिस कारण ये नाम अग्नि के साथ वेद में आये हैं, उस कारण अग्नि में मांस डाले जाते थे और खाये भी जाते थे।

अग्नि का एक नाम 'विश्वाट्' है, उसका अर्थ सर्वभक्षक है। ऋग्वेद[११] में अग्नि को विश्वाट् कहा है। अग्नि सर्वभक्षक है। उसमें जितनी चीजें डाली जायें, वह सभी को खा जाती है—भस्म कर डालती है। अग्नि में जितनी चीजें डाली जायें, उन्हें वह तो खा ही जाती है, तो क्या मनुष्य भी सभी चीजें खा जायगा। अग्निहोत्र में अग्नि में आम्र, खदिर, बिल्व, पलाश, वट, अर्क आदि की लकड़ियाँ डाली जाती हैं, तो क्या वैदिक आर्य इन्हें भी खाते थे। इसलिए 'उक्षान्न' और 'वशान्न' (बैल और गाय) के मांस को वैदिक खाते थे, ऐसा कहना अनुचित होगा। 'वशान्न' शब्द का अर्थ गौ से उत्पन्न होनेवाले दूध, घी आदि पदार्थ हैं। वेद के भाष्यकार सायणाचार्य 'गोश्रिताः', 'गवाशिरः' शब्दों के विषय में निम्न प्रकार का भाष्य करते हैं— "विकारे प्रकृति शब्दः। पयोभिः मिश्रिताः। गोभिः क्षीरैः आशिरो मिश्रिताः संजाताः[१२] अर्थात् यहाँ गौ से दूध लिया जाता है, उससे मिश्रित सोम यहाँ इन शब्दों से बताया जाता है। ग्रिफिथ ने गवाशिर का अर्थ दूध से मिश्रित किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यजुर्वेद के प्रथम अध्याय के प्रथम मन्त्र में पशुओं की रक्षा का आदेश दिया गया है। यजु[१३] में 'गां मा हिंसीः' तथा मा हिंसीः' कहा है। इसी प्रकार अथर्ववेद में गाय को 'अघ्न्या' (अहन्तव्या) कहा है। परिवार तथा समाज में पारस्परिक व्यवहार किस प्रकार किया जाय, इस प्रसंग में कहा गया है 'सहृदयं सामनस्य अविद्वेषं कृणोमि वः। अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्संजातमिवाघ्न्या।'

पुनः

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रतो भूत्वा वाचं वदतु भद्रया॥[१४]

इसी प्रकार समाज में सभी परस्पर एक समान रहते हुए व्यवहार करें।

हिंसा से विरत होने और अहिंसा को व्यवहार में लाने में यह सामाजिक राष्ट्रीय व्यवस्था की जाय कि सभी अभय रहें

अभयं मित्रादभयम् अमित्रादभयं ज्ञातादभयं परोक्षात्।
अभयं नक्तमभयं दिवानः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तुः॥[१५]

और

मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे,
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥

और पुनः

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवाभागं यथापूर्वे संजानानामुपासते॥[१६]

किसी गोष्ठी के अन्त में शान्तिपाठ करना चाहिए। शान्ति की भावना लेकर जब सभी लोग अपने-अपने निवास में जायेंगे, वही भाव क्रमशः हमारे जीवन में प्रविष्ट होकर हमें हिंसा से विरत रखेगा।

ऐसा संकल्प और तदनुकूल व्यवहार वैदिक समाज में होता था। अब तो लोग चन्द्रमा पर जाते हैं, तो वहाँ भी जाने वाले अभय रहें, शान्ति से रहें, वह हुआ। अब पृथ्वी की परिक्रमा करनेवाले उपग्रह अन्तरिक्ष में जाते हैं।

शान्तिपाठ में सर्वत्र शान्ति का आह्वान किया गया है, वही शान्ति पाठ करनेवाले के यहाँ आये। ऐसी शान्ति चाहनेवाले क्या हिंसक हो सकते हैं : "द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः वनस्पतयः शान्तिः विश्वेदेवाः शान्तिः, ब्रह्म शान्तिः सर्वशान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सामाशान्तिरेधि"। ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥[१७]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पश्चात्काल में संस्कृत के काव्य तथा अन्य विषय के ग्रन्थों में पशुहिंसा का समावेश कर दिया गया। वेद के अर्थों में उनके पदों की मनमानी व्युत्पत्ति के द्वारा हिंसात्मक विवेचन किया गया और यज्ञों में पशुओं की हिंसा होने लगी। इसी हिंसा-व्यवस्था को देख कर अहिंसक मतों—जैन-बौद्ध आदि का प्रवर्तन हुआ। योगदर्शन में तो अहिंसा को अष्टांगयोग के प्रथम सोपान 'यम' के प्रथम अवयव के रूप में गृहीत कर लिया गया।

पतंजलि के योगदर्शन के अष्टांग योग में चित्त वृत्ति के निरोध तथा फल-स्वरूप समाधि और मोक्ष की प्राप्ति के लिए अपने आचरण में साधक के द्वारा 'अहिंसा' का ही सर्वप्रथम आश्रयण किया जाता है। 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'[१८] चित्तवृत्ति के निरोध के लिए आवश्यक अष्टांग योग के "यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयो-ऽष्टावङ्गानि"[१९] और यम के तत्त्व हुए "अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः"[२०] जैन दर्शन में भी इन्हीं अथवा अन्य नामों को संयुक्त करके ये ही पंच महाव्रत परिगणित, व्यवहृत तथा अनुष्ठित हुए हैं।

इन महाव्रतों (धर्मों-गुणों) को सिद्ध करने में अभ्यास आवश्यक है। इसके लिए पतंजलि ने बतलाया है कि यम और नियम के विरोधी भावों के उपस्थित होने पर उनके प्रतिपक्षी विचारों का बार-बार चिन्तन करना चाहिए। सूत्र यों है : 'वितर्कबाधने-प्रतिपक्षभावनम्'[२१]। जब मन में हिंसा आदि करने के लिए क्रोध की बड़ी तरंग आये, तो उसे कैसे वश में लाया जाय? उसके विपरीत एक तरंग उठाकर। उस समय प्रेम की बात मन में लायी जाय। कभी-कभी ऐसा होता है कि पत्नी अपने पति पर खूब नाराज हो जाती है, उसी समय उसका बच्चा वहाँ आ जाता है और वह उसे गोद में उठाकर चूम लेती है, उससे उसके मन में बच्चे के प्रति प्रेम-तरंग उठने लगती है और पहले की तरंग को दबा देती है। प्रेम क्रोध के विपरीत है।

इसी प्रकार जब मन में चोरी का भाव उठे, तो चोरी के विपरीत भाव का चिन्तन करना चाहिए। जब दान ग्रहण करने या किसी की वस्तु को लेने का विचार मन में आये, तो उसके विपरीत भाव का चिन्तन मनमें किया जाय। उसके शमन अर्थात् वितर्क, उसके प्रकार, फल, उसके शमन आदि का विचार निम्नलिखित सूत्र में किया गया है।

मैं अर्थात् मैं स्वयं कोई झूठ कहूँ, तो उससे जो पाप होता है, उतना ही पाप तब भी होता है, जब मैं दूसरे से झूठ बात कहलवाता हूँ, अथवा दूसरे की झूठ बात का अनुमोदन करता हूँ। वितर्क अर्थात् योग के विरोधी हैं, हिंसा आदि भाव; वे तीन प्रकार के होते हैं—लोभ, क्रोध, मोह; और इनमें भी कोई थोड़े परिमाण का, कोई मध्य परिमाण का और कोई बहुत बड़े परिमाण का होता है; इनके अज्ञान और क्लेशरूप अनन्त फल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं—इस प्रकार विचार करना ही प्रतिपक्ष की भावना है। 'भावना' एक विशेष शब्द है। बार-बार अभ्यास करने को 'भावना' या 'भावनम्' कहते हैं। आयुर्वेद में किसी औषधि के निर्माण के लिए आवश्यक अन्य तरल द्रव्य की 'भावना' दी जाती है; यथा—मण्डूर के लिए गोमूत्र की भावना दी जाती है—लोहे के अयस्क में गोमूत्र डालकर खरल में घोटते हैं; पुनर्नवा के स्वरस को भी मण्डूर में डालते हैं।

सत्य (अमृषा) के विरोधी भाव झूठ का व्यवहार करने पर, वह यदि जरा-सा भी हो तो भी वह झूठ तो है ही। पर्वत की कन्दरा में भी रहकर-बैठकर तुम पाप-चिन्तन करो, किसी के प्रति भीतर में घृणा के भाव का पोषण करो, वह भी संचित रहेगा, और कालान्तर में फिर से वह तुम्हारे पास आकर तुम्हें आघात करेगा, किसी-न-किसी दिन एक-न-एक प्रकार के दुःख के रूप में वह प्रबल वेग से तुम पर आक्रमण करेगा। यदि तुम अपने हृदय से ईर्ष्या या घृणा का भाव चारों ओर बाहर भेजो, तो वह चक्रवृद्धि व्याज-सहित तुम पर आ गिरेगा। दुनिया की कोई भी ताकत उसे रोक न सकेगी। यदि तुम ने एक बार उस शक्ति को बाहर भेज दिया, तो फिर निश्चित जानो, तुम्हें उसका प्रतिघात सहन करना ही पड़ेगा। यह स्मरण रखने पर तुम कुकर्मों से बचे रह सकोगे[२२]।

श्रीमद्भगवद्गीता को शंकराचार्य ने अद्वैतवाद की सिद्धि के लिए वेदान्तसूत्र, उपनिषद् के साथ-साथ प्रस्थानत्रयी में स्थान दिया। गीता, अध्याय १२ के श्लोक १३, १४, १५, १६, १७ आदि में 'स मे प्रियः' के योग्य सत्पुरुषों में सभी प्राणी द्वेषभावरहित, मित्र, करुणापूर्ण, स्वार्थ-रहित, निरहंकार, सुख-दुःख में एक रस, क्षमाशील, स्वयं में सन्तुष्ट, मन, इन्द्रियों और शरीर को वश में कर लेनेवाला, हर्ष, द्वेष, कामना, शोच से रहित तथा शुभाशुभ कर्म के फल को त्याग देनेवाला, मेरी भक्ति में लीन, शत्रु-मित्र में समभाव, मानापमान में समान, सर्दी-गर्मी आदि द्वन्द्वों से अस्पृष्ट, निन्दा-स्तुति में तुल्यमति, शरीर की रक्षा के लिए घर की परवाह नहीं करनेवाला आदि गुणोंवाले पुरुष भगवान् के प्रिय होते हैं। ये सभी गुण जैन अर्हत् आदि पंच परमेष्ठी भगवान् महावीर से प्राप्त करने के लिए सतत प्रयत्नशील रहते थे। इसी प्रकार अध्याय १३ के अधिकांश श्लोकों में वैसे सात्त्विक गुणों का कथन ही किया गया है, जो एक आदर्श जैन साधु में होने चाहिए। पुनः अध्याय १६ के आदि के कितने ही श्लोक सात्त्विक गुणों की गणना करते हैं, जो किसी आदर्श सात्त्विक व्यक्ति में होने चाहिए। अध्याय १८ में सात्त्विक कर्मों और सुखों की गिनती की गई है। ये सभी अहिंसा, संयम (आन्तरिक और बाह्य) और तप को अपने में लपेटकर चलते हैं, जो जैनधर्म के प्राण-स्वरूप हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्दर्भ :

१. राष्ट्रधर्म, अप्रिल, १९७३, पृ. २७

२. पाणिनि : अष्टाध्यायी ४. ४. ६०

३. तत्त्वार्थसूत्र, १, ६

४. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान : डॉ. हीरालाल जैन, पृ. २४९

५. आचारांगसूत्रः मुनिश्री सौभाग्यमलजी महाराज, वि.सं. २०००, जैन साहित्य समिति, नयापुरा, उज्जैन, प्राक्कथन, पृ. ७

६. निरुक्त, २.७

७. अखण्डज्योति, वर्ष ५५, अंक ११, नवम्बर, १९९२ई.

८. अग्निसूत्र १. १. ४

९. वहीं. १. १. ८

१०. यजुर्वेदः श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, पृ. ३१

११. ऋग्वेद ४४. २६

१२. वही, १. १३७. १-२

१३. यजुर्वेद, १३. ४२ १३. ४९

१४. संस्कार-विधि : स्वामी दयानन्द, समाज में पारस्परिक व्यवहार प्रकरण।

१५. उपर्युक्त, स्वस्तिवाचन

१६. उपर्युक्त

१७. उपर्युक्त, शान्तिपाठ प्रकरण

१८. योगदर्शन, १. १२

१९. वही, २. २९

२०. वही, २. ३०

२१. वही, २. ३३

२२. राजयोग, पतंजलि योगदर्शन : स्वामी विवेकानन्द, पृ. १९१-९३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनधर्म के पंचमहाव्रत : आज के सन्दर्भ में

*डॉ. अवधेश्वर अरुण**

'जि' का अर्थ होता है—विजय। अतः जिन का अर्थ होगा—विजय प्राप्त करनेवाला। विजय दो तरह की होती है—(१) दूसरों पर विजय; (२) अपनों पर विजय। दूसरों पर विजय युद्ध और हिंसा से प्राप्त होती है, जबकि अपने पर विजय संयम से। जैन दर्शन आत्मविजय का दर्शन है। इसकी परिणति मुक्ति या मोक्ष में होती है।

कोई भी दर्शन अपने सिद्धान्त में विचार-प्रधान होता है और व्यवहार में मानव-मात्र की कल्याण-कामना से प्रेरित। मानव की कल्याण-कामना से प्रेरित आचार-विचार की सरणि पर चलनेवाला धर्म-चिन्तन किसी भी देश या काल में न तो अप्रासंगिक होता है और न ही उपेक्षित। जैन धर्म के साथ भी यही स्थिति है। वह न तो आज के युग के लिए अप्रासंगिक है और न ही उपेक्षणीय। यह ठीक है कि धर्म के रूप में जैन धर्म को मानने वाले की संख्या कम है, लेकिन जिन मूल्यों पर यह धर्म आधारित है, वे मूल्य किसी भी देश और काल में मनुष्य-मात्र के लिए ग्राह्य और लाभकारी हैं।

आज का युग दो दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। प्रथम विज्ञानवाद की दृष्टि से और द्वितीय अर्थवाद की दृष्टि से। विज्ञानवाद ने सारे विश्व की चिन्तन-दृष्टि को व्यापक तौर पर प्रभावित किया है। अन्ध आस्था और भावुकता से प्रेरित जीवन-दृष्टि बहुत दूर तक कुण्ठित हुई है और उसकी जगह सोचने-समझने की तर्कपूर्ण वस्तुवादी दृष्टि विकसित हुई है। जीवन-जगत् के सम्बन्ध में पूर्ववर्ती अनेक धारणाएँ परिवर्तित हुई हैं और सब मिलाकर एक यथार्थपरक बुद्धिवादी दृष्टिकोण बहुत हदतक स्थापित हुआ है। इसके कारण आधुनिक युग में जीवन जीने की कला भी बहुत हद तक बदल गई है।

अधिकांश लोग ऐसा मानते हैं कि वैज्ञानिक प्रगति से उत्पन्न बुद्धिवादी दृष्टि ने आधुनिक जीवन को अर्थप्रिय बना दिया है और आज के जीवन में हाहाकार, आपाधापी, हिंसा, असन्तोष और बेचैनी का मूल कारण विज्ञान-पोषित अर्थवाद है। लेकिन जब विज्ञान नहीं था, तब भी इस देश में 'खाओ, पियो, मौज करो' का चार्वाकी दर्शन उदित हुआ था। इसके अतिरिक्त 'सर्वे गुणाः कांचनमाश्रयन्ति' जैसी उक्तियाँ भी प्रचलित थीं और जीवन को चार पुरुषार्थों में समेटनेवाला आर्ष दर्शन भी अर्थ को एक महत्त्वपूर्ण पुरुषार्थ मानता था। अतः आधुनिक अर्थवाद को विज्ञानवाद की उपज मानना संगत नहीं है। अर्थवाद एक शाश्वत सत्य है। मेरी दृष्टि में संसार में आज जितनी क्षुद्रता, लोलुपता,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विलासिता और संग्रही वृत्ति है, उतनी ही पिछले युगों में भी थी। शोषण, अत्याचार, हिंसा, गुलामी आदि भी पिछले किसी युग में कम नहीं थे। सर्वसुखसम्पन्न स्वर्णयुग केवल कल्पना है। यथार्थ तो यही है कि सृष्टि के प्रारम्भ से ही मनुष्य आहार, निद्रा, भय और मैथुन जैसे पशु-कर्मों से पीड़ित रहा है। किन्तु इन मूल वृत्तियों के परिमार्जन के लिए हर युग में जन्मजात उच्च संस्कारवाले कुछ महापुरुष प्रयास करते रहे हैं और उन्हीं के प्रयासों से पशुता के ऊषर में मानवता के कुछ फूल समय-समय खिलते रहे हैं। राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध, ईसा, गाँधी आदि इसी पशुता के ऊषर में मनुष्यता के फूल खिलानेवाले महात्मा हैं, जिन्होंने अपने आत्मज्ञान, अनुभव, चिन्तन और विचारों से मनुष्य की पशुता को परिमार्जित कर उसे सँवारने और उन्नत बनाने का प्रयत्न किया है।

मेरी दृष्टि में जैन दर्शन की विस्तृत और गम्भीर सरणि में कुछ बिन्दु ऐसे हैं, जो आज के वैज्ञानिक चिन्तन की दृष्टि से भी सही है और कुछ आचार ऐसे हैं, जो आज के किसी भी धर्मावलम्बी मनुष्य के लिए पूर्णतया ग्राह्य हैं। अतः जैन दर्शन की आधुनिकयुगीन प्रासंगिकता असन्दिग्ध है। यहाँ केवल जैनदर्शन के पंचमहाव्रतों की प्रासंगिकता पर विचार अपेक्षित है।

जैन दर्शन में पाँच महाव्रत माने गये हैं। इन महाव्रतों का अनुपालन जैनधर्म की आचार-सहिंता है। ये महाव्रत पिछले युगों में जितने उपयोगी थे, आज भी उतने ही हैं और आगे भी रहेंगे। इन महाव्रतों का मानव-समाज की सुख-शान्ति के लिए उतना ही महत्त्व है, जितना किसी एक व्यक्ति के लिए मोक्ष पाने हेतु।

इन पाँच महाव्रतों में सबसे महत्त्वपूर्ण है—अहिंसा। जैन धर्म में मान्य अहिंसा के दो पक्ष हैं—(१) किसी जीव की हिंसा न करना (२) सभी जीवों से प्रेम करना। इनमें पहला निषेध-पक्ष है और दूसरा विधेय-पक्ष। जब विधेय-पक्ष का पालन होता होगा, तब निषेध-पक्ष स्वतः दुर्बल होगा। जब मन के भीतर की हिंसा-वृत्ति घटेगी, तब हिंसा-कर्म स्वतः छूट जायेगा। हिंसा न करना एक कठोर अनुशासन के दायरे में आता है, जिसपर कभी भावावेश में नियन्त्रण छूट भी सकता है, लेकिन सब जीवों से प्रेम किया जाय, तो प्रेम के मिश्रण से हिंसा भी तीव्रता उसी तरह घटती चली जायेगी, जिस तरह अधिक पानी मिलाते जाने से नमक का खारापन भी धीरे-धीरे घटता हुआ समाप्त हो जाता है।

इस तरह हिंसा के निषेध और प्रेम के विधान द्वारा अहिंसा का पूर्ण रूप जैन दर्शन में स्थापित किया गया है। यह अंहिसा सभी कालों और सभी देशों में मनुष्य की सत्ता बनाये रखने के लिए, सामाजिक सुख-शान्ति के लिए और मानवीय उत्कृष्ट गुणों, यथाप्रेम दया, ममता, सहानुभूति सहयोग आदि की वृद्धि के लिए आवश्यक है। आज के सन्दर्भ में 'कुरुक्षेत्र' के भीष्म युधिष्ठिर से कहते हैं :

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मैं भी हूँ सोचता जगत से कैसे उठे जिघिंसा
किस प्रकार फैले धरती पर करुणा, प्रेम, अहिंसा
जिये मनुज किस भाँति परस्पर होकर भाई भाई ?
कैसे रुके प्रवाह द्रोह का कैसे रुके लड़ाई।

(दिनकर)

जैनधर्म इसका एक ही उत्तर देता है—अहिंसा को अपना कर : हिंसक वृत्ति को समाप्त कर।

जैनधर्म का दूसरा महाव्रत है सत्य। सत्य बोलने से तात्पर्य है—अनृत, अर्थात् प्रिय और हितकर सत्य बोलना। इस सम्बन्ध में संस्कृत का यह सुभाषित मानों पुकार-पुकार कर जैनधर्म के इस महाव्रत के पालन की प्रेरणा दे रहा है:

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्
न ब्रूयात् सत्यम् अप्रियम्।

प्रिय सत्य बोलना या कटु सत्य को भी मनोरम बनाकर बोलना व्यावहारिक जीवन में कितना उपयोगी है, यह सभी जानते हैं। यदि प्रिय सत्य बोलने के व्रत को मनुष्य अपने जीवन में उतार ले तो वह उग्रता, क्रोध, विरोध, कटुता और इनसे होनेवाले सारे दुष्परिणामों से मुक्ति पा जाये। व्यावहारिक जीवन में अधिकतर झगड़े और उनकी हिंसात्मक परिणति कटु भाषण से ही होती है। यदि हम वाणी पर संयम रख सकें और वाणी में माधुर्य घोलकर उसकी कड़वाहट कम कर सकें, तो स्वतः भी शीतल रहें और दूसरों को भी शीतल कर दें। अतः यह महाव्रत पूर्णतः लोकोपयोगी और व्यावहारिक है।

जैन दर्शन का तीसरा महाव्रत है—अस्तेय। इसका अर्थ है—चोरी न करना। आज के युग में चोरी की पुरानी रीतियों के अतिरिक्त एक नई रीति विकसित हुई है—भ्रष्टाचार। इस देश के अधिकांश क्षेत्र में, जो कहीं पर अधिकारी हैं या कर्मचारी हैं; वे या तो कामचोरी कर रहे हैं अथवा अपने पद का दुरुपयोग कर राष्ट्रीय सम्पदा से अपना घर भर रहे हैं। यह सीधी चोरी है। पता नहीं, इस नये प्रकार की चोरी से भगवान् महावीर का प्रयोजन था या नहीं। लेकिन आज विदेशों से आनेवाले कर्ज की चोरी इसी शैली में हो रही है। विकास-कार्यों पर व्यय होनेवाली राशि का अधिकांश कमीशन के रूप में भ्रष्ट अधिकारियों की जेब में चला जा रहा है। अभी कुछ महीनों से हमारे देश का आर्थिक जगत् जिन बैंक घोटालों से उद्वेलित रहा है, वह चोरी का ही एक बौद्धिक नमूना है। तस्करी, घोटाला, कमीशन, घूस, पद का दुरुपयोग आदि तरीकों से धनी बन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जा रहे लोग सत्ता और सम्मान के शिखर पर आसीन होकर पूज्य बन रहे हैं। ऐसी दशा में यदि अस्तेय को प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में उतार ले, तो नित्य नये रूपों में विकसित हो रही चोरी से होनेवाली राष्ट्रीय क्षति से मुक्ति प्राप्त हो सकती है। आज हमारी सबसे बड़ी आवश्यकता चरित्रवान् लोगों की हैं, जो इस विकार को अपने आचरण की पवित्रता से मार सकें।

चौथा महाव्रत ब्रह्मचर्य इसी का पूर्वपक्ष है। जैनधर्म में ब्रह्मचर्य का अर्थ है—वासनाओं का त्याग। यदि हम लोभ, मोह मद आदि वासनाओं को त्याग कर ब्रह्मचर्य को अपने जीवन में उतार लें, तो स्वतः हमारा आचार पवित्र हो जायेगा और हमसे अस्तेय जैसे कार्य होंगे ही नहीं। अतः ब्रह्मचर्य आज के युग में उन्नत आचार-निर्माण के लिए आवश्यक है।

जैनधर्म का पाँचवाँ महाव्रत है—विषयों के प्रति आसक्ति का त्याग, अर्थात् अपरिग्रह। जैनधर्म की दृष्टि में आसक्ति ही बन्धन का कारण है। अतः आसक्ति से मुक्ति आवश्यक है। जो इन्द्रियों के विषय हैं, वे ही सांसारिक आसक्तियाँ हैं, इनके कारण ही हम वासनाओं से आक्रान्त होते है, वासनाएँ ही हमसे हिंसा, अस्तेय, अनृत जैसे आचार कराती हैं। इसी कारण हम व्यक्तिगत जीवन में मोक्ष से और सामाजिक जीवन में सदाचार से दूर होते चले जा रहे हैं। प्रसंग चाहे व्यक्तिगत मोक्ष का हो, चाहे सामाजिक जीवन में चारित्रिक पतन से मुक्ति का हो, अपरिग्रह हमारे लिए एकमात्र उपाय है।

सारांशतः, इन महाव्रतों का अनुपालन करने से न केवल आचार-विचार का परिमार्जन होता है, अपितु जल में कमल की तरह निर्लिप्त रहकर सांसारिक कार्यों का सम्पादन भी किया जा सकता है। इससे अपना हित तो होगा ही, समाज, राष्ट्र तथा मानवता का भी हित होगा। चरित्र की विश्वसनीयता मानव की सबसे बड़ी पूँजी है और इसका अभाव विनाश तथा पतन का मार्ग है। यदि जैनधर्म में स्वीकृत पाँच महाव्रतों को जीवन में उतार लिया जाये, तो वर्तमान कलह-कोलाहलमय मानव-जीवन की कालुष्य-वृत्ति दूर हो जाये और जागतिक लोकजीवन अमृत-किरणों की उज्ज्वलता से जगमगा उठे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनाचार : एक मूल्यांकन

*डॉ. अजित शुकदेव**

भारतीय सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में, पाश्चात्य नीतिशास्त्र के सामान भारतीय नीतिशास्त्र अथवा व्यावहारिक नीतिशास्त्र का अपना कोई अस्तित्व नहीं है। ध्यातव्य है कि पाश्चात्य परम्परा में नीतिशास्त्र अपना एक अलग स्थान रखता है, जिसका चरम लक्ष्य सुख, आनन्द, मानवीय पूर्णता अथवा अन्य दूसरे लक्ष्यों का विधान है, जो युक्ति, तर्क एवं बुद्धि से सम्बन्धित है और शुभ के अमूर्त्त प्रत्यय पर विमर्श करता है। दूसरी ओर भारतीय नीतिशास्त्र आध्यात्मिकता की नींव पर प्रतिष्ठित धर्म एवं आचार के पर्यायवाची होकर व्यापक अर्थबोध कराता है। अतः नीतिशास्त्र यहाँ धर्माधर्म-विवेचनशास्त्र, कर्त्तव्य-मीमांसा, हिताहित-विवेचन अथवा मूल्य-मीमांसा के रूप में सम्बोधित हुआ है। स्वाभाविक है कि नीतिशास्त्र का आधार यहाँ दर्शन एवं धर्म है। यही कारण है कि भारतीय चिन्तक नीतिशास्त्र शब्द के स्थान पर केवल 'नीति' अथवा 'आचार' शब्द का प्रयोग करते हैं।

इस सन्दर्भ में प्रो. राजबली पाण्डेय का कथन उचित लगता है। उन्होंने स्वीकार किया है कि भारत में नैतिक विचारना के आधारभूत प्रश्नों के उत्तर दर्शन एवं धर्म देते आये हैं। नीति को धर्म से केवल स्वीकृति और अनुज्ञा ही नहीं अपने अस्तित्व का मौलिक आधार भी मिला है। दर्शन ने धर्म और नीति के इस सम्बन्ध की यौक्तिक व्याख्या की है। भारतीय नीति मीमांसा के इस विशिष्ट स्वरूप का कारण भारतीय संस्कृति का मूलतः धर्मदार्शनिक होना है; क्योंकि धर्म, अध्यात्म एवं नीति एक दूसरे से कभी अलग नहीं हो पाये हैं। यही कारण है कि दर्शनशास्त्र भारतीय संस्कृति के ज्ञानात्मक पक्ष, धर्म एवं कला आदि उसके भावनात्मक पक्ष और नीति उसके क्रियात्मक पक्ष की अभिव्यक्ति है।

भारतीय नीति-मीमांसा के प्राणतत्त्व दार्शनिक एवं धार्मिक पूर्व मान्यताएँ हैं, जो सतत नीतिशास्त्र को विकसित एवं संवर्द्धित करती आई हैं। अतः इन दार्शनिक एवं धार्मिक पूर्वमान्यताओं के आधार पर ही नीति अथवा आचार की व्याख्या की जाती है। वे पूर्व मान्यताएँ हैं—आत्मा का अस्तित्व, उसका विकास और उसकी अमरता; देह, मन, प्राण आदि के अतिरिक्त आध्यात्मिकता की स्वीकृति; कर्म-सिद्धान्त एवं उसके फल में विश्वास; पूर्वजन्म एवं जन्म-मरण से विमुक्ति, स्वर्ग-नरक का विधान एवं कर्मानुसार आत्मा की गति; सृष्टि, सृष्टिकर्ता, पालनकर्ता, संहारकर्ता आदि; इनके अतिरिक्त निर्वाण अथवा

* विश्वभारती, शान्तिनिकेतन (प. बं.)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मोक्ष की अवधारणा, उसके साधनपथ सांसारिक दुःख एवं उससे मुक्ति एवं अन्ततः आत्म-साक्षात्कार अथवा ईश्वरानुभूति आदि। आप्तवचन, वेद की प्रामाणिकता इसी श्रेणी में परिगणित हैं। इनके अतिरिक्त सन्तों, महात्माओं एव सिद्धों के वचन भी प्रामाणिक मान कर भी नीतिशास्त्रों का गठन होता रहा है। इस सन्दर्भ में महाभारत ने कहा है—**"श्रुतयो विभिन्ना स्मृतयो विभिन्नता नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम् धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः॥"**

ध्यातव्य है कि परम्परा से समर्थित जहाँ साधारण धर्म और नीति-नियमों का वर्णन हुआ है, वहाँ दूसरी ओर परिवर्तनशील नियमों का भी प्रतिपादन हुआ है। स्मृतिकारों ने युगधर्म, युगह्रास, आपद्धर्म का विधान अधिकार एवं शक्तिभेद के आधार पर किया है, जो परिवर्तनशील सिद्धान्तों का स्वीकरण ही कहा जा सकता है।

इनके अतिरिक्त मानव-जीवन के प्रमुख चार लक्ष्य माने गये हैं, जिन्हें पुरुषार्थ कहते हैं। वे क्रमशः धर्म, काम, अर्थ और मोक्ष हैं। काम एवं अर्थ यद्यपि ये दोनों लौकिक जीवन के उन्नयन के लिए हैं, तथापि वे दोनों सर्वदा धर्म की परिधि में रहकर ही काम्य हैं। धर्म एवं मोक्ष आध्यात्मिक उन्नयन के लिए हैं और जीवन के अन्तिम पुरुषार्थ हैं। भारतीय नीतिशास्त्र इन चारों पुरुषार्थों को लक्ष्य में रखकर ही संचालित होता हैं। इसी दृष्टिकोण का प्रभाव है कि राज्य की राजनीति, विधिशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, वैयक्तिक सामाजिक कर्त्तव्य आदि के अन्तर्गत नीतिशास्त्र प्राणतत्त्व की तरह व्याप्त है। तात्पर्य यह हैं कि भारतीय सन्दर्भ में कोई भी कर्त्तव्य या अधिकार नीतितत्त्व की परिधि में ही संचालित होते रहे हैं और वे अध्यात्म, धर्म एवं नीति के साथ ऐसे घुल-मिल गये हैं, जो पृथक्-पृथक् नहीं रह सकते।

इस सन्दर्भ में जैनधर्म का नीतिशास्त्र भी विकसित एवं पल्लवित हुआ है। स्वाभाविक है कि उसके नीतिशास्त्र भी जैनधर्मदर्शन की पूर्व मान्यताओं से अलग नहीं है, बल्कि उनका भी आधार यही पूर्व मान्यताएँ हैं। यद्यपि जैनधर्म एवं दर्शन में सृष्टिकर्ता, पालनकर्ता एवं संहारकर्ता ईश्वर का अस्तित्व नहीं स्वीकार किया गया है और न वेद की प्रमाणिकता ही। इन पूर्वमान्यताओं के अन्तर्गत यहाँ आत्मा, अर्थात् जीव, कर्म एवं कर्मफल की प्राप्ति, ज्ञान आदि कुछ विशिष्ट मान्यताएँ अपना एक विशिष्ट स्थान रखती हैं। बताया गया है कि आत्मा स्वरूपतः ज्ञानमय है और अनन्त है। लेकिन जब यह आत्मा, अर्थात् जीव संसार में रहता है तो कर्म-पुद्गलों के आवरण के कारण मिथ्या ज्ञान में भ्रमण करता है। उसे मिथ्याज्ञान ही वास्तविक ज्ञान के समान लगता है। वह कर्ता एवं भोक्ता दोनों है। और वह अपने प्रयत्नों से मुक्त होकर अर्हत्व की प्राप्ति कर सकता है, जहाँ अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द और अनन्त वीर्य है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वस्तुतः यह अर्हत्त्व, बुद्धत्व अथवा ईश्वरत्व के समक्ष की स्थिति ही है। जहाँ ब्राह्मण-संस्कृति में मुक्ति के लिए जीव को ईश्वर-कृपा की अपेक्षा होती है, वहाँ श्रमण संस्कृति में नहीं। जीव जो कुछ भी करता है, उसका कर्मफल उसे ही भोगना पड़ता है, वह कर्म पापमय हो अथवा पुण्यमय। पुनः ऐसा विधान किया गया है कि कर्म-बन्धनों से पीड़ित आत्मा यदि मुक्ति की कामना करे, तो वह क्रमशः कर्म-बन्धनों को काटते-काटते आध्यात्मिक उन्नति द्वारा मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। इस प्रयत्न में उसे सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र का सम्मिलित पथ अपनाना पड़ता है। इस सन्दर्भ में प्रयत्नशील जीव अथवा साधक को अनेक नियमों, उप-नियमों का पालन मानसिक, वाचिक एवं कायिक क्रियाओं द्वारा करना होता है। इस प्रकार, हम कह सकते हैं कि इन पूर्वमान्यताओं के कारण जैन नीतिशास्त्र ने बहुत गहराई और विभिन्न विस्तृत फलक पर विस्तार पाया है।

पुनः ऐसा कहा जाता है कि जैन धर्म एवं दर्शन निवृत्तिपरक है और निवृत्तिपरक होने के कारण उसके नीतिशास्त्र भी प्रवृत्ति का विरोध करते हैं। लेकिन मेरी समझ में यह कहना उचित नहीं लगता। गहराई से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह आरोप सर्वथा निराधार है। वस्तुतः निवृत्ति एवं प्रवृत्ति एक दूसरे के पूरक हैं और दोनों के सम्यक् सन्तुलन से ही जीवन की सार्थकता सिद्ध होती है। निवृत्तिमार्गी जीवन-दृष्टि एकान्ततः पलायनवादी दृष्टि होती है और जैनधर्म-दर्शन पलायनवादी, जीवन-दृष्टि का समर्थक कभी नहीं रहा है। उसके मूल में ही अनेकान्तवादी जीवन-दृष्टि का उद्घोष है, जो सर्वथा एकान्तदृष्टि का विरोध करता है। सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखने के लिए मुनिधर्म एवं श्रावक-धर्म का विधान किया गया है, जिसे हम एक को निवृत्तिमार्ग एवं दूसरे को प्रवृत्तिमार्ग का प्रस्तोता कह सकते हैं।

जैन दर्शन में निश्चयनय और व्यवहारनय का विस्तृत वर्णन मिलता है। उसका एकमात्र उद्देश्य निवृत्ति एवं प्रवृत्तिधर्म की जीवन-कल्याण के लिए उपयोगिता का वर्णन करना है। अर्थात्, हम एक तरह से निवृत्ति-धर्म को निश्चयनय एवं प्रवृत्ति-धर्म को व्यवहारनय की उपमा दे सकते हैं, जो एक दूसरे के आश्रित हैं। आचार्य कुन्दकुन्द के शब्दों में 'ववहारेण विणा परमत्थुवदेसणमसक्क', अर्थात् निश्चयनय को जानने के लिए व्यवहारनय को जानना आवश्यक है। 'भगवती आराधना' में एक स्थान पर लिखा है कि आत्मा के हित को जानते हुए ही मनुष्य के अहित की निवृत्ति और हित की प्रवृत्ति होती है, इसलिए आत्महित की ओर प्रवृत्त होना चाहिए। जैन धर्म की आचारसंहिता में व्यावहारिक एवं अध्यात्मिक दोनों ही दिशाओं को निर्देशन मिलता है। वहाँ न किसी एक के प्रति आग्रह है और न दूसरे के प्रति दुराग्रह। बल्कि सम्पूर्ण जैनाचार्य में निवृत्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में प्रवृत्ति और प्रवृत्ति में निवृत्ति का समर्थन मिलता है। हिंसा की निवृत्ति के साथ अहिंसा की प्रवृत्ति आवश्यक है, नहीं तो दया, करुणा, वात्सल्य आदि प्रवृत्तियों की ओर कैसे आकृष्ट हुआ जा सकता है। उसी प्रकार असत्य के परित्याग का अर्थ है सत्य में प्रवृत्ति; अधिक संग्रह करने की निवृत्ति का तात्पर्य है अपरिग्रह की ओर प्रवृत्ति।

व्यवहार और निश्चय का विधान यह सिद्ध करते हैं कि जैन नीतिशास्त्र लौकिक एवं पारलौकिक दोनों के उन्नयन के साधक हैं, जो अर्थ, धर्म, काम के वृत्त में ही आते हैं। वस्तुतः अर्थ एवं काम ऐहिक उन्नयन के लक्ष्य हैं और धर्म एवं मोक्ष आध्यात्मिक के। अर्थ जहाँ काम की सन्तुष्टि के साधन हैं, वहाँ धर्म मोक्षप्राप्ति के। यद्यपि यह सत्य है कि जैन नीतिशास्त्र की दिशा धर्म एवं मोक्ष साधना की ओर जाती है, लेकिन उसका आन्तरिक प्रभाव लौकिकता की ओर भी है। यही कारण है कि जैन नीतिशास्त्र की संरचना श्रमणों एवं श्रावकों के लिए भी हुई है। यद्यपि आगमों में स्पष्टतः काम एवं अर्थ की प्राप्ति का व्यामोह नहीं पाया जाता, तथापि श्रावकों का अणुव्रत संयत काम एवं अर्थ की ओर दृष्टिपात करता है। सोमदेवसूरि अपने नीतिवाक्यामृत में—"समंगं या त्रिवर्गं सेवेत" कहकर धर्म, अर्थ एवं काम के समभाव से सेवन का समर्थन करते हैं। दशवैकालिकसूत्र भी कहता है कि धर्म, अर्थ और काम को चाहे कोई परस्पर विरोधी मानता हो, परन्तु जिनवाणी के अनुसार वे जीवन-अनुष्ठान में परस्पर अविरोधी हैं :

धम्मो अत्थो कामो भिन्नेते पिंडिता पडिसक्ता।
जिणवयणं उत्तिन्ना असवन्ता होंति नायव्या॥"

पुनः आचारांग में उल्लिखित अर्थलाभ की दशा में गर्व नहीं करना चाहिए :

'लाभुत्ति न मज्जिज्जा, अलाभुत्ति न सोज्जा' उत्तराध्यन (१४.३९) के अनुसार, 'अगर सारे संसार पर तुम्हारा अधिकार हो जाय, दुनिया का सारा धन तुम्हें ही मिल जाय, तब भी तुम्हें वह अपर्याप्त ही प्रतीत होगा, और वह अन्त समय में तुम्हारी रक्षा भी नहीं कर सकता।' पुनः (उत्तराध्ययन, १९.१७) खेत, वस्तुएँ, सोना, पुत्र, पत्नी, बन्धु-बान्धव और इस देह को भी त्याग कर हमें अवश्य ही जाना पड़ेगा।' इसी तरह दशवैकालिक के अनुसार 'थोड़ा प्राप्त होने पर मनुष्य को झुँझलाना नहीं चाहिए।' आदि उद्धरणों से यही प्रतीत होता है कि जैन नीतिशास्त्र अपरिग्रह-प्रधान रहा है, इसलिए स्पष्टतः अर्थ को जीवन का लक्ष्य नहीं स्वीकार किया है। इसी प्रकार, ब्रह्मचर्य को विशेष स्थान देनेवाले जैनशास्त्र में विषयों से विरक्ति का भाव दरशाया गया है। इस सन्दर्भ में उत्तराध्ययन (२०.४०, १६.६, १६.१४, ३२.१९), सूयगडंग (४.२.१९) आदि ग्रन्थों में उल्लिखित विषय-विरक्ति एवं कामरहित चिन्तन का आदेश दिया गया है, जिससे ध्वनित होता है कि विषय-वासना का संयमन ही मनुष्य-जीवन का लक्ष्य है। काम-विरोधी होते हुए भी नारी जाति का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विरोध जैन नीतिशास्त्र में नहीं है। ज्ञानार्णव (१५.५७) के अनुसार नारी को मोक्षाधिकारिणी माना गया है और केवल वासना-पूर्त्ति का यन्त्र न कहकर उसे सम्मान्य और पूज्य स्थान दिया गया है। पुनः ज्ञानार्णव (१२.५३) में ही कहा गया है कि "स्त्रियाँ अपने सतीत्व के महत्त्व, आचरण की पवित्रता, विनयशीलता और विवेक से धरातल को विभूषित करती हैं।" यदि ऐसा न होता तो ब्राह्मणी, सुन्दरी, अंजना, चन्दना, राजमती आदि नारियाँ जैनधर्म में पूज्य नहीं होतीं। अतः कामवासना को मर्यादित रखने का विधान काम को नकारना नहीं। यह कहा जा सकता है कि लौकिक जीवन को उन्नत बनाने के लिए स्वच्छन्द काम एवं अर्थ का आग्रह जीवन को विश्रृंखलित एवं पथभ्रष्ट बना देता है। इसीलिए जैन नीतिशास्त्र इन दोनों पुरुषार्थों को सम्यक् स्थान नहीं दे पाता है और इन दोनों के संयमन में ही अपने निःश्रेयस का मार्ग प्रतिष्ठित करता है।

जैन नीतिशास्त्र में आश्रम एवं जाति-व्यवस्था के प्रति एक अपना अलग दृष्टिकोण है, जो ब्राह्मण अथवा वैदिक-परम्परा से भिन्न है। वैदिक परम्परा जहाँ जीवनगत सुख को साध्य मानकर अभ्युदय के लिए सचेष्ट होता है और इसके लिए आश्रम की व्यवस्था करता है, वहीं जैनधर्म व्यक्तिगामी निवर्तक धर्म का पोषक है। उसके अनुसार व्यक्ति के लिए मुख्य कर्तव्य एक ही है आत्मसाक्षात्कार और उसमें रुकावट डालनेवाली इच्छा के नाश का प्रयत्न। पुनः पण्डित सुखलालजी के शब्दों में, 'जैनधर्म सर्वप्रथम व्यक्तिवादी है, जो एकान्त चिन्तन, ध्यान, तप और असंगतापूर्ण जीवन को स्वीकार करता है।" जैनधर्म यद्यपि सर्वप्रथम व्यक्ति को प्रमुख स्थान देता है, तथापि वह आश्रम-व्यवस्था से अंशतः सहमत भी है। जैन नीतिशास्त्र का मात्र विरोध है उस आश्रम-व्यवस्था से, जो भोगविलासमय जीवन के उद्देश्यों को छूट देती है, किन्तु जैन नीतिशास्त्र आश्रम-व्यवस्था को अपने अणुव्रतों से संयत रखने के लिए अपने श्रावकों के जीवन को सुव्यवस्थित और तपोनिष्ठ बनाने का आग्रह करता है। श्रावक अपनी सीमा में सर्वदा अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह, अचौर्य एवं ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं और प्रवृत्तियों में रहकर भी निवृत्तिपरक जीवन जीने का प्रयास करते हैं। उन्हें वैदिकों की तरह पितृऋण, देवऋण आदि ऋणों से उऋण होने की अपेक्षा नहीं होती और न यज्ञों की परिधि में देवताओं से कृपा की आवश्यकता होती। पुनः कहा जाता है कि जैन नीतिशास्त्र मात्र व्यक्तिपरक मोक्ष-साधन का आग्रह करता है। लेकिन ऐसी बातें भी पूर्णतः ठीक ही हैं; क्योंकि स्वयं तीर्थंकर भी संघ की वन्दना करते है। स्थानांग में दस धर्मों का विवेचन हुआ है, जिसके अन्तर्गत ग्रामधर्म, नगरधर्म, राष्ट्रधर्म, समाजधर्म आदि का समावेश हो सका है। समन्तभद्र ने समस्त प्राणिमात्र को कल्याण की कामना करने की अपनी शुभ भावना प्रदर्शित करते हुए बताया है कि हे भगवन्, आपका यह तीर्थ सर्वोदय है :

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सर्वापदामन्तकरं निरंतं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव।

जाति-व्यवस्था एवं आश्रम-व्यवस्था के सम्बन्ध में जैन नीतिशास्त्र का उदार दृष्टिकोण रहा है। जैन नीतिशास्त्र ने सर्वदा एवं सर्वथा जाति-व्यवस्था का आधार कर्म को स्वीकार किया है और, आश्रम-व्यवस्था में भी व्यक्तिगत अभिरुचि को प्रश्रय दिया है; क्योंकि जैन नीति-शास्त्र का मुख्य उद्देश्य रहा है आध्यात्मिक उन्नयन अथवा मानव की पूर्णत्व-प्राप्ति। यही कारण है कि वह सदा मनुष्य की आन्तरिक वृत्तियों को संयत करने और प्राणियों के बीच समता-भाव के प्रतिष्ठापन में विश्वास रखता है।

नैतिक गुण को सापेक्षिक माना गया है और नैतिक निर्णय के सन्दर्भ में साधन-साध्य की पवित्रता पर ध्यान रखा गया है। इस दृष्टि से जैन नीतिशास्त्र भी अपवाद नहीं माना जा सकता है। मानव-व्यवहार में अनुस्यूत अर्थ या तो लक्ष्य रूप होता है अथवा लक्ष्य की ओर ले जानेवाला साधन रूप। इन अर्थों में पाया जानावाला मूल्य भावात्मक भी हो सकता है और निषेधात्मक भी। निषेधात्मक रूप में पाश्चात्य नीतिशास्त्र की व्याख्या अधिक हुई है। काण्ट-नैतिकता के निरपेक्ष कानून को मानकर चलने की अपेक्षा रखता है। उसके अनुसार कोई ऐसा काम नहीं करना चाहिए, जो दूसरों के लिए हितकर न हो। बटलर भी मनुष्य को आत्मप्रेम तथा दूसरों के हित-सम्पादन के बीच सामंजस्य रखने की सलाह देता है। पुनः सिजविक भी बुद्धिपूर्वक आत्महित तथा परहित का समन्वय करते रहने की शिक्षा देता है। महाभारत में भी इस नैतिकता के निरपेक्ष कानून का निर्देशन हुआ है :

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।

लेकिन, भारतीय आचारशास्त्र इन नीतियों की अपेक्षा और अधिक आगे बढ़कर कहता है कि परिवार की रक्षा एवं उन्नयन के लिए व्यक्ति के स्वार्थों का परित्याग होना चाहिए। पुनः समाज के हितसाधन अथवा उन्नयन के लिए परिवार का और पुनः राष्ट्र के हित अथवा उन्नयन के लिए समाज का त्याग अपेक्षित है। इस प्रकार, महाभारत के इस कथन में नीतिशास्त्र की व्यापकता परिलक्षित होती है। भावात्मक अर्थों में जैन नीतिशास्त्र भी भारतीय नीतिशास्त्र का अनुसरण करता है। यहाँ कहा गया है कि मनुष्य को यथाशक्ति निर्वैयक्तिक ढंग से स्वतन्त्र, अथवा अर्थवान् जीवन-क्षणों के उत्पन्न करने की कोशिश करनी चाहिए; क्योंकि वीरों के संकल्प तथा निर्णय सदैव सुरक्षा तथा उपयोगिता की परिधि में नहीं रह सकते। वे सम्मानित परम्परा एवं व्यवहारों को भी कुठाराघात करने में नहीं चूकते। इस सन्दर्भ में आचार्य सिद्धसेन दिवाकर की पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुरातनैर्या नियता व्यवस्थिति-
र्यथैव सा किं परिचिन्त्य सेत्स्यति।
तथेति वक्तुं मृतरूढगौरवा-
दहं न जातः प्रथयन्तु विद्विषः॥

पुनः जिन्हें हम साधु पुरुष कहते हैं, उनका व्यवहार स्वयं उन्हीं के व्यक्तित्वों को पवित्र नहीं करता, बल्कि वह व्यवहार जहाँ विपन्न मनुष्यों को सुखी बनाता है, वहाँ दर्शकों को उदार, परोपकार-भावना से अनुप्राणित भी करता है। इस अर्थ में 'महाजनो येन गतः स पन्थाः' उक्ति सटीक बैठती है, जो जैन आचारशास्त्र के रूप में जीवन-मूल्यों को सुरक्षित रखती हुई स्याद्वाद का व्यावहारिक पथ प्रशस्त करती है। इस परिप्रेक्ष्य में रवि बाबू की एक उक्ति याद हो आती है : "आपन हइते बाहिर होए बाहिरे दारा, बुकेर माँझे विश्व लोकेर पावि सारा" (अपने आप से बाहर निकलो, तुम अपने हृदय में सारा विश्व पा जाओगे)।

■

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन एवं हिन्दू धर्म में परमतत्त्व की अवधारणा

डॉ. प्रेम सुमन जैन *

भारतीय धर्मों का प्रमुख लक्ष्य जीवन के दुःखों से अन्तिम रूप से छुटकारा पाना है। अतः, वे जीवन में परम शुभ या परमार्थ (Summum Bonum) की प्राप्ति का प्रयत्न करते देखे जाते हैं। सुख की अनुभूति पूर्ण स्वतन्त्रता में ही हो सकती है, अज्ञान के क्षेत्र से मुक्तिज्ञान के क्षेत्र में जाने से हो सकती है, अतः भारतीय चिन्तक आत्मज्ञान के द्वारा उस परमतत्त्व को जानने की प्रेरणा देते हैं, जो बन्धनों से सर्वथा मुक्त है और जिसमें सभी प्रकार के दुःखों का अभाव है। ऐसा परमतत्त्व विभिन्न नामों से जैन धर्म एवं अन्य भारतीय धर्मों में वर्णित किया गया है। उनमें मोक्ष, निर्वाण, परमात्मा, ब्रह्म आदि नाम अधिक प्रचलित हैं। परम तत्त्व के लिए प्रचलित विभिन्न पारिभाषिक शब्दों में क्या समानताएँ हैं, यह जानने के लिए जैन धर्म और हिन्दू धर्म की दृष्टि से आत्मा, मोक्ष और परमात्मा के स्वरूप पर चिन्तन करना आवश्यक है। आत्मा के विवेचन द्वारा सब कुछ जानने की कुंजी प्राचीन ग्रन्थों में दी गयी है।[१] आत्मा के एक तत्त्व को जान लेने से सबका ज्ञान हो जाता है। इस सबका ज्ञान ही मोक्ष है और जो मुक्त आत्मा है, वही परमतत्त्व है, परमात्मा है, ब्रह्म है।

परमतत्त्व की अवधारणा का विकास नैतिक और आध्यात्मिक जीवन के आदर्श के रूप में हुआ है। प्रायः सभी भारतीय धर्मों में परम देवतत्त्व के महत्त्व को स्वीकार किया गया है। भले ही उसके नामों में भिन्नता दृष्टिगत होती है, किन्तु उसके स्वरूप में प्रायः समानता है। तभी एक जैन कवि यह कहता है कि "शैव जिसे 'शिव' नाम से पूजते हैं, वेदान्ती जिसे 'ब्रह्म' कहते हैं, बौद्धों ने जिसे 'बुद्ध' कहा है, नैयायिक जिसे 'कर्ता' कहते हैं, जैन धर्म के अनुयायी जिसे 'अर्हत्' कहते हैं और मीमांसक जिसे 'कर्म' कहते हैं, जिसे तीनों लोकों का स्वामी एवं 'हरि' कहा जाता है, वह हमें इच्छित फल प्रदान करे।"[२] यही बात आचार्य अभिनवगुप्त ने भी कही है कि दार्शनिकों में परमसत्ता के नामों का विवाद है, मूल तत्त्व का नहीं। हिन्दू धर्म के अन्य ग्रन्थों में भी यही भावना व्यक्त की गयी है।[३] इस परमसत्ता, परमात्मा या ब्रह्म का वास्तविक ज्ञान मोक्षप्राप्ति के

* सह-आचार्य एवं विभागाध्यक्ष, जैनविद्या एवं प्राकृत-विभाग, सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर (राजस्थान)—३१३ ००१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपरान्त ही होता है, ऐसा अधिकांश भारतीय दार्शनिक मानते हैं। अतः परमसत्ता, मोक्ष और निर्वाण प्रायः एक ही लक्ष्य के विभिन्न नाम हैं।

मोक्ष-सम्बन्धी समानताएँ :

मोक्ष के स्वरूप का विकास भारतीय धर्मों में क्रमशः हुआ है। चार्वाक ने शरीर के अन्त को ही मोक्ष माना। न्याय-वैशेषिक, पूर्वमीमांसा और वैभाषिकों ने आत्मा के आगन्तुक धर्मों—चेतना और आनन्द आदि की मुक्ति को ही मोक्ष स्वीकार किया। सौत्रान्तिक बौद्धों ने सत्ता की अभिव्यक्तियों के निरोध को ही 'निर्वाण' कहा है। सांख्य पुरुष की सत्ता और चेतन अवस्था के वास्तविक स्वरूप को जान लेने को ही कैवल्य (मोक्ष) कहते हैं। वे उसमें आनन्द की अनुभूति नहीं मानते। जैन दार्शनिक आत्मा के शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति को मोक्ष मानते हैं। उसमें मुक्त जीव अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख और अनन्त वीर्य का स्वामी होता है। ऐसे मुक्त जीव अनन्त होते हैं। वेदान्त दर्शन के अनुसार मुक्त आत्मा ईश्वर के समान बनकर उसके शरीर में प्रवेश कर उससे एकाकारता का अनुभव करती है। ज्ञान और आनन्द के उपभोग में मुक्त आत्मा ईश्वर के समान होती है। शंकर के वेदान्तदर्शन में मुक्त जीव परमतत्त्व ब्रह्म से अभिन्न हो जाता है। इन सभी दर्शनों की मुक्ति-प्रक्रिया का यदि सूक्ष्म विवेचन किया जाय, तो ज्ञात होगा, कि प्रायः सभी ने मुक्ति की प्राप्ति के लिए अज्ञान को दूर कर आत्मज्ञान को प्राप्त करना आवश्यक माना है और मुक्तिप्राप्ति के बाद जीवन-मरण के चक्र और दुःखों का अन्त स्वीकार किया है।[४]

भारतीय दर्शनों में मुक्ति के सम्बन्ध में एक समानता यह भी मिलती है कि प्रायः सभी ने जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति इन दो को किसी न किसी रूप में स्वीकार किया है। गीता और वेदान्त की परम्परा में राग-द्वेष और आसक्ति की पूर्ण रूप से समाप्ति पर जीवन्मुक्ति और ऐसे साधक के शरीर छूट जाने पर विदेहमुक्ति की प्राप्ति माना गया है। बौद्ध दर्शन में तृष्णा के क्षय के बाद सोपाधिशेष निर्माण धातु की प्राप्ति होती है और शरीर छूटने के बाद अनुपाधिशेष निर्वाण धातु की।[५] जैन दर्शन में राग-द्वेष से मुक्ति को भावमोक्ष और शरीर छूटने के बाद की मुक्ति को द्रव्यमोक्ष कहा गया है। गीता में जीवन्मुक्त अवस्था के साधक को 'स्थितप्रज्ञ' कहा गया है और वेदान्त में उसे 'जीवात्मा' नाम दिया गया है। बौद्ध दर्शन में जीवन्मुक्त साधक 'अर्हत्', केवली, उपशान्त आदि नामों से जाना जाता है। जैन दर्शन में ऐसे जीवन्मुक्त साधक को 'अर्हत्', वीतराग, केवली आदि कहा गया है। ये सभी साधक राग-द्वेष से रहित, समता-धारक एवं जन्म-मरण के चक्र को समाप्त करनेवाले कहे गये हैं। इस अवस्था से आगे की मुक्त आत्माएँ, जो सर्वथा कर्मों से मुक्त हो गई हैं और जिन्होंने अपने शरीर आदि सभी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सांसारिक सुख त्याग दिये हैं, गीता में 'परमात्मा', वेदान्त में 'ब्रह्म', बौद्ध दर्शन में 'बुद्ध' एवं जैन दर्शन में 'सिद्ध', 'परमात्मा' आदि नामों से जानी जाती हैं। ऐसी स्थिति में साधक और साध्य का अभेद हो जाता है।[६] इस अवस्था में ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान में कोई अन्तर नहीं रह जाता। इस मुक्त अवस्था को प्राप्त आत्मा अन्य साधकों के लिए उपास्य, ईश्वर, परमात्मा बन जाता है। जैन ग्रन्थ 'समाधिशतक' में मुक्तात्मा को शुद्ध स्वतन्त्र, परिपूर्ण, परमेश्वर, अविनश्वर, सर्वोच्च, सर्वोत्तम, परमविशुद्ध और निरंजन कहा गया है।[७] सामान्यतया यही और इसी तरह के पद ईश्वर या परमेश्वर के साथ व्यवहृत किये जाते हैं। इस प्रकार, ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में भले ही भारतीय मनीषा ने प्राकृतिक शक्तियों, राजा, वीर पुरुष, धर्मगुरु आदि में अपने से अधिक गुणों और शक्ति का अनुभव कर उन्हें ईश्वर की संज्ञा प्रदान की थी, किन्तु बाद में समाधि और ज्ञान को महत्त्व देनेवाले चिन्तकों ने आत्मा के पूर्णरूप से विकसित स्वरूप को ही मोक्ष एवं परमात्मा, देवाधिदेव, ब्रह्म आदि नाम दिये हैं।

परमात्मा का महत्त्व :

हिन्दू धर्म के विभिन्न विचारकों ने ईश्वर की आवश्यकता के अनेक कारण प्रतिपादित किये हैं। वैदिक दर्शन में परमेश्वर वेदरूपी वृक्ष का फल है।[८] उपनिषदों में ईश्वर समस्त ब्रह्माण्ड के संचालक के रूप में स्वीकृत हैं।[९] जगत् के प्राण-स्वरूप उसी को ब्रह्म कहा गया है। पूर्वमीमांसा में शब्दमात्र ही देवता है। अतः वहाँ वैदिक मन्त्रों को ही देवत्व प्राप्त है। सांख्य एवं योगदर्शनों में कर्मफल ही प्रधान है। अतः, वहाँ ईश्वर उपास्य के रूप में तो स्वीकृत है, कर्मफल-प्रदाता के रूप में नहीं। न्याय-वैशेषिक और वेदान्त दर्शनों में ईश्वर की आवश्यकता संसार के व्यवस्थापक एवं कर्म-नियामक के रूप से स्वीकार की गई है। गीता में ईश्वर के दोनों रूप स्वीकृत हैं। वह कर्म-नियम के ऊपर है और भक्तों के लिए कारुणिक है।[१०] किन्तु वहाँ यह भी कहा गया है कि कर्म और उनके प्रतिफल के संयोग का कर्ता ईश्वर नहीं है। कर्मों की व्यवस्था स्वयमेव होती रहती है।[११] जैन दर्शन कर्म-नियन्ता के रूप में ईश्वर को स्वीकार नहीं करता; क्योंकि इससे कर्म-नियम और ईश्वर दोनों का महत्त्व कम हो जाता है। अतः जैन दर्शन में आत्मा को कर्मों का कर्ता और भोक्ता माना है तथा वही आत्मा कर्मों से मुक्त होकर परमात्मा हो जाता है। अतः कर्म-नियामक और ईश्वर दोनों ही एक ही आत्मा की दो अवस्थाएँ हैं।[१२] गीता में नैतिक आदर्श और उपास्य के रूप में भी ईश्वर को स्वीकार किया गया है। पूर्ण वीतराग, निष्काम, सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् परमात्मा गीता का नैतिक आदर्श है तो वही वीतराग एवं अनन्तचतुष्टय से युक्त परमात्मा जैन दर्शन की नैतिक साधना का भी आदर्श है।[१३] ईश्वर स्वयं सर्वोच्च सत्ता और सर्वोच्च मूल्य है।[१४] गीता और जैन दर्शन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दोनों स्वीकार करते हैं कि नैतिक जीवन की पूर्णता ईश्वर के समान बनने पर ही प्राप्त होती है।

विश्व-संरचना एवं परमतत्त्व :

भारतीय दर्शनों में परमतत्त्व का सम्बन्ध विश्व-संरचना के सिद्धान्त से भी जुड़ा हुआ है। सृष्टि-रचना और ईश्वर के सम्बन्ध में जो विभिन्न मान्यताएँ प्रचलित हैं, उन्हें तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—एक मान्यता परमेश्वर या ब्रह्म को ही अनादि, अनन्त मानती है। उसी ने अवस्तु से संसार की सभी वस्तुएँ बना दी हैं, अतः परमेश्वर निर्माता है। दूसरी मान्यतावाले विचारक कहते हैं कि अवस्तु से कोई वस्तु बन नहीं सकती। अतः जीव और अजीव वस्तुएँ तो सदा से हैं। उन्हें किसी ने नहीं बनाया। किन्तु इन वस्तुओं की विभिन्न अवस्थाओं को बनाना, बिगाड़ना परमेश्वर के हाथ में है। अतः परमेश्वर एक व्यवस्थापक के रूप में है। तीसरी मान्यता के विचारकों का कहना है कि संसार की चेतन और अचेतन वस्तुओं को न किसी ने बनाया है और न कोई परमसत्ता उनकी व्यवस्था करता है। अपितु, यह संसार वस्तुओं के गुण और स्वभाव में जो स्वयमेव पारस्परिक परिवर्तन होता है, उसी से संसार की व्यवस्था चलती रहती है, चलती रहेगी। अतः वीतराग ईश्वर को निर्माता एवं व्यवस्थापक मानने की आवश्यकता नहीं है। इस तीसरे विचार का समर्थन करनेवालों में जैनधर्म के विचारक प्रमुख हैं। जैनधर्म की परमसत्ता-सम्बन्धी इस विचारधारा को कुछ विस्तार से उसके मूल ग्रन्थों के आधार पर इस प्रकार देखा जा सकता है।

जैनधर्म में संसार के स्वरूप के सम्बन्ध में वैज्ञानिक दृष्टि से चिन्तन किया गया है।[१५] यह लोक छह द्रव्यों से बना है— जीव, अजीव (पुद्गल), धर्म, अधर्म, आकाश और काल। ये लोक अनादि-अनन्त हैं। अथवा इसे बनाने अथवा मिटानेवाला कोई ईश्वर आदि नहीं है। द्रव्यों में परिवर्तन स्वतः होता है, अतः गुण की अपेक्षा से द्रव्य नित्य है और पर्याय की अपेक्षा से वह अनित्य है। जैन दार्शनिकों ने वस्तु को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक कहा है। इन छह द्रव्यों में से जीव द्रव्य चेतन है और शेष पाँच द्रव्य अचेतन हैं। अतः, मूलतः विश्व के निर्माण और संचालन में जीव और अजीव ये दो द्रव्य ही प्रमुख हैं।

जीव और अजीव इन दो परस्पर तत्त्वों में जो सम्पर्क होता है, उससे ऐसे बन्धनों का निर्माण होता है, जिससे जीव को कई प्रकार की अवस्थाओं से गुजरना पड़ जाता है। कई अनुभव करने पड़ते हैं। यह संसार है। यदि जीव एवं अजीव के सम्पर्क की धारा को रोक दिया जाय और सम्पर्क से उत्पन्न बन्धनों को नष्ट कर दिया जाय, तो जीव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपनी शुद्ध एवं मुक्त अवस्था को प्राप्त हो सकता है। यह जीव का मोक्ष है। इस पूरी प्रक्रिया का संचालन करनेवाले तत्त्व सात हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, और मोक्ष।[१६] इनमें पाप एवं पुण्य इन दो तत्त्वों को जोड़कर कुल नौ तत्त्व जैन दर्शन में माने जाते हैं। इनमें से जीव का सम्बन्ध जैन दर्शन की तत्त्वमीमांसा से है। पाप, पुण्य, आस्रव, एवं बन्ध कर्म-सिद्धान्त से सम्बन्धित हैं। संवर और निर्जरा के अन्तर्गत जैन धर्म की सम्पूर्ण आचार-संहिता आ जाती है। गृहस्थ और मुनिधर्म का विवेचन इन्हीं के अन्तर्गत होता है। अन्तिम तत्त्व 'मोक्ष' दर्शन की दृष्टि से जीवन की वह सर्वोत्तम अवस्था है, जिसे प्राप्त करना प्रत्येक धार्मिक व्यक्ति का अन्तिम लक्ष्य है। इसी के लिए आत्मसाक्षात्कार एवं ध्यान आदि की साधना की जाती है।

जैन दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति अपने द्वारा किये गये अच्छे-बुरे कर्मों के फल भोगने के लिए स्वयं जिम्मेदार है। प्राकृतिक और व्यावहारिक नियम भी यही है कि जैसा बीज बोया जाता है, उसका फल भी वैसा ही मिलता है। जैन दर्शन ने यही दृष्टि प्रदान की कि अच्छे कर्म करने से सुख और बुरे कर्म करने से दुःख मिलता है। अतः व्यक्ति को मन में अच्छी भावना रखनी चहिए, वाणी से अच्छे वचन बोलने चाहिए और शरीर से अच्छे कर्म करने चाहिए। आत्मा ऐसा करने के लिए स्वतन्त्र एवं समर्थ है। आत्मा ही दुःख एवं सुख का कर्ता एवं विकर्ता है। सुमार्ग पर चलनेवाला आत्मा अपना मित्र है और कुमार्ग पर चलने वाला स्वयं का शत्रु है। यथा :

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं य, दुप्पट्ठिय सुपट्ठिओ॥[१७]

जैन कर्म-सिद्धान्त के प्रतिपादन से स्पष्ट हुआ है कि आत्मा ही अच्छे बुरे कर्मों का केन्द्र है। आत्मा मूलतः अनन्त शक्तियों का केन्द्र है। ज्ञान और चैतन्य उसके प्रमुख गुण हैं, किन्तु कर्मों के आवरण से उसका शुद्ध स्वरूप छिप जाता है। जैन आचार-संहिता प्रतिपादित करती है कि व्यक्ति का अन्तिम उद्देश्य होना चाहिए—आत्मा के इसी शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करना तभी यह आत्मा परमात्मा हो जाता है। जैन दर्शन ने आत्मा को परमात्मा में प्रकट करने की शक्ति मनुष्य में मानी है। क्योंकि, मनुष्य में इच्छा, संकल्प और विचारशक्ति है, इसलिए वह स्वतन्त्र क्रिया कर सकता है। अतः सांसारिक प्रगति और आध्यात्मिक उन्नति इन दोनों का मुख्य सूत्रधार मनुष्य ही है। जैन दृष्टि से यद्यपि सारी आत्माएँ समान हैं, सब में परमात्मा बनने के गुण विद्यमान हैं, तथापि उन गुणों की प्राप्ति मनुष्य-जीवन में ही सम्भव है; क्योंकि सदाचरण एवं संयम का जीवन मनुष्य-भव में ही हो सकता है, इस प्रकार, जैन आचार-संहिता ने मानव को जो प्रतिष्ठा दी है, वह अनुपम है।[१८]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनुष्य की इसी श्रेष्ठता के कारण जैनधर्म में दैवीय शक्तिवाले ईश्वर का कोई महत्त्व नहीं रहा। जैन दृष्टि में ऐसा कोई व्यक्ति ईश्वर हो ही नहीं सकता, जिसमें संसार को बनाने या नष्ट करने की कोई इच्छा शेष हो। यह किसी भी दैवीय शक्ति के सामर्थ्य के बाहर की वस्तु है कि वह किसी भी द्रव्य को बदल सके तथा किसी व्यक्ति को सुख-दुःख दे सके। क्योंकि हर गुण स्वतन्त्र और गुणात्मक है। प्रकृति स्वयं अपने नियमों से संचालित है। व्यक्ति को सुख-दुःख उसके कर्म और पुरुषार्थ के अनुसार मिलते हैं। अतः जैन आचार-संहिता में ईश्वर का वह अस्तित्व नहीं है, जो मुस्लिम धर्म में मुहम्मद साहब का तथा ईसाई धर्म में ईसामसीह का है। हिन्दू धर्म का सर्वशक्तिमान् ईश्वर भी जैन धर्म में स्वीकृत नहीं है, क्योंकि इससे मनुष्य की स्वतन्त्रता और पुरुषार्थ बाधित होते हैं।[१९]

विश्व-संरचना में ईश्वर की भूमिका का निषेध जैनों की तरह सांख्य-दर्शन में भी किया गया है। कुमारिल भट्ट एवं प्रभाकर मिश्र जैसे मीमांसक भी ईश्वर को निर्माता के रूप में स्वीकार नहीं करते; क्योंकि वे विश्व को अनादि मानते हैं। जैन एवं मीमांसकों ने निर्माता ईश्वर के अस्तित्व के निषेध के लिए समान तर्कों का उपयोग किया है।[२०] वैशेषिक दर्शन के प्रारंभिक ग्रन्थों में भी ईश्वर-स्वीकृति नहीं है। पतंजलि के योगसूत्र एवं गौतम के न्यायसूत्र में भी ईश्वर को एक योगी, आप्त और सर्वज्ञ के रूप में देखा गया है। जैन दर्शन में भी मुक्त आत्मा को परमात्मा, आप्त, सर्वज्ञ आदि कहा गया है। अतः सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि ईश्वर के सम्बन्ध में जैन धर्म एवं हिन्दू धर्म के प्राचीन ग्रन्थों में प्रायः समान चिन्तन प्रस्तुत किया गया है।

जैन धर्म में यद्यपि ईश्वर जैसी सत्ता को स्वीकार नहीं किया गया है, जो संसार को बनाने अथवा नष्ट करने में कारण है, तथापि जैन आचार-संहिता आत्मा के उस शुद्ध स्वरूप के अस्तित्व को स्वीकार करती है, जो अपने श्रेष्ठतम गुणों के कारण परमात्मा हो चुकी है। ऐसे अनेक परमात्मा जैन धर्म में स्वीकृत हैं, जो अनन्त सुखों का अनुभव करते हैं तथा इस संसार से मुक्त हैं। ऐसे परमात्माओं को जैन आचारसंहिता में 'अर्हत्' एवं 'सिद्ध' कहा गया है। ये वे परम आत्माएँ हैं, जिन्होंने इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर आत्मा के वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार किया है। इन्हें 'आप्त', 'सर्वज्ञ' 'वीतराग', 'केवली' आदि नामों से भी जाना जाता है।[२१] इन अर्हत् एवं सिद्धों की भक्ति तथा पूजा करने का विधान भी जैन आचार-संहिता में है, किन्तु इनसे कोई सांसारिक लाभ की अपेक्षा नहीं की जाती। इनकी भक्ति उनके आध्यात्मिक गुणों को प्राप्त करने के लिए ही की जाती है, जिसके लिए भक्त को स्वयं पुरुषार्थ करना पड़ता है।[२२] इस भक्ति से व्यक्ति की भावनाएँ पवित्र होती हैं, जिससे उसका आचरण निरन्तर शुद्ध होता जाता है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथा आत्मा क्रमशः विकास को प्राप्त होती है। जैन आचार-संहिता की तीन कोटियाँ मानी गई हैं।—(१) 'बहिरात्मा', जो शरीर को ही आत्मा समझता हुआ सांसारिक विषयों में लीन रहता है, (२) 'अन्तरात्मा', जो शरीर और आत्मा के भेद को समझता है तथा शरीर के मोह को छोड़कर आत्मा के स्वरूप को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है, तथा (३) 'परमात्मा' जिसने आत्मा के सच्चे स्वरूप को जान लिया है और जो अनन्त ज्ञान तथा सुख का धनी है। यथा :

अक्खाणि बाहिरप्पा अंतरप्पा हु अप्पसंकप्पो।
कम्मकलंकविमुक्को परमप्पा भण्णए देवो॥[२३]

आचार्य कुन्दकुन्द ने आत्मा के इस विकास-मार्ग का प्रतिपादन किया था।[२४] जिसका अनुगमन अन्य जैनाचार्यों ने किया है। अन्य भारतीय दर्शनों में भी आत्मा के विकास के इन स्वरूपों को विभिन्न नामों से वर्णित किया गया है। उपनिषदों में आत्मा के ज्ञानात्मा, महदात्मा और शुद्धात्मा ये तीन भेद किये गये हैं। दूसरे शब्दों में शरीरात्मा; जीवात्मा और परमात्मा भी आत्मा की अवस्थाएँ बताई गई हैं।

परमतत्त्व के नाम एवं गुण :

जैन धर्म में परमतत्त्व मुक्त आत्मा को माना गया है। उनकी अवस्थाओं और गुणों के कारण उन्हें अर्हन्त, सिद्ध, केवली, जिन, तीर्थंकर, आप्त, सर्वज्ञ, परमात्मा, वीतराग आदि नामों से जाना जाता है। इन सबमें प्रमुख गुण समान हैं कि वे मुक्त अवस्था में होने के कारण सभी दुःखों से रहित हैं। उनमें १००८ लक्षण शास्त्रों में गिनाये गये हैं।[२५] किन्तु उनके ४ प्रमुख गुण—अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र एवं अनन्त वीर्य प्रसिद्ध हैं।[२६] इन गुणों के साथ तुलना करने पर ज्ञात होता है कि हिन्दू धर्म के ईश्वर, ब्रह्म या परमात्मा में भी ज्ञान, शक्ति, माहात्म्य, गौरव आदि गुण स्वीकार किये गये हैं।[२७] क्योंकि, ईश्वर की उपास्यता बिना गुणों के हो नहीं सकती है। पाश्चात्य दर्शनों में भी ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, पूर्णज्ञान, इच्छज्ञ स्वातन्त्र्य, नित्य एवं शुभत्व आदि गुणों से युक्त मानने की बात कही गयी है। यद्यपि ईश्वर-सम्बन्धी गुणों का कथन असंज्ञानात्मक ही होता है,[२८] तथापि भारतीय दर्शनों में ईश्वर को अपरमित गुणों का भाण्डार माना गया है। जैन ग्रन्थों में भी तीर्थंकर के कई अतिशय उनकी विशिष्टता के रूप में वर्णित हैं।[२९] कुछ जैन ग्रन्थों में परमात्मा के गुणों का वर्णन अभावात्मक दृष्टि से भी किया गया है। मुक्तात्मा न दीर्घ है, न ह्रस्व है, न कृष्ण है, न श्वेत है, न गुरु है, न लघु है, न स्त्री है, न पुरुष है, न नपुंसक है।[३०] अतः परमात्मा का स्वरूप अनिर्वचनीय है। शांकर सिद्धान्त का नेति-नेति और पाश्चात्य विचारक अक्वाइन का नकारात्मक सिद्धान्त[३१] जैन दर्शन के अभावात्मक दृष्टिकोण से समानता रखते हैं। इनसे यह अनुभव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किया जा सकता है कि परमसत्ता के गुणों एवं नामों की सार्थकता उन्हें प्रतीकात्मक रूप में स्वीकार करने में है। इससे चिन्तन के क्षेत्र में समन्वय को बल मिलता है। जैन दर्शन की मान्यता है कि निश्चयनय के अनुसार परमात्मा शुद्ध चैतन्यमय है। उसके गुणों का बखान करना व्यावहारिक नय से सम्भव है। उसकी उपासना हम विभिन्न प्रतीकों के माध्यम से करते हैं, जो उसके गुणों का स्वयं साक्षात्कार करने के लिए होते हैं। उमास्वामी ने ठीक ही कहा है कि "मैं उस परमात्मा को नमन करता हूँ, जो मोक्ष मार्ग का नेता है, कर्मरूपी पर्वतों को नष्ट करनेवाला है और विश्व के समस्त तत्त्वों का ज्ञाता है, ताकि मैं उसके गुणों का साक्षात्कार कर सकूँ।" यही बात पाश्चात्य दार्शनिक पाल नीलिख स्वीकार करते हैं कि परमसत्ता वर्णविहीन, शुद्ध उजला पर्दा है। इसे लखा जा सकता है, परन्तु इसका वर्णन नहीं किया जा सकता।[३२]

परमसत्ता के लिए प्रयुक्त नामों का जैन एवं हिन्दू धर्मों में समान रूप से प्रयोग हुआ है। हिन्दू धर्मों में प्रयुक्त जगस्वामी, ज्ञानी, हरि, हर, ब्रह्मा, पुरुषोत्तम आदि सैकड़ों नाम जैन तीर्थंकरों के लिए भी प्रयुक्त हुए हैं। किन्तु इन नामों को प्रतीकों के रूप में लिया गया है। जिसके स्मरण से गुणों की वृद्धि हो वह 'ब्रह्म' है, जिस आत्मा का ब्रह्मचर्य अखण्डित रहा है वह 'परमब्रह्म' है, केवल ज्ञान आदि गुणों के ऐश्वर्य से युक्त होने के कारण आत्मा 'ईश्वर' है, वह समस्त कर्मों के मल से रहित होकर, आठ गुणों के 'ऐश्वर्य' को धारण करता है इसलिए 'परमेश्वर' है, आत्मा स्वदेह में व्याप्त होने के कारण 'विष्णु' है, स्वयं ही अपने विकास का कारण है, इसलिए 'स्वयम्भू' है।[३३] आदिपुराण में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव को 'हिरण्यगर्भ', 'ब्रह्मा', 'प्रजापति' आदि विशेषण प्रदान किये गये हैं, जो उनके विभिन्न गुणों के सूचक हैं। इसी तरह वैदिक ग्रन्थों में भी जैन तीर्थंकरों के कई नामों को विष्णुसहस्रनाम आदि में सम्मिलित किया गया है। अतः परमसत्ता के निरूपण में समन्वय की एक धारा का अवलोकन जैन एवं हिन्दू धर्मों के साहित्य में किया जा सकता है। दोनों धर्मों में परमात्मा के नामों में उपर्युक्त समानता होते हुए कुछ अन्तर भी है। किन्तु यहाँ नामों का महत्त्व नहीं है, गुणों का महत्व है। इसीलिए एक जैन सन्त ने कहा है कि मैं उस परमतत्त्व को सदा नमन करता हूँ, जो राग-द्वेष जैसे आत्मा को दूषित करनेवाले विष से रहित है, अनुकम्पा से भरा हुआ है और समस्त गुण-समूहों से पूर्ण है, जाहे वह विष्णु हो, शिव हो, ब्रह्मा हो, सुरेन्द्र हो, सूर्य हो, चन्द्र हो, भगवान् हो, बुद्ध हो या सिद्ध हो।[३४]

परमतत्त्व की प्राप्ति के मार्ग :

जैन एवं हिन्दू धर्म में केवल परमत्त्व के स्वरूप, उसके गुण एवं उसके नामों में ही समानता नहीं है, अपितु उस परमतत्त्व को प्राप्त करने, अनुभव करने के मार्गों में भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रायः एकरूपता दृष्टिगोचर होती है। जैनधर्म में तत्त्व-निरूपण द्वारा लोक के स्वरूप का विवेचन करके तथा कर्म-सिद्धान्त के प्रतिपादन का जो मार्ग बतलाया गया है, वही जैन आचार-संहिता का प्रथम सोपान है। जैनाचार्य उमास्वामी ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र इन तीनों को मोक्ष का मार्ग कहा है :

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।

मोक्षमार्ग में इन तीनों की प्रधानता होने से इन्हें 'त्रिरत्न' भी कहा गया है। इन तीनों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है।[३५] सम्यग्दर्शन आत्मसाधना का प्रथम सोपान है। जीव, अजीव आदि तत्त्वों के स्वरूप पर श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। इससे व्यक्ति का दृष्टिकोण सही बनता है। सम्यग्दर्शन के उपरान्त साधक सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति करता है। जिन तत्त्वों पर उसने श्रद्धान किया था, उन्हीं को वह पूर्ण रूप से जब जानता है, तब उसे सम्यग्दर्शन की उपलब्धि होती है। सत्य की अखण्डता को आदर देते हुए उसके बहुआयामों को जानने का प्रयत्न करना ही सम्यग्ज्ञान का विषय है।[३६] जैन ग्रन्थों में सम्यक्चारित्र का विवेचन गृहस्थों और साधुओं की जीवनचर्या को ध्यान में रखकर किया गया है। साधु-जीवन के आचरण का प्रमुख उद्देश्य आत्मसाक्षात्कार है, जबकि गृहस्थों के चारित्र-विधान में व्यक्ति एवं समाज के उत्थान की बात भी सम्मिलित है। इस प्रकार निवृत्ति एवं प्रवृति दोनों का समन्वय इस त्रिरत्न-सिद्धान्त में हुआ है। जैन धर्म के समान अन्य भारतीय दर्शनों में भी परमसत्ता की प्राप्ति के लिए त्रिविध-साधना-मार्ग को अपनाया गया है। बौद्ध दर्शन में शील, समाधि और प्रज्ञा की साधना से निर्वाण की प्राप्ति बताई गई है। गीता में ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग को प्रमुखता दी गई है। वैदिक परम्परा में वर्णित श्रवण, मनन और निदिध्यासन-साधना का जो विधान है,[३७] उसका जैन धर्म के दर्शन, ज्ञान चारित्र से घनिष्ठ सम्बन्ध है। परमात्मा की प्राप्ति के इस त्रिमार्ग से पाश्चात्य विचारक भी सहमत हैं, जहाँ स्वयं को जानो, स्वयं को स्वीकार करो और स्वयं ही बन जाओ—ये तीन नैतिक आदर्श कहे गये हैं।[३८] साधना के इन मार्गों में समानता खोजने से परमसत्ता के स्वरूप एवं उसकी अनुभूति में भी समानता के दर्शन हो सकते हैं; क्योंकि अन्त में जाकर साधक, साधना-मार्ग और साध्य इनमें कोई अन्तर नहीं रह जाता। जैनाचार्य कहते हैं आत्मा ही ज्ञान, दर्शन और चारित्र है। जब वह अपने शुद्ध रूप में प्रकट होती है, तब वह परमात्मा कहलाती है। वहाँ ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का भेद मिट जाता है। 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' का आदर्श सार्थक हो जाता है। इसे डॉ. राधाकृष्णन् 'अध्यात्मवादी धर्म' (रिलिजन ऑफ द सुप्रीम स्पिरिट) कहते हैं। जैन धर्म में इस परमसत्ता की स्थिति को पूज्यपाद ने इस प्रकार स्पष्ट किया है कि जो परमात्मा है, वह मैं हूँ, जो मैं हूँ, वही परमात्मा है। मैं ही मेरे द्वारा उपास्य हूँ, दूसरा कोई नहीं।[३९] इस शुद्ध स्वरूप की स्थिति को शंकर ने इस प्रकार व्यक्त किया है :

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न बन्धुर्न मित्रं गुरुर्नैव शिष्य-

श्चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम ॥

इस प्रकार जैन एवं हिन्दू धर्म में ईश्वर की अवधारणा आत्मा, मोक्ष और परमात्मा से जुड़ी हुई है। इन तीनों के वास्तविक स्वरूप की जानकारी से ही परमतत्त्व की प्राप्ति का लक्ष्य निर्धारित किया जाता है। परमतत्त्व दोनों धर्मों में नैतिक मूल्यों की पूर्ति हेतु एक आदर्श के रूप में है। व्यावहारिक दृष्टि से भले ही ईश्वर संसार का निर्माता, व्यवस्थापक एवं कारुणिक दिखाई देता हो, किन्तु परम समाधि की दशा में वह शुद्ध चैतन्य, ज्ञान एवं आनन्दरूप है। उस परमतत्त्व के विभिन्न नाम दोनों धर्मों में प्रायः समान हैं और जहाँ नामों की भिन्नता, दृष्टिगत होती है, वहाँ वे नाम परमात्मा के जिन गुणों के प्रतीक हैं, वे प्रायः समान हैं कि वह सर्वथा दुःखों से मुक्त है, चेतन, ज्ञान और आनन्दमय है। वह अपनी परमसत्ता को छोड़कर पुनः सांसारिक बन्धनों में नहीं फँसता। इन दोनों धर्मों में परमात्मा की प्राप्ति के साधनों में भी समानता है, केवल नामों का अन्तर है। ऐसे परमतत्त्व का उपयोग संसारी आत्मा उसकी उपासना द्वारा अपने विकास के लिए करता है, ताकि एक दिन वह भी उसी के समान बन जाय।

इस आत्मविकास के मार्ग में जिन नैतिक आदर्शों का पालन किया जाता है, वे मानवता की रक्षा एवं प्राणी-मात्र के कल्याण के लिए भी उपयोगी है। उपासनामूलक धर्म से जब हिन्दू धर्म की कोटि में आता है, तब वह जैन धर्म के निकट हो जाता है। परमात्मा की अवधारणा और उसकी प्राप्ति के उपाय दोनों को अधिक नजदीक लाते हैं। किन्तु आचार-पक्ष और उपासना-पक्ष में ये दोनों धर्म अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हैं। जीवन में अहंभाव और ममत्व को त्याग करने का प्रयत्न करना, विचारों में उदारता रखते हुए आग्रह नहीं करना, व्यक्तिगत जीवन के लिए अधिक संग्रह नहीं करना और सामाजिक जीवन में प्राणी-रक्षा को प्रमुखता देना मानव-जीवन के वे मूल्य हैं, जो विश्व में शान्ति और सन्तुलन बना सकते हैं। नैतिक जीवन-पद्धति से ही परमतत्त्व की प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त होता है।

सन्दर्भ-स्रोत :

१. बृहदारण्यक उपनिषद् २.४.८; आचारांगसूत्र ४.४.७४

२. हनुमन्नाटकम् (दामोदर मिश्र) १.३

३. गीता, ११.२८; मुण्डकोपनिषद् ३.२.८

४. लाड, ए.के., भारतीय दर्शनों में मोक्ष-चिन्तन : एक तुलनात्मक अध्ययन, भोपाल, १९७३ ई., पृ. २९७-२९८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५. इतिबुत्तक, २.७

६. समयसार टीका (अमृतचन्द्र) ३०५; योगशास्त्र (हेमचन्द्र) ४.५

७. समाधिशतक, श्लोक ६.

८. ऋग्वेद १०.७१.५, यास्क व्याख्या

९. श्वेता. उप. ६.१

१०. गीता, ५.१५

१२. शास्त्रवार्तासमुच्चय (हरिभद्र), २०७

१३. जैन, सागरमल : जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, जयपुर, १९८२ ई., पृ. ४४६.

१४. द आइडिया ऑफ इम्मोर्टेलिटी, पृ. २९०; पश्चिमीदर्शन, पृ. २६७.

१५. जैन पी.एस. : द जैन पाथ ऑफ प्योरिफिकेशन, पृ. ८९-१०६.

१६. तत्त्वार्थसूत्र (अ. १ सूत्र ४) : स. संघवी, सुखलाल, वाराणसी, १९५२

१७. उत्तराध्ययनसूत्र, अ. २०, गा. ३७.

१८. सोगानी, के. सी. : एथिकल डाक्ट्राइन्स इन जैनिज्म, पृ. ७४.

१९. जैन, महेन्द्र कुमार : जैन दर्शन, वाराणसी

२०. Tagare, G.V.; 'Concept of the Deity in Early Jainism A Comparative View' article published in Tulsiprajna, Vol. XV, No.1 (June, 1989) P. 43.

२१. भार्गव, दयानन्द : जैन एथिक्स, पृ. २६.

२२. उपाध्ये, ए.एन. : (स.) परमात्मप्रकाश, बम्बई, भूमिका, पृ. ३६.

२३. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, बम्बई, गा. १९३-१९८.

२४. मोक्खपाहुड (कुन्दकुन्द), गा. ५.

२५. जिनसहस्रनाम (आशाधर) ज्ञानपीठ, वाराणसी, जम्बूद्वीपण्णत्ति, १३, ८८-९२.

२६. नियमसार. गा. ७२, पंचाध्यायी, उत्तरार्ध, ६०४.

२७. Dvivedi, A.N.; Essentials of Hinduism, Jainism & Buddhism. Books Today, New Delhi, 1979, p. 70.

२८. मसीह याकूब : समकालीन दर्शन, पटना, १९८४, पृ. १०९.

२९. तिलोयपण्णत्ति, ४, गा. ९८८-९०६; समवायांगसूत्र III समवाय

३०. आचारांगसूत्र, १.५.६.१७१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३१. देखें : Thomas Aquinas; Selected Writings ed. Robert P. Goodwin, Indianapolis, १९६५.

३२. देखें : Systematic Theology (Paul Tillich) in 3 vols,- Chicago Univerrsity Press, (१९५१, १९५७, १९६३).

३३. देखें : शास्त्री, दामोदर, भारतीय दर्शन परम्परायां जैन दर्शनाभिमतं देवतत्त्वम्, वाराणसी, १९८५, पृ. ३२९ आदि।

३४. तुकोल, टी.के., कम्पेण्डियम ऑफ जैनिज्म, पृ. ७२.

३५. सर्वार्थसिद्धि : स. पं. फूलचन्द शास्त्री, पृ. ५.

३६. जैन, प्रेम सुमन : जैन आचार-संहिता और मानव-कल्याण, पृ. ९.

३७. (क) बृहदारण्यक उपनिषद्, ४.६,

(ख) Murti, T.R.V.; 'The Hindu Conception of God' article published in God – The Contemparary Discussion (ed.) Frederick Sonta & M. Darrol Bryant, N.Y., १९८२, p. २७.

३८. हेडफील्ड, जे. ए. : साइकालोजी एण्ड मारल्स, १९३६, पृ. १८०.

३९. यः परात्मा स एवाहं, योऽहं स परमस्ततः।
अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदिति स्थितिः॥ —इष्टोपदेश

■

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'उत्तराध्ययनसूत्र' में वर्णित संन्यास-धर्म

डॉ युगल किशोर मिश्र[*]

संन्यास का सिद्धान्त प्राचीन भारतीय संस्कृति का महत्त्वपूर्ण देन है। यह ब्राह्मण एवं श्रमण-परम्परा में समान रूप से विकसित है। संन्यास-सिद्धान्त का प्रवर्त्तन धार्मिक कृत्यों, रीति-रिवाजों के विरोध-स्वरूप हुआ। वैदिक यज्ञ एवं बलि की प्रथा के प्रतिक्रिया-स्वरूप ही तापस या वैरागी अभ्यासों का उदय हुआ। यह निर्विवाद तथ्य है कि उपनिषद्-काल में संन्यास-सम्मत विचार अधिक प्रबल हुआ तथा चिन्तन-मनन और निदिध्यासन के युग का सूत्रपात हुआ। पुनः बौद्ध एवं जैन साहित्य के समकालीन संन्यास-सिद्धान्त के विशिष्ट रूप का प्रसार हुआ। जैनागम-साहित्य के 'उत्तराध्ययनसूत्र' में संन्यास-धर्म का विशेष विवेचन हुआ है। जैकॉबी[1] ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि उत्तराध्ययन नौसिखिया संन्यासी के प्रमुख कर्त्तव्यों तथा संन्यासी जीवन के सिद्धान्त एवं उसके व्यवहार-पक्ष को प्रमुखता से उदाहृत करता है। विण्टरनित्ज[2] ने इस ग्रन्थ को संन्यास-काव्य की सबसे प्राचीन नाभि-केन्द्र माना है।

मैं इस विवाद में नहीं पड़ना चाहता कि उत्तराध्ययनसूत्र में वर्णित संन्यासियों के सामान्य धार्मिक एवं नैतिक नियमों को जैन-वैशिष्ट्य कहा जाय या नहीं; क्योंकि जार्ल शारपेण्टियर[3] ने इस आशय की शंका प्रकट की है। परन्तु इतना सत्य है कि उत्तराध्ययन में संन्यास-धर्म के उद्देश्य एवं नियमों के विवेचन के साथ-साथ संन्यासी जीवन की श्रेष्ठता दरसाई गई है।

उत्तराध्ययन के 'हरिएसिज्जं' अध्ययन में ब्राह्मणों द्वारा यज्ञ-मण्डप में पहुँचे भिक्षाटन हेतु हरिकेश बल नामक श्रमण को अपमानित करने के दुष्परिणामों का वर्णन है तथा यह भी दरसाया गया है कि कैसे उस श्रमण ने जाति-मद से गर्वित हिंसक ब्राह्मणों को त्याग एवं तप की महिमा बताई तथा यज्ञ-विधान में अन्तर्निहित सदुद्देश्यों की ओर उन्हें प्रेरित किया। यहाँ यह विशेष रूप से ध्यातव्य है कि इस अध्ययन में यद्यपि ब्राह्मण-यज्ञ-संस्कार की त्रुटियों का निर्देश करते हुए उसकी निन्दा की गई है, तथापि श्रमण-धर्म की मूल अवधारणा के अनुरूप ब्राह्मण जाति या उनके अनुष्ठानों के प्रति कोई विद्वेष का भाव नहीं व्यक्त किया गया है। किसी जाति या सम्प्रदाय या उसके रीति-रिवाज या साहित्य में बुराई नहीं होती। बुराई तो अज्ञानता या दम्भ में होती है।

---

* निदेशक, प्राकृत जैनशास्त्र और अहिंसा शोध-संस्थान, वैशाली (बिहार)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शास्त्र के कथनों या उनमें निर्दिष्ट विधानों के निहितार्थ को बिना समझे हम निरर्थक आचरणों में प्रवृत्त होते हैं तथा पारस्परिक साम्प्रदायिक विद्वेष के शिकार बनते हैं और यहीं हम धर्म से दूर हट जाते हैं। उक्त अध्ययन में ब्राह्मणों के दोषपूर्ण आचरण को देखकर श्रमण कहते हैं:

तुब्भेत्थ भो !भारधरागिराणं।
अट्ठं न जाणाह अहिज्जवेए॥[४]

वेदों को पढ़कर भी उनका अर्थ नहीं जानते। इस संसार में केवल वाणी का भार ढो रहे हो। अतः जात-पाँत का भेदभाव भुलाकर शास्त्रों में विहित सद्गुणों को समझने तथा उनके अनुपालन करने की आवश्यकता है। चरित्रबल ही मनुष्यता का आधार है। उसी से व्यक्ति समादृत होता है। जाति वहाँ व्यवधान नहीं बनता।

सामाजिक समता, समन्वय एवं सद्भाव स्थापित करने की बात इस अध्ययन में प्रकृष्ट रूप से व्यक्त है। ये सब श्रामण्य से ही उद्भूत एवं विकसित दरसाये गये हैं। श्रामण्य की महिमा त्याग में है, संयम में है, न कि अन्ध-सम्प्रदायानुराग में। संन्यास का ही दूसरा नाम त्याग है। इस प्रकार उत्तराध्ययनसूत्र संन्यास के मूलाधार 'त्याग' की महिमा को प्रतिष्ठापित करता है। काम-भाव, इच्छा, आकांक्षा, आसक्ति, जो पर्यायवाची शब्द हैं, का त्याग ही संन्यास का मूलाधार है, जिसका परिशीलन उत्तराध्ययनसूत्र में प्रभूत रूप से हुआ है। तृष्णा या इच्छा सारे दुःखों का मूल कारण है और वह आकाश के समान अनन्त होती है : **इच्छा उ आगाससमा अणन्तिया।**[५]

संसार का सारा सुख सुलभ हो जाने पर भी लोभी पुरुष की इच्छा शान्त नहीं होती। इच्छा की पूर्त्ति वस्तुओं की उपलब्धि से नहीं होती; क्योंकि विशेष वस्तु की उपलब्धि होने पर दूसरी वस्तु की इच्छा उत्पन्न हो जाती है तथा यह श्रृंखला अबाध गति से चलती रहती है। यदि किसी व्यक्ति को धन-धान्य से परिपूर्ण यह सारा संसार भी दे दिया जाय, तो भी उसे सन्तोष नहीं होगा; क्योंकि इच्छाएँ कभी पूर्णतः तृप्त नहीं होतीं।

कसिणं पि जो इमं लोयं पडिपुण्णं दलेज्ज इक्कस्स।
तेणावि से न संतुस्से इइ दुप्पूरए इमे आया॥[६]

वस्तुतः तृष्णा या इच्छा की पूर्त्ति अनाकांक्षा से, त्याग से होती है। त्याग से ही इस अध्रुव, अशाश्वत एवं दुःखबहुल संसार में दुर्गति से बचा जा सकता है। आकांक्षा या आसक्ति, चाहे वह जीवन के प्रति हो या सांसारिक भोगों के प्रति, या मन, वचन, काय के स्तर पर ही हों, सारे दुःखों की जड़ है। कामभोग क्षणिक सुख एवं चिरन्तन दुःख

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देनेवाले होते हैं। अतः कामनाओं से जो व्यक्ति मुक्त नहीं है, वह सर्वदा अतृप्त रहकर संसार-चक्र में परिभ्रमण करता रहता है तथा जन्म-जन्मान्तर दुःख झेलता है। 'चित्तसंभूइज्ज' अध्ययन में सभी प्रकार के काम-भोगों को दुःखद मानकर उनके प्रति आसक्ति के त्याग का आह्वान किया गया है।

सव्वं विलवियं गीयं, सव्वं नट्टं विडम्बियं।
सव्वे आभरणा भारा, सव्वे कामा दुहावहा॥[७]

चित्त नामक मुनि ने काम-गुणों में आसक्त सम्भूत नामक राजा को उपदेश देते हुए कहा कि जो सुख विरक्ति में है, शील में है, सद्गुणों में है, वह काम-गुणों में नहीं है।

न तं सुहं कामगुणेसु रायं, विरत्तकामाण तवोधणाणं।[८]

कामभोग तो शल्य के समान हैं, विषतुल्य हैं, आशीविष सर्प के सदृश हैं।

सव्वं कामा विषं कामा, कामा आसीविसोवमा।[९]

पुनः कामभोग कुशाग्र पर स्थित जलबिन्दु के समान हैं, अर्थात् क्षणभंगुर हैं।

कुसग्गमेत्ता इमे कामा।[१०]

अतः मानवीय कामभोग में आसक्त व्यक्ति शाश्वत सुखों से वंचित रहता है। अतएव, इन्हें सावद्य मानकर उनमें लिप्त नहीं होना ही श्रेयष्कर है।

सव्वेसु कामजाएसु पासमाणो न लिप्पई ताई।[११]

उत्तराध्ययन सूत्र के 'उसुयारिज्जं' अध्ययन में कामभोगों से उसी प्रकार शंकित रहने का निर्देश है, जिस प्रकार गरुड़ के समक्ष सर्प शंकित होकर चलता है।

उरगो सुवण्णपासे व संकमाणो तणुं चरे।[१२]

संन्यास का प्रमुख शर्त्त कामवासना का त्याग है। उत्तराध्ययनसूत्र के 'सभिक्खुयं' अध्ययन में वासना के संकल्प का छेदन करनेवाले (नियाणछिन्ने), कामभोगों की अभिलाषा का परित्याग करनेवाले (अकामकामे) को ही सच्चे संन्यासी की संज्ञा दी गई है। त्याग ही मानव-जीवन को सच्चा सुख प्रदान कर सकता है। उत्तराध्ययनसूत्र के 'नमिपव्वज्जा' अध्ययन की यह स्पष्टोक्ति है :

सुहं वसामो जीवामो जेसिं मो नत्थि किंचण।[१३]

वे लोग जिनके पास अपना कुछ भी नहीं है। सुखपूर्वक रहते हैं तथा सुखपूर्वक जीते हैं। 'उरब्भिज्जं' अध्ययन का भी उद्देश्य कामभोगों से आसक्ति के त्याग का संदेश देना ही है।

अतएव संन्यास का आधार अनासक्ति है। जो विषय-वासना में आसक्त होता है, वह कभी दुःखों से मुक्त नहीं होता। मानवीय कामभोगों में आसक्त व्यक्ति अलौकिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुखों से विरत रहता है। वह मनुष्यत्व रूपी मूलधन को भी गँवा बैठता है; क्योंकि विवेकशील होकर भी भावना से संयुक्त, प्रेरित एवं नियन्त्रित व्यक्ति अधोगति को प्राप्त होता है। इस तथ्य का विशद विवेचन उक्त अध्ययन में प्रभावकारी ललित दृष्टान्तों के माध्यम से किया गया है।

मानव-जीवन के लिए निर्दिष्ट चरम उत्कर्ष पर पहुँचने के लिए इच्छा का त्याग अनिवार्य है। इच्छा की पूर्त्ति होने से लाभ होता है तथा लाभ लोभ का जनक होता है। ज्यों-ज्यों लाभ बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों लोभ भी बढ़ता जाता है। 'कापिलियं' अध्ययन में इस सन्दर्भ की विशद व्याख्या मिलती है।

जहा लाहो तहा लोहो, लाहालोहो पवड्ढई।[१४]

तृष्णा से मोह या राग-द्वेष उत्पन्न होता है और राग-द्वेष से 'प्रमत्तयोग' सम्पादित होता है, जो आत्मा में बन्धन उत्पन्न करता है। अतः तृष्णा ही सारे दुःखों का मूल है। कोई विषय अपने-आप में भला या बुरा नहीं होता। वह राग-द्वेष से सम्मिश्रित होकर ही अच्छा-बुरा बनता है। राग-द्वेष से ग्रस्त व्यक्ति के लिए विषय दुःख उत्पन्न करते हैं तथा वीतरागता ही दुःख से मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करता है।

रागस्स दोसस्स संखएणं, एगन्त सोक्खं समुवेइ मोक्खं।[१५]

जिसे तृष्णा नहीं है, वह राग-द्वेष, मोह का नाश कर देता है तथा जो राग-द्वेष से रहित है, वह कर्मों का क्षय कर नैसर्गिक सुख प्राप्त करता है।

तृष्णा अज्ञान से उत्पन्न होती है। अतः श्रमण धर्म-तत्त्वों का ज्ञान इन्द्रिय-विषयों से विरक्ति प्रदानकर सकता है।

काम-गुणों से विरक्ति उतना आसान नहीं है।

नागो जहा पंकजलावसन्नो दट्ठुं थलं नाभि समेइ तीरं।
एवं वयं कामगुणेसु गिद्धा न भिक्खुणो मग्गमणुव्वयामो॥[१६]

पुरुषार्थ से ही आसक्ति का त्याग किया जा सकता है। हम अपने भाग्य के विधाता स्वयं हैं। हम स्वयं अपने लिए सुख-दुःख अर्जित करते हैं। यदि सत्प्रवृत्ति हममें होती है तो हम सुखी होते हैं तथा दुष्प्रवृत्ति के वश में होकर हम दुःख भोगते हैं :

अप्पा कत्ता विकत्ता य...
दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं य....
दुपट्ठिय सुपट्ठियो।[१७]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवृत्ति ही सुख-दुःख का प्रमुख कारक है। जब तक प्रवृत्ति शुद्ध नहीं रहती, तबतक संयम और तप से कोई लाभ नहीं होता। अतः राग-द्वेष की दुष्प्रवृत्ति का त्यागकर संन्यास-धर्म के अवलम्बन से ही सद्भाग्य का निर्माण सम्भव है। संयम एवं तप में प्रवृत्त होने के लिए संकल्प-शक्ति, धैर्य, सन्तोष, चित्त-स्थैर्य आदि सत्प्रवृत्तियाँ आवश्यक हैं। संयम के प्रति श्रद्धा होने पर भी बिना सत्प्रवृत्तियों के व्यक्ति उसमें पराक्रम नहीं कर पाता। सत्प्रवृत्तियों के बाद ही सम्यग्ज्ञान का प्रादुर्भाव होता है और व्यक्ति की निष्ठा पुरुषार्थ में होती है। वह संयम और तप में अग्रसर होता है। संयम और तप के द्वारा आत्मा को नियन्त्रित किये बिना सच्चे सुख की उपलब्धि असम्भव है। श्रेय को प्राप्त करने का इसके अतिरिक्त और कोई विकल्प भी नहीं है।

वरं मे अप्पा दन्तो, संजमेण तवेण य।[१८]

यद्यपि **अप्पा हु खलु दुद्दमो।**[१९]

आत्मविजय ही परम विजय है।

एगं जिणेज्ज अप्पाणं एस से परमो जओ।[२०]

नमिराजा को जब सत्य का बोध हो गया, तब वे इन्द्र के लाख प्रयासों एवं प्रलोभनों के बावजूद पथभ्रष्ट नहीं हुए तथा आत्मसंयम एवं तप में रत होकर उन्होंने मोक्ष प्राप्त किया। संयम एवं तप के आचरण से देह तथा संसार से ममत्व का त्याग सम्पन्न होता है। आसक्ति के अभाव में कर्मों का क्षय निष्पन्न होता है तथा कर्मानुगत दुःखों से मुक्ति प्राप्त होती है। त्याग एवं तप, जो श्रामण्य के लक्षण हैं, के अनुपालन से मुक्ति की बात उत्तराध्ययनसूत्र के कई अध्ययनों—यथा 'संजइज्जं', मियापुत्तिज्जं' आदि में स्पष्ट रूप से उद्घोषित है।

यह ध्यातव्य है कि त्याग या विरक्ति का तात्पर्य कदापि संसार या सांसारिक वस्तुओं का पूर्ण निराकरण या बहिष्करण नहीं होता। यदि हम अपनी आवश्यकता के अनुसार मात्र सांसारिक जीवन-निर्वाह के हेतु ही सांसारिक वस्तुओं का उपयोग या उपभोग करें, तो वह भी त्याग ही कहलायगा।

जवणट्ठाए निसेवए।[२१]

अतः त्याग का तात्पर्य संसार या सांसारिक जीवन से पलायन नहीं है। यह कभी अकर्मण्यता को भी निमन्त्रण नहीं देता। त्यागी की अग्नि-परीक्षा तो समाज और सामाजिक जीवन के सन्दर्भ में ही हो सकती है। त्याग या वैराग्य एक भाव है, जो हमें संसार में रहते हुए भी सांसारिकता से पृथक् करता है। त्यागी का उद्दिष्ट है :

संयोगा विप्पमुक्कस्स।[२२]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्तराध्ययनसूत्र में वर्णित संन्यासी के निर्दिष्ट आचरण त्याग-भावना से ही अभिप्रेत बताये गये हैं। इस त्याग के भाव को विकसित करने तथा जीवन में चरितार्थ करने की परमावश्यकता है। इसी से समाज में शान्ति, समता तथा न्याय की स्थापना हो सकती है।

त्याग ही संन्यासी में आन्तरिक पवित्रता उत्पन्न करती है। केवल संन्यासी की वेश-भूषा या बाह्य लिंगों से सम्पन्न होकर संन्यास का प्रवर्तन नहीं हो सकता। बाह्य उपकरण, वेशादि संन्यासी के मात्र सम्प्रदायानुगत अस्तित्व के द्योतक हैं। वे धार्मिक जीवन के साधन तो बन सकते हैं, पर धार्मिक लक्ष्य की प्राप्ति में उनका महत्त्व सीमित होता है। वास्तविक धार्मिकता तो त्याग में, अनासक्ति में होती है। धार्मिक उपकरणों या रीति-रिवाजों का अपना कोई मूल्य नहीं होता। उनका मूल्य जीवन के सदुद्देश्यों के वाहक के रूप में ही होता है। वे सदा साधन-स्वरूप हैं, कदापि साध्य नहीं। जब उनमें अन्तर्निहित मूल भाव की उपेक्षा कर हम बाह्याडम्बरों को ही प्रमुखता प्रदान करने लगते हैं, तब धर्म का मूल स्वरूप ही खण्डित हो जाता है तथा समाज में शान्ति और समभाव का विघात हो जाता है।

न वि मुण्डिएण समणो न ओंकारेण बम्भणो।
न मुणी रण्णवासेणं कुसचीरेण न तावसो॥[२३]

तथा— **पच्च यत्थं च लोगस्स नाणाविहविगप्पणं।**
जत्तत्थं गहणत्थं च लोगे लिंगप्पओयणं॥[२४]

मोक्ष की वास्तविक साधना तो त्याग में होती है। संन्यास-धर्म का सारतत्त्व त्याग ही है, जो 'उत्तराध्ययनसूत्र' ग्रन्थ में अपनी विशिष्ट मौलिकता के साथ विवेचित हुआ है।

सन्दर्भ-स्रोत :

1.Uttaradhyayanasutra, H. Jacobi (Trans.) SBE Vol. XLV
2. History of Indian Literature, M. Winternitz, p. 466
3. Uttaradhyayanasutra, J. Charpentier (Ed.), p. 32

४. उत्तराध्ययनसूत्र १२.१५, ५. वही ९.४८, ६. वही ८.१६,
७. वही १३.१६, ८. वही १३.१६, ९. वही ९.५३,
१०. वही ७.२४, ११. वही ८.४, १२. वही १४.४७,
१३. वही ९.१४, १४. वही ८.१७, १५. वही ३२.२,
१६. वही १३.३०, १७. वही २०.३७, १८. वही १.१६,
१९. वही १.१५, २०. वही ९.३४, २१. वही ८.१२,
२२. वही १.१, २३. वही २५.२९, २४. वही २३.३२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महावीर का पंचसूत्री महाव्रत और बृहदारण्यक के तीन 'द'

*डॉ. अवधेश उपाध्याय**

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥

(श्रीमद्भगवद्गीता, ४.१६)

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम्॥

(श्रीमद्भगवद्गीता, ४.२१)

चेच्चा वित्तं च पुत्ते य, णायओ य परिग्गहं।
चेच्चाण अंतगं सोयं निरवेक्खो परिव्वए॥

(सूत्रकृतांग, १.९.७)

विश्व के सभी धर्म मानव-मात्र के कल्याण की आधारशिला पर ही निर्मित होते हैं। सभी धर्मों का मूलतत्त्व एक ही है। कथन-शैली, माध्यम और साधन में विभिन्नताओं के होते हुए भी वास्तव में सभी धर्मों का लक्ष्य एक ही है—चिन्मय शान्ति, परम आनन्दस्वरूप परम तत्त्व की प्राप्ति तथा व्यवहार में सर्वसुखशान्ति।

पारमार्थिक दृष्टि से परम तत्त्व अद्वितीय सत्, चित्, आनन्दस्वरूप है। लेकिन अज्ञानवश व्यावहारिक दृष्टि से उसमें नानात्व की कल्पना कर ली गई है। जब व्यवहार में अतिक्रमण या व्यभिचार होता है, तब अवतारवादियों के यहाँ सत्य, धर्म, ज्ञान, उपदेश की स्थापना के लिए अवतार या पैगम्बर का आगमन होता है।

वैदिक कर्मकाण्ड में इहलोक और इससे बढ़कर परलोक में सुख-प्राप्ति के लिए विभिन्न कर्मकाण्डों का विधान है। जैमिनि ने अपनी 'पूर्वमीमांसा' में इसी विचार का दृढ़ रूप से प्रतिपादन किया है और धार्मिक-यज्ञीय कर्मकाण्डों पर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। बाइबिल, अर्थात् 'Old Testament' में भी सदाचार और तत्त्वज्ञान के बहुत

---

* प्राकृत जैनशास्त्र और अहिंसा शोध-संस्थान, वैशाली (बिहार)।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपकारी वर्णन किये गये हैं। लेकिन जब-जब मनुष्य स्वेच्छाचारी हुआ है, तब-तब अनेक दुःखदायी स्थितियाँ आई हैं और उस दुर्व्यवस्था को समाप्त कर नई व्यवस्था के लिए भगवान् या अवतारी व्यक्तियों के अवतार की आवश्यकता पड़ी है। इसी स्थिति से शतपथब्राह्मण के मनु या प्रजापति, बाइबिल और कुरान के 'नूह' को भी सामना करना पड़ा था, तब फिर मानव-संस्कारों का निर्माण हुआ था।

चौबीसवें तीर्थंकर वर्धमान महावीरस्वामी के पहले तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ काशी में प्रकट हो चुके थे। उन्होंने अपने समय में साधकों के लिए जो नियम बनाये थे, उनका बहुत आदर हुआ था। फिर भी साधकों की अधर्माचरण वृत्ति के कारण महावीरस्वामी को उसका संशोधन कर नियमों को कठोर बनाना पड़ा, जिसका उल्लेख 'उत्तराध्ययनसूत्र' में प्राप्त पार्श्वनाथ-शिष्य के और महावीर-शिष्य गौतम के संवाद में मिलता है। वर्धमान महावीर के पंचसूत्रों पर विचार करने पर उसकी महत्ता पर स्वभावतः हमारा ध्यान आकृष्ट हो जाता है। उनके पंचसूत्र हैं—

१. अहिंसा २. अयाचना ३. सत्य-भाषण

४ आजन्म ब्रह्मचर्य और ५. अपरिग्रह।

इन पाँचों सूत्रों में से कोई भी ऐसा सूत्र नहीं है, जिसका किसी देश या काल के किसी धर्मविशेष से किसी प्रकार का अन्तर हो जाय। हाँ, संसार चलाने के लिए 'ब्रह्मचर्य' का कुछ विशेष अर्थ करना पड़ता है। इसीलिए धर्मप्रचारकों को मुनि और आर्य, तथा उनके उपदेशों को माननेवालों को श्रावक और श्राविका कहा गया है। ये गृहस्थ होते हुए धर्मपालन में संलग्न हुआ करते हैं। सदाचारयुक्त ज्ञानी धर्मोपदेशक आवश्यक हैं, तो उनके उचित आचरण करनेवाले श्रोता गृहस्थ भी आवश्यक हैं।

चाहे पार्श्वनाथ की चतुःसूत्री आचारसंहिता हो, या उसी को आगे बढ़ाकर भगवान् महावीर की पंचसूत्री आचार-संहिता, ये सब व्यवहार को ही लेकर उपदिष्ट हैं। उस समय की परिस्थिति पर ध्यान देते हैं, तो हम पाते हैं कि उस समय मक्खलिगोशाल का आजीवक-सिद्धान्त (स्वातन्त्र्यवाद), पूरणकश्यप का अक्रियावाद, अजितकेशकम्बली का उच्छेदवाद, पकुधकाच्चायन का अशाश्वतवाद, संजयवेलट्ठिपुत्त का विक्षेपवाद—ये कुछ ऐसे वाद आ गये थे, जिनकी टक्कर तत्कालीन धर्मों से थी। जैनधर्म में उपर्युक्त सम्प्रदायों के कारण अनेक व्यावहारिक कठिनाइयाँ आ गई थीं और जैनधर्मानुयायी व्यवहार-सम्बन्धी कठिनाइयों का अनुभव कर रहे थे। जैमिनि के समान वर्धमान महावीर भी एक प्रकार से क्रियावाद के ही समर्थक थे। लेकिन इस क्रियावाद से महत्त्वपूर्ण उनका अनेकान्तवाद था, जिसने उपर्युक्त पाँचों वादों या अन्य अनेक अप्रसिद्ध सिद्धान्तों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के समान इस जैन धर्म को अस्तित्ववान् बनाये रखा। वर्धमान ने अपने आत्मज्ञान एवं मुक्ति-सम्बन्धी विचारों से अपने क्रियावाद को ऊपर उठाया, उसमें जीवनी-शक्ति डाल दी।

यही काम वैदिक वेदान्तियों—शंकराचार्य जैसे विद्वानों ने किया था और यही बात बहुत कुछ बुद्धदेव ने भी की थी। भले ही बुद्धदेव ने आत्मा के विषय में मौन स्वीकार किया था और सर्वज्ञता को असम्भव बताया था; पर बुद्ध की बुद्धत्व-प्राप्ति में दुःखप्रतिगामिनी प्रतिपदा का महत्त्व स्वीकार किया गया है।

यदि परलोक-तत्त्व और पुनर्जन्म को छोड़ दिया जाय, तो भी इस लोक में दुःखरहित आनन्दमय जीवन बिताने के लिए बौद्ध, जैन, वैदिक, वेदान्तिक, इसाई, इस्लाम आदि विभिन्न धर्मों में मानव-जीवन को सुखमय बनाने के प्रायः सभी विचार समान रूप से मिलते हैं। यहाँ बृहदारण्यकोपनिषद् के एक प्रसंग पर ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक हो जाता है, जो ज्ञानकाण्ड का होते हुए भी व्यवहार के लिए विश्वप्रसिद्ध प्रकरण है।

बृहदारण्यकोपनिषद् के पंचम अध्याय के दूसरे ब्राह्मण में एक रोचक उपदेश-कथा आई है। नियमित रूप से ब्रह्मचर्य-उपासना करते हुए देव, मनुष्य और असुर को बारी-बारी से जिस एक ही अक्षर का उपदेश दिया गया, वह है—'द'। इसे हम 'द-द-द' भी कह सकते हैं। लेकिन उक्त तीन प्रकार के पात्रों के लिए इसका तीन प्रकार का अर्थ किया गया है।

वैदिक धर्म में देवों को भोगी बताया गया है। यह भोग ऐसा नहीं होना चाहिए कि उसमें अत्यधिक आसक्ति हो जाय। इसलिए प्रजापति ने उनके लिए 'द' का अर्थ 'दाम्यत' समझाया। इन्द्रियों का दमन करना, संयम—यह योगियों के लिए आवश्यक है। यह दमन-वृत्ति देवों के समान उपभोग-प्रेमी व्यक्तियों में आ जाय, तो किसी भी देश और काल में उनके लिए श्रेयस्कर होगा। यही बात पार्श्वनाथ के चतुःसूत्री या महावीर स्वामी के पंचसूत्री के ब्रह्मचर्य या अनासक्ति; विभिन्न धर्मों के इन्द्रिय-निग्रह, संयम और ब्रह्मचर्य के द्वारा प्रतिपादित है। इससे किसी का विरोध नहीं हो सकता। यह आज भी मानव-जीवन के लिए अतिशय श्रेयस्कर प्रासंगिक पथ है।

प्रजापति ने मनुष्यों के लिए 'द' का अर्थ 'दत्त', अर्थात् 'दान करो' समझाया। सामान्य मनुष्य सुख के साधनों का—सुखात्मक वस्तुओं का भविष्य के लिए संग्रह करना चाहता है, जिससे उसके भीतर कृपणता आती है। यदि मनुष्य कृपण हो जाय, कुछ दान ही न करे, तो स्वयं वह कैसे जी सकेगा? इसीलिए देनेवाले को 'देव' कहा जाता है, जो मनुष्य का एक उच्च आदर्श है। यद्यपि जैन धर्म में 'अपरिग्रह' एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, लेकिन उचित पात्र के लिए दान को बहुत महत्त्वपूर्ण बतलाया गया है। यदि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कोई दिया हुआ दान न ले, तो फिर दान-क्रिया ही समाप्त हो जायेगी। अभिमानरहित श्रद्धा-प्रेम से दिया हुआ दान मानव-जीवन के लिए कल्याणकारी होता है। आज बहुत से उपेक्षित पात्र दान की अपेक्षा रखते हैं। यदि उन्हें सादर दान दिया जाय, तो मानव-जीवन की अनेक विषमताएँ, उलझनें, कठिनाइयाँ, परेशानियाँ दूर हो जायेंगी।

सामान्य मनुष्य के लिए प्रजापति ने 'द' का अर्थ 'दत्त' जो बतलाया है, वह किसी भी धर्म के विपरीत नहीं, अपितु अनुकूल ही है। इसमें महावीरस्वामी का पहला सूत्र 'अहिंसा' का एक अंश आ जाता है। 'अहिंसा' और 'अयाचकत्व' में उचित पात्र को देने की बात कही गई है।

कुछ इसी प्रकार की बात ईशावास्योपनिषद् के प्रथम मन्त्र में भी कही गई है:

ॐ ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किच जगत्यां जगत्।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥

अर्थात्, जगत् में जो कुछ स्थावर-जंगम संसार है, वह सब ईश्वर के द्वारा आच्छादनीय है। उसके त्याग-भाव से तू अपना पालन कर; किसी के धन की इच्छा न कर। इस तरह मानव-समाज की सुन्दर व्यवस्था में उचित पात्र को दान सभी धर्मों का महत्त्वपूर्ण अंश है।

असुरों के लिए कहे गये 'द' अक्षर का अर्थ 'दयध्वम्' अर्थात् 'दया करो' है। हमारे समाज में बहुत से ऐसे लोग हैं, जो इन्द्रियासक्ति के कारण कषाय-चतुष्टय से पीड़ित होकर विषयासक्ति वश कुछ भी करने के लिए तैयार रहते हैं। वे बड़ी से बड़ी हिंसा कर डालते हैं। शक्ति और ऐश्वर्य से मदोन्मत्त व्यक्ति अपने तामसिक अहंकार से किसी को कुछ भी नहीं समझते और व्यर्थ ही सबको पीड़ा देते हुए अपनी शक्ति और ऐश्वर्य का दुरुपयोग करते हैं। फलस्वरूप, अनेक उग्रवादी निर्दय हिंसक-वृत्तियों का उदय होता है। ऐसी वृत्तियों पर नियन्त्रण के लिए 'दयध्वम्' का 'द' महत्त्वपूर्ण है। इसमें महावीर स्वामी की अहिंसा, बुद्ध की अहिंसा, गाँधी की अहिंसा, ईसा, हजरतमुहम्मत, नानक आदि द्वारा प्रतिपादित दया, इन सबकी शिक्षाओं का दर्शन किया जा सकता है। यदि आज के समाज को विशृंखल करनेवाले शक्तिशाली, वैभवशाली व्यक्तियों, समूहों, देशों में यह दया की भावना आ जाय, तो न केवल उनका, बल्कि उनके साथ-साथ विश्व का कल्याण होगा। पार्श्वनाथ की चतुःसूत्री, महावीरस्वामी की पंचसूत्री और बृहदारण्यक-(पंचम अध्याय, दूसरे ब्राह्मण) की तीनसूत्री 'दाम्यत, दत्त, दयध्वम्' या एकाक्षरी 'द' में वर्तमान सन्दर्भ के लिए महत्त्वपूर्ण उपदेश निहित है।

यद्यपि ये सारी बातें व्यावहारिक सुख के लिए हैं, जिसे 'सत्यम्' भी कहा गया है; यह सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् भी है। इसमें आत्मसंयमपूर्वक व्यावहारिक सामंजस्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वारा सुखात्मक जीवन का विधान है, फिर भी महावीरस्वामी ने 'सत्यम्' पर विशेष बल दिया है। अद्वैत वेदान्ती शंकराचार्य ने इसी 'सत्यम्' में तीन अक्षरों का विधान किया है—सत्+ति+यम्=सत्यम्। 'सत्' अमृत है, 'ति' मर्त्य है और 'यम्' दोनों का सम्बन्ध है। अमृत और मृत के सम्बन्ध से ही दुनिया चलती है। फिर भी अद्वैत वेदान्त में सत्य को ब्रह्म कहा गया है—सत्यं ब्रह्म। यहाँतक कि आगे बढ़कर कहा गया है—सत्यं ह्येव ब्रह्म (बृहदारण्यक उपनिषद्, ५. ४. १), अर्थात् सत्य ही ब्रह्म है। महावीरस्वामी की पंचसूत्री में तीसरा सूत्र 'सत्य' से सम्बन्ध रखता है।

यदि वेदान्त की दृष्टि से देखा जाय, तो व्यावहारिक सत्य में सत्य-भाषण का अत्यधिक महत्त्व है। पारमार्थिक सत्य में आत्मा या ब्रह्म आ जाता है, जिसका बोध होने पर व्यक्ति का अज्ञानान्धकार दूर हो जाता है। वह सर्वविद्, सर्वज्ञ हो जाता है। महावीरस्वामी के लिए ऐसे विशेषण दिये गये हैं; क्योंकि वे महान् ज्ञानी थे। इसका महत्त्व उनके अनेकान्तवाद को जाता है, जो महत्त्वपूर्ण तत्त्वज्ञान-विषयक सिद्धान्त है। इसी के विषय में वेदान्त में प्रश्न किया गया है—'केन विज्ञातेन इदं सर्वं विज्ञातं भवति!' फिर उत्तर भी दिया गया है—'येन विज्ञातेन इदं सर्वं विज्ञातं भवति तद् ब्रह्म स आत्मा।' आत्मबोध के बाद व्यक्ति सारे कषायों और मलों से ऊपर उठ जाता है, वह मुक्त हो जाता है। आत्मस्वरूप में विचरण करने लगता है। उसकी गति अप्रतिहत हो जाती है। 'सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म' तथा 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तैत्तिरीय उपनिषद्, ब्रह्मानन्द वल्ली, प्रथम अनुवाक) की घोषणा अद्वैत-वेदान्त भी करता है।

इस प्रकार, वर्धमान महावीरस्वामी की पंचसूत्री में उनके द्वारा कथित अहिंसा, सत्य, अयाचकत्व, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह—ये ऐसे महत्त्वपूर्ण सूत्र हैं, जो शाश्वत हैं और ब्राह्मण, बौद्ध, इसाई, इस्लाम, सिख आदि विभिन्न तथाकथित धर्मों या सम्प्रदायों से अनुमोदित हैं। चाहे वर्धमान महावीर का पंचसूत्री हो या बृहदारण्यकोपनिषद् का एकसूत्री 'द', समग्रता की दृष्टि से ये प्राणी-मात्र के कल्याण का उद्घोष करते प्रतीत होते हैं। उनके उपदेश देश-काल की सीमा से परे सार्वदेशिक-सार्वकालिक सत्य हैं। आज की परिस्थिति में उनके उपदेशों को ग्रहण करने, अमल करने की और भी अधिक आवश्यकता है। वर्तमान सन्दर्भ में उनके उपदेशों से हमारा जीवन आदर्श, संयमपूर्ण, सुखात्मक, अतएव समाज एवं संसार के लिए अनुकरणीय बन सकता है। साथ ही, अनेकान्तवाद या परमतत्त्व के दर्शन से हम सत्य, ज्ञान और चैतन्यानन्द के अनन्त लोक में भी विहार कर सकते हैं।

■

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन दर्शन में आत्मतत्त्व : एक विश्लेषण

*डॉ. शैलेन्द्र कुमार राय**

संसार में नाना प्रकार की वस्तुओं और उनकी अवस्थाओं के दर्शन होते हैं। दृश्यमान जगत् को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—चेतन और अचेतन। पदार्थों की चेतनता का कारण उनमें व्याप्त, किन्तु इन्द्रियों के अगोचर वह तत्त्व है, जिसे जीव या आत्मा कहते हैं। प्राणियों के अचेतन-तत्त्व से निर्मित शरीर के भीतर उससे स्वतन्त्र इस 'आत्मतत्त्व' के अस्तित्व की मान्यता यथार्थतः भारतीय तत्त्वज्ञान की अत्यन्त प्राचीन एवं मौलिक शोध है। यह प्रायः समस्त वैदिक एवं अवैदिक दर्शनों ने स्वीकार किया है।

चार्वाक दर्शन :

चार्वाक दर्शन केवल एकमात्र ऐसा दर्शन है, जिनमें जीव या आत्मा की सत्ता शारीरिक-भौतिक तत्त्वों से पृथक् अन्य सत्ता नहीं मानी गई है। इन दर्शनों के अनुसार पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश जैसे जड़ पदार्थों के संयोग-विशेष से इस मानव-शरीर का निर्माण हुआ है और जो स्वयं एक दूसरे भौतिक तत्त्व के सहयोग से यन्त्रवत् चलता रहता है।[१] इस दर्शन का विश्वास है कि इस मानव या अन्य प्राणियों के शरीर में जड़ तत्त्वों के सिवा अन्य कोई अभौतिक पदार्थ नहीं है, जो प्राणियों की उत्पत्ति के समय इसमें स्थान पाती हो और मरणोपरान्त इसे त्यागकर अन्यत्र चली जाती हो।[२] इस दर्शन के अनुसार जगत् में केवल एकमात्र अजीव तत्त्व ही है, किन्तु भारतवर्ष में यह जड़भाव की परम्परा पनप नहीं सकी।

वैदिक एवं ईश्वरवादी दर्शन :

वैदिक एवं ईश्वरवादी दर्शनों में आत्मा की अमरता को स्वीकार किया गया है। सांख्य और वेदान्तदर्शन, आत्मा को कूटस्थ नित्य मानते हैं तथा वैशेषिक, नैयायिक एवं नव्य-मीमांसक आत्मा को एकान्तनित्य मानते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में आत्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा गया है :

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥[३]

---

* अध्यक्ष, प्राकृत विभाग, एस.बी.एएन. कालेज, दरहेहा– लारी, जहानाबाद (मगध विश्वविद्यालय, बोधगया), बिहार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् यह आत्मा किसी काल में भी न जनमता है और न मरता है। अथवा न यह हो करके फिर होनेवाला है, क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है, शरीर के नाश होने पर भी यह नाश नहीं होता।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥[४]

अर्थात्, जिस प्रकार कोई मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्यागकर दूसरे नये वस्त्रों को ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरों को त्यागकर दूसरे नये शरीरों को प्राप्त होता है।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः॥[५]

अर्थात् आत्मा को शस्त्रादि नहीं काट सकते हैं और इसको आग नहीं जला सकती है, तथा इसको जल नहीं गीला कर सकता है, और वायु नहीं सुखा सकता है।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥[६]

अर्थात् यह आत्मा अच्छेद्य है, अदाह्य, अक्लेद्य और अशोष्य है, तथा यह निःसन्देह नित्य सर्वव्यापक, अचल, स्थिर रहनेवाला और सनातन है।

कठोपनिषद् में कहा गया है—"यदिदं किंच जगत्सर्वम् प्राण एजति निस्सृतम्।" अर्थात् जो कुछ भी इस सम्पूर्ण संसार में है, वह प्राणों के ही कम्पनों की अभिव्यक्ति है। तैत्तिरीय उपनिषद् कहती है—'प्राणा हि भूतानामायुः'। अर्थात्, प्राण ही प्राणियों की आयु है।

अतः वैदिक एवं ईश्वरवादी दर्शन, सृष्टिकर्त्ता के रूप में ईश्वर अथवा परमात्मा की सत्ता को स्वीकारते हुए पुनर्जन्म एवं आत्मा की अविनश्वरता में विश्वास व्यक्त करता है।

बौद्ध दर्शन :

बौद्ध दर्शन आत्मवादी है या अनात्मवादी? इसमें एक ओर जहाँ आत्मवाद या जीव की सत्ता को मिथ्यादृष्टि कहा गया है, जीवन के प्रकाश को नदी की धारा के समान घटना-प्रवाह-रूप बतलाया गया है एवं निर्वाण को दीपक की उस लौ से उपमा दी गई है, जो आकाश, पाताल तथा अन्य दिशा-विदिशा में न जाकर केवल बुझकर समाप्त हो जाता है। दूसरी ओर यह भी स्वीकार किया जाता है कि जीवन में ऐसा भी कोई तत्त्व है, जो जन्मजन्मान्तरों से होता हुआ चला आ रहा है, जो शरीर-रूपी घर का निर्माण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करता है, शरीर-धारण को दुःखमय पाता है और छूटने का उपाय सोचता है और प्रयत्न करता है। चित्त को संस्कार-रहित बनाता है और तृष्णा का क्षय कर निर्वाण प्राप्त करता है। इससे ज्ञात है कि बौद्ध दर्शन ने भी 'आत्मतत्त्व' की सत्ता को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से स्वीकारा है।

जैन दर्शन में आत्मतत्त्व :

जैनदर्शन में आत्मतत्त्व (जीवतत्त्व) पर विशेष रूप से विचार किया गया है। आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में सात तत्त्वों का वर्णन किया है :

जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्। अर्थात् जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं। जैनदर्शन में इन्हीं सात तत्त्वों का निर्देश किया गया है। इसमें पुण्य एवं पाप को मिलाकर नौ पदार्थ कहे जाते हैं।[८] कहने का तात्पर्य है कि तत्त्वार्थ (तात्त्विक अर्थ) सात है। जीव एवं अजीव स्वतन्त्र तथा अनादि-अनन्त तत्त्व है। पर, अन्य पाँच न जीवाजीव की तरह स्वतन्त्र है और न अनन्त एवं अनादि, तो फिर इन्हें तत्त्व की संज्ञा क्यों दी जाती है?

वस्तुतः, यहाँ तत्त्व शब्द का अर्थ अनादि, अनन्त और स्वतन्त्र भाव नहीं है, बल्कि मोक्ष-प्राप्ति में उपयोगी होनेवाला ज्ञेय भाव है। जीवन का चरम उद्देश्य मोक्ष होने से, मोक्ष के जिज्ञासुओं के लिए जिन वस्तुओं का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है, वे ही वस्तुएँ यहाँ तत्त्व रूप में वर्णित हैं। मोक्ष तो मुख्य साध्य ही है। इसलिए उसको तथा उसके कारण को जाने बिना मुमुक्ष की प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती। मुमुक्षु को यह जान लेना जरूरी है कि अगर वह मोक्ष का अधिकारी है, तो उसमें पाया जानेवाला सामान्य स्वरूप किस-किसमें है और किसमें नहीं है, इसी ज्ञान की पूर्ति के लिए सात तत्त्वों का निर्देश है :

(१) जीव—जिसमें चेतना हो, वह जीव है, अर्थात् जो चेतना-गुण से युक्त हो अथवा जो ज्ञान और दर्शन-रूप उपयोग को धारण करनेवाला है, उसको जीव कहते हैं। चेतना के तीन गुण हैं : ज्ञान-चेतना, कर्म-चेतना, कर्मफल-चेतना।

(२) अजीव—अचेतन को अजीव कहते हैं, अर्थात् जिसमें चेतना या ज्ञातृत्व नहीं है, वह अजीव है। अजीव तत्त्व पाँच प्रकार के हैं—धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और काल।

(३) आस्रव—शुभ या अशुभ कर्मों के आगमन को आस्रव कहते हैं।

(४) बन्ध—आत्मा का अज्ञान, राग, द्वेष, पुण्य और ताप के भाव में रुक जाना ही भावबन्ध है।

(५) संवरपुण्य—पाप के विकारी भाव को आत्मा के शुद्ध भाव द्वारा रोकना भावसंवर है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(६) निर्जरा— निर्जरा का अर्थ है झड़ना, अर्थात् बँधे हुए कर्मों के क्षय हो जाने पर आत्मा विशुद्धावस्था (स्वरूपावस्था) को प्राप्त करता है।

(७) मोक्ष—समस्त कर्मों का क्षय होने को मोक्ष कहा गया है।

उपर्युक्त सात तत्त्वों में दो तत्त्व जीव और अजीव द्रव्य हैं तथा शेष पाँच तत्त्व उनकी सयोगी तथा वियोगी हैं। इन तत्त्वों को समझने से जीव मोक्षोपाय में युक्त हो जाता है। जो सच्चे सुख के मार्ग में प्रवेश करना चाहता है, उसे इन तत्त्वों की यथार्थता जानना जरूरी है। अतः जीव-तत्त्व का अर्थ है मोक्ष का अधिकारी, अजीव तत्त्व ऐसा तत्त्व है, जो जड़ होने से मोक्ष का अधिकारी नहीं है। बन्ध तत्त्व से मोक्ष का विरोधी भाव और आस्रव तत्त्व के उस विरोधी भाव का कारण निर्दिष्ट किया गया है। संवर-तत्त्व से मोक्ष का कारण और निर्जरा तत्त्व से मोक्ष का क्रम सूचित किया गया है।

बहुत से ग्रथों में पुण्य और पाप मिलाकर नौ तत्त्व या पदार्थ माने गये हैं। परन्तु 'तत्त्वार्थसूत्र' में पुण्य तथा पाप का आस्रव या बन्ध तत्त्व में समावेश करके सात तत्त्व ही माने गये हैं। पुण्य और पाप दोनों, द्रव्य तथा भाव रूप से दो प्रकार के हैं। शुभ कर्म पुद्गल द्रव्य पुण्य और अशुभ कर्म पुद्गल द्रव्य पाप है। इसलिए द्रव्य रूप पुण्य तथा पाप, बन्ध तत्त्व में अन्तर्भूत है; क्योंकि आत्मा और कर्म-पुद्गल का सम्बन्ध-विशेष ही द्रव्य बन्ध तत्त्व है। द्रव्य पुण्य का कारण शुभ अध्यवसाय जो भाव-पुण्य है, द्रव्य पाप का कारण अशुभ अध्यवसाय जो भाव-पाप है—दोनों ही बन्ध तत्त्व में अन्तर्भूत है; क्योंकि बन्ध का कारणभूत कषायिक परिणाम ही भावबन्ध है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आत्मतत्त्व, अर्थात् जीवतत्व को सर्वप्रथम एवं महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

आत्मा का स्वरूप (भाव) :

कुन्दकुन्दाचार्य ने 'समयसार' के जीवाजीवाधिकार में आत्मा पर विशद प्रकाश डाला है। आत्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुए वह कहते हैं :

अहमिको खलु सुद्धो दंसणणाण मइओ सदारूवी।
णविअत्थि मच्छ किंचि वि अण्णं परमाणुमित्तंपि॥
अरसमरूवमगंधं अव्वन्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अंलिग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठ संठाणं॥[९]

अर्थात्, आत्मा एक, शुद्ध, दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोगवाला, अरूपी है, उसका पर द्रव्यों से बिलकुल भी सम्बन्ध नहीं है। आत्मा सभी अन्य भावों से रहित, चेतना-शक्ति से सम्पन्न है। रस, रूप, गन्ध, स्पर्श, शब्द, लिंग तथा संस्थान-आकार ये सभी पुद्गल के धर्म हैं। इसके विपरीत आत्मा रस, रूप, गन्ध, स्पर्श, शब्द और लिंग से रहित और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किसी भी प्रकार के आकार-विशेष से रहित है। अतः आत्मा पुद्गल द्रव्य से सर्वथा भिन्न है। इन विशेषताओं के अतिरिक्त आत्मा में चेतना-गुण अधिक है। यही चेतना जीव (आत्मा) का स्वरूपाधायक तत्त्व है।

आचार्य उमास्वाति ने आत्मा के स्वरूप (भाव) का वर्णन करते हुए कहा है :

औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्व
मौदयिकपारिणामिकौ च।[१०]

अर्थात् औपशमिक, क्षायिक और मिश्र (क्षायोपशमिक) तथा औदयिक और पारिणामिक कुल पाँच जीव के भाव (स्वरूप) हैं।

आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में जैनदर्शन का अन्य दर्शनों के साथ कैसा मन्तव्य-भेद है, यही बतलाना प्रस्तुत सूत्र का उद्देश्य है। सांख्य और वेदान्त-दर्शन, आत्मा को कूटस्थ नित्य मानते हैं तथा उसमें कोई परिणाम नहीं मानते। वे ज्ञान, सुख-दुःखादि परिणामों को प्रकृति या अविद्या के ही मानते हैं, आत्मा के नहीं। वैशेषिक और नैयायिक, ज्ञान आदि को आत्मा का गुण मानते हैं, फिर भी वे आत्मा को एकान्तनित्य (अपरिणामी) मानते है। नव्य-मीमांसक-मत वैशेषिक और नैयायिक जैसा ही है। बौद्धदर्शन के अनुसार, आत्मा एकान्त क्षणिक, अर्थात् निरन्वय परिणामों का प्रवाह-मात्र मानते हैं। विभिन्न क्षणों में होनेवाला सुख-दुःख ज्ञानादि परिणाम ही सत्य है। उनके बीच अखण्ड स्थिर तत्त्व की सत्ता नहीं है। जैन दर्शन का कथन है कि जैसे प्राकृतिक जड़ पदार्थों में न तो कूटस्थ नित्यता है और न एकान्त क्षणिकता, किन्तु परिणामिनित्यता है, वैसे ही आत्मा के स्वरूप (भाव) है। ये पर्याय भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में लक्षित होते है। अतः आत्मा का स्वरूप पाँच प्रकार का बतलाया गया है :

(१) **औपशमिक भाव**—यह उपशम से उत्पन्न होता है। उपशम एक प्रकार की आत्म-शुद्धि है, जो सत्तागत कर्म का उदय बिलकुल रुक जाने पर होती है; जैसे मल तल में बैठ जाने पर जल स्वच्छ हो जाता है।

(२) **क्षायिक भाव**—क्षय से उत्पन्न होता है। क्षय आत्मा की वह परमविशुद्धि है, जो कर्म का सम्बन्ध बिलकुल छूट जाने पर प्रकट होती है जैसे सर्वथा मल के निकल जाने पर जल नितान्त स्वच्छ हो जाता है।

(३) **क्षायोपशमिक भाव**—यह क्षय और उपशम से उत्पन्न होता है। यह एक प्रकार की आत्मिक शुद्धि है, जो कर्म के एक अंश का उदय सर्वथा रुक जाने पर और दूसरे अंश का प्रदेशोदय द्वारा क्षय होने पर प्रकट होता है। जैसे—कोदो के धोने पर कुछ मादक द्रव्य क्षीण हो जाता है और कुछ रह जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(४) **औदयिक भाव**— यह उदय से पैदा होता है। उदय एक प्रकार का आत्मिक मालिन्य है, जो कर्म के विपाकानुभव से होता है। जैसे—मैल के मिल जाने पर जल मलिन हो जाता है।

(५) **पारिणामिक भाव**— पारिणामिक भाव, द्रव्य या परिणाम है, जो द्रव्य के अस्तित्व से अपने-आप होता है। किसी भी द्रव्य का स्वभाविक स्वरूप परिणमन ही पारिणामिक भाव है।

उपर्युक्त पाँचों भाव ही आत्मा के स्वरूप हैं। ये भाव अजीव में नहीं होते हैं। ये पाँचों भाव जीव में एक साथ भी नहीं होते हैं। संसारी या मुक्त कोई भी आत्मा हो, उसके सभी पर्याय इन पाँच भावों में से किसी न किसी भाववाले ही होगें। मुक्त जीवों में दो भाव होते हैं—क्षायिक और पारिणामिक। संसारी जीवों में कोई तीन भावोंवाला, कोई चार भावोंवाला, कोई पाँच भावोंवाला होता है, पर दो भावोंवाला कोई नहीं होता। अर्थात् मुक्त आत्मा के पर्याय दो भावों तक और संसारी आत्मा के पर्याय तीन से लेकर पाँच भाँवों तक पाये जाते हैं। अतएव पाँच भावों को जीव का स्वरूप जीवराशि की अपेक्षा से या किसी जीव-विशेष में सम्भावना की अपेक्षा से कहा गया है। औदयिक भाववाले पर्याय वैभाविक और शेष चारों भाववाले पर्याय स्वाभाविक हैं। उक्त पाँचों भाव के कुल ५३ भेदों का उल्लेख है।

औपशमिक भाव जीव के स्वरूप हैं, पर वे न तो सभी आत्माओं में पाये जाते हैं और न त्रिकालवर्ती हैं। त्रिकालवर्ती एवं सब आत्माओं में पाया जानेवाला एक ही भाव है—पारिणामिक भाव, जिसका फलित अर्थ उपयोग है। दूसरे सभी भाव कभी होनेवाले कभी नहीं होनेवाले, कतिपय लक्ष्यवर्ती एवं कर्मसापेक्ष होने से जीव के उपलक्षण कहला सकते हैं। साधारण जिज्ञासुओं के लिए एक ऐसा लक्षण उमास्वाति ने अपने तत्त्वार्थसूत्र में बताया है, जिससे आत्मा की सही पहचान हो जाती है।

आत्मतत्त्व (जीवतत्त्व) का लक्षण या गुण :

'उपयोगो लक्षणम्'[११], अर्थात् जीव का लक्षण उपयोग है। आत्मा लक्ष्य है और उपयोग लक्षण। संसार में उपयोग द्वारा चेतन यानी जीव की पहचान होती है। उपयोग क्या है? बोध-रूप व्यापार को उपयोग कहते हैं। बोध का कारण चेतन-शक्ति है। चेतन-शक्ति आत्मा में ही होती है, जड़ में नहीं। आत्मा में अनन्त गुण-पर्याय हैं। उनमें मुख्य उपयोग ही है। जानने की शक्ति समान होने पर भी जानने की क्रिया सब आत्माओं में समान नहीं होती। यहाँ जीव के विभेदक गुण पर प्रकाश डाला गया है। जैसे—मनुष्य का विभेदक गुण विवेक है, उसी प्रकार जीव का विभेदक गुण उपयोग है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपयोग का अर्थ चेतनता है, अतः जीव का विभेदक गुण चेतनता है। सूत्रकार, उपयोग और चेतनता में कुछ अन्तर बताना चाहते हैं। चेतनता को हम देख नहीं सकते हैं। इसके गुण को नहीं देख सकते हैं, लेकिन इसकी अभिव्यक्ति को देखते हैं। चिह्न के आधार पर हम किसी जीव में चेतनता को जानते हैं। चेतनता का चिह्न है विचारना, संचेतना, अर्थात् यही चेतना का चिह्न उपयोग है।

वस्तुतः, चेतना का प्रतीक ही उपयोग है। चेतना का जो क्रियान्वित रूप है, वह उपयोग है, और यही उपयोग जीव का लक्षण है। उपयोग जीव का आत्मभूत लक्षण है, यह जीव को छोड़कर अन्य द्रव्यों में नहीं पाया जाता है। जिसमें उपयोग नहीं पाया जाता है, वह अचेतन (जड़) है। इसलिए यहाँ उपयोग को जीव का लक्षण कहा गया है।

अतः, जीव का जो भाव वस्तु को ग्रहण करने के लिए प्रवृत्त होता है, उसे उपयोग कहते हैं या चेतना की परिणति-विशेष का नाम उपयोग है। चेतना सामान्य गुण है और ज्ञान, दर्शन ये दो इसकी पर्याय या अवस्थाएँ हैं, इन्हीं को उपयोग कहते हैं।

स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः।[१२]

उपयोग दो प्रकार का है, आठ प्रकार का है तथा चार प्रकार का है। कुन्दकुन्दाचार्य ने उपयोग का भेद करते हुए कहा है:

उवओगो खलु दुविहो णाणेण य दंसणेण संजुत्तो।
जीवस्स सव्वकालं अणण्णभूतं वियाणीहि॥[१३]

उपयोग के दो मूल विभाग हैं—ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। ऐसी चेतनक्रिया जो ज्ञान को प्राप्त करा दे, वह ज्ञानोपयोग है तथा ऐसी चेतनक्रिया, जो दर्शन को प्राप्त करा दे, वह दर्शनोपयोग है।

ज्ञानोपयोग के आठ भेद हैं, अर्थात् सूत्रकार जो उपयोग के आठ भेद बताये हैं वह ज्ञानोपयोग का है, दर्शनोपयोग का नहीं। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवलज्ञान, ये यथार्थ पाँच प्रकार के ज्ञान और तीन अयथार्थ—कुमति, कुश्रुत और कुअवधि मिलकर उपयोग के आठ भेद होते हैं। जैसा कि आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है:

आभिणिसुदोधिमणकेवलाणि णाणाणि पंचभयाणि।
कुमदि सुदविभगाणि य तिण्ण वि णाणेहिं संजुत्ते॥[१४]

दर्शनोपयोग के चार भेद हैं। अर्थात् उपयोग के जो चार प्रकार कहे गये हैं, वह दर्शनोपयोग के ही भेद हैं, जो इस प्रकार हैं—(१) चक्षुदर्शन, (२) अचक्षुदर्शन, (३) अवधिदर्शन और (४) केवलदर्शन।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चक्षु-इन्द्रिय से जो दर्शन होता है, वह चक्षुदर्शन है। चक्षु के सिवाय अन्य इन्द्रियों से जो दर्शन होता है, वह अचक्षुदर्शन है। अवधिज्ञान के पहले जो दर्शन होता है, वह अवधिदर्शन है और केवलज्ञान के साथ जो दर्शन होता है, वह केवलदर्शन है। आचार्य कुन्दकुन्द ने दर्शनोपयोग के भेद करते हुए कहा है:

दंसणभवि चक्खुजुदं अचक्खुजुदमवि य ओहिणा सहियं।
अणिधणमणंत विसयं केवलियं चावि पण्णत्तं॥[१५]

आत्मतत्त्व (जीवतत्त्व) के भेद :

आचार्य उमास्वाति ने बताया है कि जीव मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं—संसारी जीव और मुक्त जीव 'संसारिणो मुक्ताश्च'।[१६] जो संसार में भ्रमण करता है, जीवन-मरण के चक्र में है तथा जो कर्म से बँधा है, वह संसारी जीव है। जो जीव कर्मबन्ध से मुक्त है, जीवन-मरण के चक्र रहित है अर्थात् जो संसार में भ्रमण नहीं करता है और न जन्म लेता है, वह मुक्त जीव है।

समनस्क और अमनस्क, संसारी जीव का दो भेद कहा गया है 'समनस्काऽमनस्काः'।[१७] जिसमें उचित-अनुचित भेद करने की शक्ति या क्षमता हो, वह समनस्क है, अर्थात् जिसमें ज्ञान प्राप्त करने की क्षमता हो और उपदेश देने की शक्ति हो अथवा जो मन से युक्त हो वह समनस्क है, वह विवेकी है तथा जो अच्छे-बुरे को समझने में सक्षम नहीं है, जो मन से रहित है, वह अमनस्क कहलाता है।

संसारी जीव दूसरे दृष्टि से दो प्रकार के होते है : '**संसारिणस्त्रसस्थावराः**'[१८] त्रस और स्थावर ये संसारी जीवों के दो भेद हैं।

(१) **त्रस** : जिसमें गति हो, वह त्रस है। यह अनेक इन्द्रियों से युक्त है। यह ऐसा जीव है, जो गति करता है और एक से अधिक इन्द्रियों से युक्त होता है। त्रस जीव का भेद करते हुए सूत्रकार ने कहा है: '**तेजोवायू द्वीन्द्रियादयश्च त्रसाः**'।[१९] अर्थात् तेज, वायु तथा दो से पाँच इन्द्रिय तक।

(२) **स्थावर** : यह जीव स्थायी रहता है। चल-फिर नहीं सकता है। यह एकेन्द्रिय से युक्त होता है। वह एकेन्द्रिय, अर्थात् स्पर्शेन्द्रिय से युक्त होता है। यह जीव गतिहीन होता है। जब कोई जीव एकेन्द्रिय से युक्त होगा, तो वह स्पर्शेन्द्रिय से ही युक्त होगा। यह एक सिद्धान्त भी है। स्थावर जीव का भेद करते हुए सूत्रकार ने कहा है[२०]—'**पृथिव्यम्बुवनस्पतयः स्थावराः**'। अर्थात् स्थावर जीव के पृथ्वीकाय, जलकाय और वनस्पतिकाय, ये तीन भेद हैं। जो पृथ्वी से बना है, वह पृथ्वी स्थावर जीव है। जो जल से बना है, वह जल स्थावर जीव है और इसी प्रकार जो वनस्पति से बना है, वह वनस्पति स्थावर जीव है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पंचेन्द्रिय जीवों के चार वर्ग हैं—देव, नारक, मनुष्य और तिर्यञ्च। पहले दो वर्गों में तो सभी के मन होता है और शेष दो वर्गों में से उन्हीं को होता है, जो गर्भोत्पन्न हों। सारांश यह है कि पंचेन्द्रिय में सब देवों, सब नारकों, गर्भज मनुष्यों तथा गर्भज तिर्यंचों के ही मन होता है।

जीवों के शरीर का प्रकार :

'औदारिक वैक्रियाऽऽहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि'[२१]

अर्थात् शरीर के पाँच प्रकार है—औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण।

(क) औदारिक शरीर : उस शरीर को कहते हैं, जो शरीर जलाया जा सकता है या जिसको छेदा-भेदा जा सकता है। सभी मनुष्यों तथा पशुओं का भौतिक शरीर इसी प्रकार का शरीर है।

(ख) वैक्रियिक शरीर : वह शरीर है, जो अपना रूप बदलता रहता है। कभी छोटा, कभी बड़ा, कभी पतला, कभी मोटा तो कभी बृहद् रूप धारण कर लेता है। कभी एक के रूप में दीखता है, तो कभी अनेक में। इस प्रकार का इच्छानुसार परिवर्त्तन शरीर, नारक तथा देवों को होता है।

(ग) आहारक शरीर : मुनियों के शरीर हैं, जो चौदह पूर्वों को भली भाँति जानते हैं। स्पष्ट है कि इस श्रेणी के शरीर, योगियों या अध्यात्मिक पुरुषों को ही प्राप्त होते हैं।

(घ) तैजस शरीर : सांसारिक जीवों के उन शरीरों का बोध कराते हैं, जो तैजस वर्गणा (पुद्गल की शक्ति) से निर्मित होते हैं, तथा भोजन आदि को पचाने तथा दीप्ति के हेतु होते हैं।

(ङ) कार्मण शरीर : यह कर्मसमूह ही है। संसारी जीवों का कार्मण शरीर कार्मण वर्गणा से निर्मित होता है।

जीव और गति :

जैनदर्शन, पुनर्जन्म में विश्वास करता है। इस सिद्धान्त में विश्वास करनवालों की यह मान्यता है कि कोई भी जीव अपने पूर्व शरीर को छोड़कर जब नया शरीर धारण करता है, तब वह इस क्रम में सदा गतिमान रहता है। गति की ही बदौलत जीव, एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रविष्ट होता है। गति दो प्रकार की बतायी गयी है—एक सरल और दूसरा वक्र। सरल (सीधी) गति में जीव को एक शरीर से दूसरे शरीर में जाने में प्रयत्न नहीं करना पड़ता है। सीधी गति ही जीव की स्वभाविक गति है। एक शरीर को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छोड़कर दूसरे शरीर में जानेवाले जीव के दो भेद माने गये है। एक वह जीव, जो पुनर्जन्म की अवस्था में स्थूल या सूक्ष्म शरीर को सदा के लिए छोड़ देता है। इस जीव को मुक्त जीव भी कहते हैं। दूसरे वह जीव जो पहलेवाले स्थूल शरीर को छोड़कर दूसरे नये स्थूल शरीर में प्रविष्ट करता है, जिसे हम संसारी जीव कहते हैं।

'**अविग्रहा जीवस्य**'[२२] इस सूत्र में मुक्त जीव की बात कही गई है। मुक्त जीव की गति सदा सीधी रेखा में होती है, लेकिन संसारी जीवों के साथ कोई इस तरह का नियम नहीं है। वह अपने कर्म की भिन्नता के अनुसार कभी टेढ़ी तो कभी सीधी गति से चलायमान होती है।

आत्मतत्त्व की विशेषता :

आचार्य कुन्दकुन्द ने आत्मा को एक अस्तिकाय द्रव्य के रूप में स्वीकार किया है। इसके गुणों का विवेचन करते हुए निम्नांकित विशेषताओं का उल्लेख किया है:

जीवोत्ति हवदि चेदा उवओगविसेसिदो पहू कत्ता।
भोत्ता च देहमेत्तो ण हि मुत्तो कम्मसंजुत्तो॥[२३]

(१) **आत्मा का अस्तित्व है** : जो लोग जीव के अस्तित्व में विश्वास करते हैं, उनके मत के निराकरण करने के लिए कहा गया है कि जीव का अस्तित्व है। क्योंकि, जीव, द्रव्य और भावप्राणों के द्वारा जीवित रहता था और जीवित रहेगा। ये प्राण दस प्रकार के होते हैं: मनोबल, वचनबल, कायबल, पाँच इन्द्रियाँ, आयु और उच्छ्वास। ये दशों प्राणमुक्त जीव के भी होते हैं। लेकिन उनके सिर्फ भावप्राण ही होते हैं। इसी कारण वे भी जीव कहे गये हैं।

(२) **आत्मा चेतना-स्वरूप है** : चेतना, आत्मा का एक विशेष गुण है। कोई भी जीव ऐसा नहीं है, जो चेतन-स्वरूप न हो। कर्म के अनुसार यह चेतना तीन प्रकार की होती है—कर्म-चेतना, कर्मफल-चेतना और ज्ञान-चेतना। जो जीव सिर्फ कर्मफलों का अनुभव करता है, ऐसे स्थावर काय को जीवों के कर्म-चेतना होती है। दूसरी राशि में वे जीव आते हैं, जो कर्म के फलों का अनुभव करते हुए इष्ट-अनिष्ट कार्य को भी करते हैं, वेही कर्मफल-चेतना कहलाते हैं। द्वीन्द्रिय से लेकर समस्त संसारी जीवों में यह चेतना विशेष रूप से पाई जाती है। ज्ञान चेतना, मुक्त जीवों में पाये जाते हैं; क्योंकि वे सिर्फ ज्ञान का ही अनुभव करते हैं। चेतना गुण के द्वारा कुन्दकुन्दाचार्य ने बताया है कि आत्मा जड़-स्वरूप नहीं है और न अचेतन है, बल्कि आत्मा का भिन्न गुण है।

(३) **आत्मा उपयोग-युक्त है** : आत्मा उपयोग-स्वरूप कहा गया है। उपयोग, चेतना से इस अर्थ में भिन्न है कि चेतना का वह अनुयायी है। दूसरे शब्दों में उपयोग चेतना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को जानने रूप पर्याय है। उपयोग-स्वरूप आत्मा को कहकर को आचार्य कुन्दकुन्द ने यह बताया है कि ज्ञान से भिन्न जीव नहीं होता। आत्मा और ज्ञान, दोनों अलग-अलग नहीं है, जैसा कि जैन दर्शन का यह नियम है कि द्रव्य और गुण सर्वथा भिन्न नहीं है। यदि आत्मा को ज्ञान से सर्वथा भिन्न माना जाय तो ज्ञान, गुण से रहित होने के कारण अज्ञानी मानना पड़ेगा। इसका मतलब यह होगा कि दोनों अचेतन हो जायेंगे। इसलिए कहा गया है :

दंसणणाणाणि तहा जीवणिबद्धाणि णण्णभूदाणि।
ववदेसदो पुद्यत्तं कुव्वंति हि णो सभावादो॥[२४]

(४) **आत्मा प्रभु है** : आत्मा को जैन दर्शन में प्रभु कहा गया है। प्रभु का अर्थ है कि आत्मा निश्चय नय से आस्रव, सवर, बन्ध और निर्जरा करने में स्वयं समर्थ है। व्यवहारनय से आत्मा, अपने द्रव्यकर्मों का स्वामी है। यह विशेषता प्रकट करता है कि आत्मा अपने सुख-दुःख और शुभ-अशुभ कर्मों को प्राप्त करने के लिए स्वयं उत्तरदायी है। यह कथन ठीक नहीं है कि ईश्वर, आत्मा को सुख-दुःख देता है।

(५) **आत्मा कर्त्ता है** : पंचास्तिकाय में जीव को कर्ता बताया गया है। इस विशेषण के द्वारा उनलोगों के मत का निराकरण हो जाता है, जो आत्मा को कर्ता नहीं मानते हैं। यहाँ आत्मा को कर्ता कहने का तात्पर्य है कि आत्मा व्यवहारनय की अपेक्षा से ज्ञानावरणादि कर्मों और पुद्गल पदार्थों का कर्ता है। लेकिन अशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से आत्मा राग-द्वेष रूप अशुद्ध भावों का कर्ता है, और शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से शुद्ध चेतन भाव का कर्ता है। इस प्रकार, जैन दर्शन में आत्मा को नय की अपेक्षा से कर्ता कहा गया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने पंचास्तिकाय में इसका सूक्ष्म विवेचन लगभग २० (बीस) गाथाओं द्वारा किया है। एक प्रश्न के उत्तर में आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि यद्यपि आत्मा और पुद्गल दोनों अपने-अपने भावों का कर्ता है, तथापि दोनों एक दूसरे के निमित्त से परभाव के कर्ता माने जाते हैं। यहाँ उनके इस कथन को भी लिख देना आवश्यक है कि जब दोनों (जीव और पुद्गल) अपने-अपने भावों के कर्ता निश्चयनय से है, तब जीव कर्म को कैसे भोगता है ? इसका उत्तर यह है कि इस संसार में सूक्ष्म और स्थूल अनेक प्रकार के पुद्गल परमाणु, काजल की डिबिया में रखे हुए काजल की तरह अत्यधिक रूप से भरे हुए हैं। जब आत्मा, राग-द्वेषपूर्वक क्रिया करती है, तब वे पुद्गल परमाणु स्वयं आकृष्ट होकर कर्मरूप हो जाते हैं। इस प्रकार यह निश्चय हुआ कि आत्मा, व्यवहारनय की अपेक्षा से ही पुद्गल कर्मों का कर्त्ता है, निश्चयनय से तो वह अपने भावों का कर्ता है।

(६) **आत्मा भोक्ता है** : आत्मा का यह भी एक विशेषता है कि वह भोक्ता है। इस विशेषण के द्वारा आचार्य कुन्दकुन्द ने उन लोगों के मत का निराकरण किया है, जो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मा को भोक्ता नहीं मानते हैं। आत्मा को भोक्ता कहने का तात्पर्य यह है कि व्यवहारनय से आत्मा कर्मजन्य, सुख-दुःखरूप, इन्द्रियों के विषय को भोगता है, और निश्चय नय से वह अपने चेतन का भोक्ता है, अर्थात् शुद्ध भावों का भोक्ता है।

(७) **आत्मा शरीर-प्रमाण है** : यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण आत्मा का विशेषण है कि आत्मा असंख्यात-प्रदेशी होने पर भी कर्म के अनुसार प्राप्त शरीर के बराबर ही प्रत्येक संसारी जीव की आत्मा होती है। वह नहीं तो उससे छोटी होती है और नहीं उससे बड़ी। एक उदाहरण द्वारा इस बात को स्पष्ट किया गया है; जैसे किसी दूध के बरतन में नीलमणि को डालने पर उसकी प्रभा से उस बरतन का सम्पूर्ण दूध नीला हो जाता है, उसी प्रकार कर्मजन्य शरीर में आत्मा भी प्राप्त हो जाता है। लेकिन मुक्त जीव जिस शरीर से युक्त हुआ है, उससे उसका आकार कुछ कम होता है।

(८) **आत्मा अमूर्तिक है** : आत्मा अमूर्तिक है; क्योंकि आत्मा में निश्चय नय की दृष्टि से रूप-रस, वर्ण, गन्ध नहीं पाये जाते हैं। जिनमें ये गुण नहीं पाये जाते हैं, वे अमूर्तिक होते हैं और जिनमें ये गुण पाये जाते है, वे मूर्तिक होते हैं। व्यवहारनय की दृष्टि से आत्मा अमूर्तिक होते हुए भी मूर्तिक है; क्योंकि उसका सम्बन्ध मूर्तिक कर्मों के साथ रहता है। इसलिए यहाँ शुद्ध स्वरूप की अपेक्षा से उसे अमूर्तिक बतलाया गया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है :

जीवो सयं अमुत्तो मुत्तिगदो तेण मुत्तिणा मुत्तं।
ओगेण्हिता जोग्गं जारादि वा ता जाणादि॥[१५]

(९) **आत्मा कर्म से युक्त है** : संसारी आत्मा अनादिकाल से कर्ममल-कलंक से युक्त है। द्रव्य और भावकर्मों के कारण यह सदैव नये-नये कर्मों को बन्द करता रहता है। वास्तव में आत्मा कर्म से युक्त नहीं है; क्योंकि कर्म परपदार्थ है और परपदार्थ का एक दूसरे के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता। इसलिए व्यवहारनय की अपेक्षा से आत्मा को कर्म से युक्त कहा गया है। जब यह आत्मा अपने कर्मबन्धनों का विनाश कर देती है, तब वह अपने स्वभाविक स्वरूप को प्राप्त कर लेती है। इस अवस्था को ही मुक्त अवस्था कहा गया है। आत्मा मुक्त होकर स्वभाव से ऊर्ध्व-गमन करती है और लोकाकाश के अन्तिम भाग में जाकर ठहर जाती है। इसी अन्तिम भाग को सिद्धशिला के नाम से जाना जाता है। इस मुक्त आत्मा का पुनः जन्म-मरण नहीं होता है, इसलिए इसे कृत-कृत्य कहा गया है।

(१०) **आत्मा ज्ञान प्रमाण है** : आचार्य कुन्दकुन्द ने 'प्रवचनसार' के ज्ञानाधिकार में विशेष रूप से विचार किया है। जैसे :

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदा णाणपमाणं णाणं णेयप्पमाण मुद्दिट्ठं ।

सोयं लोयालोयं तम्हा णारां तु सव्व गयं ॥[२६]

अर्थात्, आत्मा ज्ञान-प्रमाण है तथा ज्ञान ज्ञेय-प्रमाण कहा गया है । ज्ञेय लोक और अलोक है । इस कारण से ज्ञान भी सर्वगत है । इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए वह आगे कहते हैं :

णाणं अप्प त्ति मदं वट्टदि णआणं विणा ण अप्पाणं ।

तम्हा-णाणं अप्पा-अप्पा णाणं वा अण्णं वा ॥[२७]

अर्थात् ज्ञान आत्मा है, ऐसा माना गया है, चूँकि ज्ञान आत्मा के बिना नहीं रहता है, इसलिए ज्ञान आत्मा है और आत्मा के सिवाय अन्य गुणों का भी आश्रय है । अतः ज्ञान रूप भी है और अन्य रूप भी है ।

निष्कर्षतः, हम कह सकते हैं कि 'आत्मतत्त्व' पर भारतीय दर्शन में गहन विचार-विमर्श हुआ है । भारतीय दर्शनों में 'आत्मतत्त्व' की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार किया गया है । आत्मा एवं जीव का समानार्थक विवेचन हुआ है । आत्मा की अलौकिक सत्ता के सम्बन्ध में गोस्वामी तुलसीदासजी ने श्रीरामचरितमानस में कहा है :

ईश्वर अंस जीव अविनासी । चेतन अमल सहज सुख रासी ॥

(उत्तरकाण्ड, दोहा नं.११६, चौ. नं.२) ॥

आदि शंकराचार्य ने कहा है—कि जो कुछ करोड़ों ग्रन्थों में कहा गया है, उसे मैं आधे श्लोक में कहता हूँ :

'ब्रह्म सत्यं, जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः ।'

अर्थात्,

ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है । जीव भी ब्रह्म ही है, दूसरा नहीं ।

परन्तु, जैनदर्शन में जितना 'आत्मतत्त्व' पर विशद वर्णन मिलता है, उतना अन्य किसी दर्शन में नहीं । आत्मतत्त्व, जैनदर्शन में सर्वप्रथम एवं प्रमुख तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित है तथा अन्य तत्त्वों का विवेचन भी इसी की महत्ता के कारण विशेष रूप से प्रतीत होता है । आत्मतत्त्व के बिना अन्य तत्त्वों का कोई अस्तित्व नहीं दीख पड़ता है । यही कारण है कि प्रायः समस्त वैदिक एवं अवैदिक दर्शनों ने 'आत्मतत्त्व' की सत्ता को स्वीकार किया है और मोक्षप्राप्ति का ही लक्ष्य माना है । मोक्ष को निर्वाण एवं कैवल्य की संज्ञा दी गई है । मोक्ष वह स्थिति है, जिसमें आत्मा अपनी विशुद्धावस्था को प्राप्त कर जन्म और मृत्यु के चक्र से छूट जाती है और उसका पुनर्जन्म नहीं होता है । पुनर्जन्म

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का अन्त मोक्षप्राप्त करने पर ही होता है। मोक्षप्राप्ति के पहले तक संसारी आत्मा, कर्मफलानुसार विभिन्न पर्यायों में जन्म लेती है। अतः पुनर्जन्म आत्मा की संसारी अवस्था का प्रतीक है और मोक्ष उसकी मुक्तावस्था का। वस्तुतः, भारतीय दर्शन में 'आत्मतत्त्व' की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करना ही समीचीन है। यह मान्यता समस्त भारतीय संस्कृति में प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से प्रतिष्ठित है।

सन्दर्भ- स्रोत :

१. सूत्रकृतांग सूत्र, प्रथम अध्याय के प्रथम उद्देशक, गाथा-संख्या ७

२. वही, गाथा सं. ८

३. श्रीमद्भगवद्गीता, द्वि. अ., २०

४. श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय २, का श्लोक २२

५. वही, श्लोक २३

६. वही, श्लोक २४

७. तत्त्वार्थसूत्र : (उमास्वाति), सूत्र-संख्या १. ४, विवेचक : सुखलाल संघवी।

८. पंचास्तिकाय : आचार्य कुन्दकुन्द, गाथा-सं. १०८, प्रथम श्रुतस्कन्ध।

९. समयसार : जीवाजीवाधिकार, गाथा-सं.३८ और ४८

१०. तत्त्वार्थ सूत्र, द्वितीय अध्याय का प्रथम सूत्र

११. तत्त्वार्थसूत्र, सूत्रसंख्या २. ८

१२. तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय २. ९

१३. पंचास्तिकाय, प्रथम श्रुतस्कन्ध, गाथा-संख्या ४०

१४. पंचास्तिकाय, प्रथम श्रुतस्कन्ध, गाथा-संख्या ४१

१५. वही, गाथा-सं. ४२

१६. तत्त्वार्थसूत्र, २.१०

१७. तत्वार्थसूत्र, २.११

१८. वही, २.१२

१९. वही, २.१४

२०. वही, २.१३

२१. वही, २.३७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२२. तत्त्वार्थसूत्र, २. २७
२३. पंचास्तिकाय, प्रथमश्रुतस्कन्ध, गाथा-संख्या २७
२४. पंचास्तिकाय, प्रथमश्रुतस्कन्ध, गाथा-संख्या ५२
२५. प्रवचनसार, ज्ञानाधिकार, गाथा-संख्या ५५
२६. वही, गाथा-संख्या २३
२७. प्रवचनसार, ज्ञानाधिकार, गाथा-संख्या २७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org